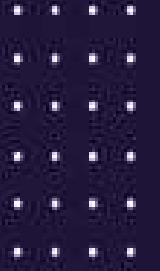


पीअर रिव्यूड एंड रेफेरीड जर्नल  
Impact Factor (IIFS): 8

ISSN 2231-1351

**PADCHINHA**



# पद्मचिन्ह

मई 2025 वर्ष (Vol.)- 14 अंक (Issue) - 5

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

[www.muditeducation.com/Padchinha](http://www.muditeducation.com/Padchinha)

R.N.I. UPHIN/2011/37086

ISSN 2231-1351

*Impact Factor (IIFS): 8*

यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित

*UGC Approved Journal No. 49359 (old)*

*A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal*

# पदचिन्ह PADCHINHA

मई (May) 2025 वर्ष (Vol.): 14 अंक (Issue): 5

## संपादक

डॉ. अजय परमार

B-30/239 नगवां, लंका, वाराणसी-221005

[padchinhahindi@gmail.com](mailto:padchinhahindi@gmail.com)

## सह-संपादक

डॉ. पंकज कुमार सिंह

निदेशक, मुदित शिक्षा संस्था, त्रिमूर्ति नगर

वर्धा (महाराष्ट्र). पिन कोड - 442001

Mob. 9823696685 [padchinha@muditeducation.com](mailto:padchinha@muditeducation.com)

© पदचिन्ह में व्यक्त विचार और सर्वाधिकार लेखकों के अपने हैं। प्रकाशित विचारों से संपादक व संपादक-मंडल की सहमति अनिवार्य नहीं है। उक्त सभी पद अवैतनिक हैं। किसी भी वाद-विवाद का न्याय क्षेत्र वाराणसी होगा।

[www.muditeducation.com/Padchinha](http://www.muditeducation.com/Padchinha)

**संपादक-मंडल/ रेफेरीड बोर्ड**

**प्रो. प्रेमनारायण सिंह**

निदेशक

अंतर विश्वविद्यालय अध्यापक शिक्षा केंद्र  
बी. एच. यू. वाराणसी (उ. प्र.) पिन - 221005

**प्रो. नृपेन्द्र प्रसाद मोदी**

पूर्व अधिष्ठाता, संस्कृति विद्यापीठ  
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय  
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन - 442001

**डॉ. मनोज कुमार राय**

एसोसिएट प्रोफेसर, गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग  
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय  
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन - 442001

**डॉ. गोविन्द प्रसाद वर्मा**

सहायक प्रोफेसर, मानविकी और भाषा संकाय  
महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी  
(बिहार) पिन - 845401

**डॉ. उमेश कुमार सिंह**

वर्धा समाज कार्य संस्थान  
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय  
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन - 442001

**डॉ. रणजीत कुमार**

सहायक प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग  
मौलाना मजहूरूल हक अरबी व फारसी विश्वविद्यालय  
पटना (बिहार) पिन - 800001

**डॉ. प्रदीप त्रिपाठी**

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग  
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक  
(सिक्किम) पिन - 737102

**प्रो. अमरेन्द्र त्रिपाठी**

प्रोफेसर, हिंदी विभाग  
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज  
(उत्तर प्रदेश) पिन - 211002

**डॉ. परिमल प्रियदर्शी**

अनुसंधान अधिकारी, शोध सहायता प्रकोष्ठ  
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय  
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन - 442001

**डॉ. धीरेन्द्र कुमार राय**

सहायक प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंप्रेषण विभाग  
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ. प्र.) - 221005

**डॉ. आशीष कुमार**

संपादक, सृजन समय  
बहुदेशीय सामाजिक संस्था, वर्धा - 442001

**डॉ. श्रीकांत जायसवाल**

प्राध्यापक, समाजशास्त्र विभाग  
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय  
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन - 442001

**सलाहकार समिति**

**डॉ. राजीव रंजन गिरि**

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, कला संकाय  
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली - 110007

**डॉ. निशीथ राय**

सहायक प्रोफेसर, मानवविज्ञान विभाग  
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय  
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन - 442001

**डॉ. उमेश तिवारी**

सहायक प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और  
पुरातत्व विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय  
भागलपुर (बिहार) पिन - 812007

पदचिन्ह के लिए प्रकाशक मुदित शिक्षा संस्था, त्रिमूर्ति नगर, वर्धा द्वारा प्रकाशित और सूर्या  
आफसेट, 30, विवेकानंद कालोनी, मलदहिया, वाराणसी में मुद्रित। संपादक : अजय परमार

पदचिन्ह मई 2025 वर्ष : 14 अंक : 5 ii बहुविषयक पीअर रिव्यूड एंड रेफेरीड जर्नल

## पदचिन्ह PADCHINHA

मई (May) 2025 वर्ष (Vol.): 14 अंक (Issue): 5

### अनुक्रम

संपादकीय	पृष्ठ
1. ब्रिटिश प्रशासन पर उत्तर प्रदेश के स्वतंत्रता सेनानियों के विद्रोह का प्रभाव : 1857 का विश्लेषण _रचित कुमार _डॉ. ब्रजनंदन चौधरी	01-08
2. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के परिप्रेक्ष्य में डिजिटल नवाचार विकसित भारत @2047 _Dr. Narendrakumar Pal _Anuj Kumar	09-15
3. भारतीय साहित्य, संस्कृति और संगीत : एक अंतर संबंधित परिप्रेक्ष्य _प्रो. निशा कुमारी	16-21
4. समाज, संस्कृति तथा परम्परा में काशी का अवदान : 19वीं शताब्दी के सन्दर्भ में _डॉ. विनोद कुमार	22-30
5. भीष्म साहनी के उपन्यासों में यथार्थवाद, मानवीयता और सामाजिक चेतना : एक आलोचनात्मक अध्ययन _नीरज कुमार	31-34
6. दलित महिलाओं की सामाजिक स्थिति और जनसंचार _नन्द लाल पासवान	35-39
7. अज्ञेय के उपन्यासों का समकालीन यथार्थ _गुड़िया कुमारी	40-43
8. झारखंड का आदिवासी कथा साहित्य : एक विश्लेषण _एलिजाबेथ मरांडी	44-47
9. मुगलकालीन शिक्षा पद्धति : एक अध्ययन _डॉ. प्रियंका भारती	48-54
10. मुगलकालीन भारत में वस्त्र निर्माण की प्रक्रियाएं : एक अध्ययन _डॉ. अंकिता सिंह	55-59
11. संघर्ष, संवैधानिक चेतना और स्त्री अस्मिता _मीना कुमारी रजक	60-63
12. मानव मस्तिष्क एवं कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) : चुनौतियां एवं समीक्षा _डॉ. विजय नारायण तिवारी	64-71
13. नागार्जुन के प्रतिनिधि उपन्यासों की पात्र योजना _फरहत नवी	72-77
14. शौर्य और संचार का जीवंत दस्तावेज बुंदेली लोक गाथाएं _गौरव चौहान	78-83
15. अरुंधति रॉय के उपन्यासों में अस्मिता विमर्श _साक्षी कुमारी	84-88

## पदचिन्ह PADCHINHA

मई (May) 2025 वर्ष (Vol.): 14 अंक (Issue): 5

### अनुक्रम

	पृष्ठ
16. परिवार : शिक्षा का सक्रिय व अनौपचारिक साधन _डॉ. रवेन्द्र राजपूत	89-94
17. हिंदी रंगमंच को शंकरशेखर का योगदान _डॉ. शामली एम एम	95-99
18. जनजातीय समाज के शैक्षिक विकास में सामाजिक समर्थन की भूमिका एवं चुनौतियां : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन <b>Rukmini Singh _Anup Kumar Singh _Dr. Ratnartuh Mishra</b>	100-107
19. Possibilities of Co-Existence: Gender Justice and Religious Family Laws _ <b>Dr. Jyoti Bharti</b>	108-120
20. स्वामी सहजानन्द सरस्वती का व्यक्तित्व और भारतीय राजनीति में उसका प्रभाव : एक विश्लेषण _ <b>सत्यनारायण सिंह</b>	121-136
21. From Mobilization to Micro-Targeting: A Decade of Social Media Transformation in Indian Political Campaigns (2014-24) _ <b>Akshat Sharma _Dr. Amita</b>	137-153
22. Between Vulnerability and Resilience: Photojournalism in Transition in Uttar Pradesh, India _ <b>Nitin Bhardwaj _Dr Bala Lakhendra</b>	154-166
23. Skipping of Breakfast and its consequences to school going children:0 An Observational and Descriptive Study _ <b>Deepa Sharma</b>	167-175
24. समकालीन राजनीतिक परिदृश्य में सुशील कुमार सिंह के नाटकों का आविर्भाव _ <b>मुकेश कुमार</b>	176-179
25. वैदिक काल की विदुषी स्त्रियाँ _ <b>डॉ. निमिषा त्रिपाठी</b>	180-186
NOTES FOR AUTHORS	187-188
Impact factor Certificate	189-190

## संपादकीय

पदचिन्ह : मई 2025, वर्ष 14, अंक 5

आदरणीय पाठकवृन्द,

हमें यह बताते हुए प्रसन्नता है कि पदचिन्ह का वर्तमान अंक विविध विषयों पर आधारित अनुसंधान-प्रबंधों और लेखों से समृद्ध है। इस अंक में इतिहास, साहित्य, संस्कृति, समाजशास्त्र, राजनीति, शिक्षा तथा विज्ञान-प्रौद्योगिकी जैसे बहुआयामी क्षेत्रों पर शोध प्रस्तुत किए गए हैं, जो न केवल अकादमिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, बल्कि समकालीन चिंतन को भी समृद्ध करते हैं।

1857 के विद्रोह पर ब्रिटिश प्रशासन की प्रतिक्रिया का गहन विश्लेषण (रचित कुमार एवं डॉ. ब्रजनंदन चौधरी) भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के प्रारम्भिक स्वरूप को समझने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान है। इसी प्रकार राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 और डिजिटल नवाचार पर केन्द्रित शोध (डॉ. नरेन्द्रकुमार पाल एवं अनुज कुमार) शिक्षा व्यवस्था में हो रहे परिवर्तनशील परिदृश्य और विकसित भारत @2047 की परिकल्पना को सामने रखता है।

साहित्य एवं संस्कृति पर केन्द्रित आलेख—प्रो. निशा कुमारी द्वारा भारतीय साहित्य, संस्कृति और संगीत, डॉ. विनोद कुमार का काशी का सांस्कृतिक अवदान, तथा नीरज कुमार, गुड़िया कुमारी, फरहत नवी और साक्षी कुमारी के अध्ययन—भारतीय साहित्यिक परंपरा के विविध आयामों, यथार्थवाद, अस्मिता विमर्श और सामाजिक चेतना को गहराई से उद्घाटित करते हैं।

सामाजिक संदर्भों में प्रस्तुत नन्द लाल पासवान, मीना कुमारी रजक तथा रुकमिनी सिंह आदि के शोध आलेख दलित विमर्श, स्त्री अस्मिता और जनजातीय समाज की चुनौतियों को केंद्र में रखते हुए समाजशास्त्रीय विमर्श की व्यापकता को प्रतिपादित करते हैं। वहीं, डॉ. विजय नारायण तिवारी का कृत्रिम बुद्धिमत्ता एवं मानव मस्तिष्क पर आलेख भविष्य की वैज्ञानिक चुनौतियों पर चिंतन के नए आयाम प्रस्तुत करता है।

इतिहास-परक अध्ययन जैसे *मुगलकालीन शिक्षा पद्धति* (डॉ. प्रियंका भारती), *वस्त्र निर्माण की प्रक्रियाएँ* (डॉ. अंकिता सिंह), तथा *बुंदेली लोक गाथाएँ* (गौरव चौहान) भारतीय इतिहास और सांस्कृतिक धरोहर को पुनः स्मरण कराने में सहायक हैं।

समकालीन राजनीति और संचार पर आधारित आलेख—*सोशल मीडिया अभियान का परिवर्तन* (अक्षत शर्मा एवं डॉ. अमिता), *फोटो पत्रकारिता का संक्रमण* (नितिन भारद्वाज एवं डॉ. बाला लखेन्द्र), तथा *सुशील कुमार सिंह के नाटकों का आविर्भाव* (मुकेश कुमार)—लोकतांत्रिक विमर्श एवं मीडिया के बदलते स्वरूप को समझने की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी हैं।

इसके अतिरिक्त, स्वामी सहजानन्द सरस्वती (सत्यनारायण सिंह), वैदिक काल की विदुषी स्त्रियाँ (डॉ. निमिषा त्रिपाठी), हिंदी रंगमंच में शंकरशेष का योगदान (डॉ. शामली एम.एम.), तथा शिक्षा में परिवार की भूमिका (डॉ. रवेन्द्र राजपूत) जैसे आलेख इस अंक को और अधिक विविधतापूर्ण बनाते हैं।

हमें विश्वास है कि यह अंक शोधार्थियों, अध्येताओं तथा सामान्य पाठकों के लिए ज्ञानवर्धक एवं प्रेरणादायी सिद्ध होगा। आपके सुझाव एवं प्रतिक्रिया पदचिन्ह की अकादमिक प्रगति में मार्गदर्शक रहेंगे।

संपादक (पदचिन्ह)

# ब्रिटिश प्रशासन पर उत्तर प्रदेश के स्वतंत्रता सेनानियों के विद्रोह का प्रभाव: 1857 का विश्लेषण

रचित कुमार\*

rachitganwr@gmail.com

डॉ. ब्रजनंदन चौधरी†

Research Guide

## शोध सारांश

1857 का विद्रोह केवल सैनिक असंतोष नहीं, बल्कि सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक असंतोष का संगठित विस्फोट था। उत्तर प्रदेश इस जनक्रांति का प्रमुख केंद्र रहा, जहाँ मेरठ, कानपुर, लखनऊ, झाँसी, ललितपुर जैसे क्षेत्रों के स्वतंत्रता सेनानियों ने निर्णायक भूमिका निभाई। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, बेगम हज़रत महल, तात्या टोपे आदि के नेतृत्व में यह विद्रोह ब्रिटिश शासन की जड़ों को हिला गया। विद्रोह के परिणामस्वरूप ब्रिटिश प्रशासन को ईस्ट इंडिया कंपनी समाप्त कर भारत को क्राउन के अधीन करना पड़ा। गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट 1858 पारित हुआ, सैन्य ढांचे में भारतीयों की भागीदारी सीमित की गई तथा धार्मिक-सांस्कृतिक नीतियों में सतर्कता लाई गई। उत्तर प्रदेश में हुए संगठित प्रतिरोध ने ब्रिटिशों को शासन की रणनीतियाँ पुनर्विचारने के लिए विवश कर दिया। यह विद्रोह स्वतंत्रता संग्राम की आधारशिला सिद्ध हुआ, जिसने राष्ट्रीय चेतना की शुरुआत की और औपनिवेशिक प्रशासन की सीमाओं को उजागर किया।

## शब्द कुंजी

1857 का विद्रोह, झाँसी की रानी, ब्रिटिश प्रशासन, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट 1858, ईस्ट इंडिया कंपनी, धार्मिक हस्तक्षेप, जन भागीदारी।

## प्रस्तावना

1857 का विद्रोह भारतीय इतिहास का एक ऐसा युगांतकारी अध्याय है, जिसने ब्रिटिश साम्राज्य की नींव को झकझोर कर रख दिया। इसे भारत की पहली स्वतंत्रता संग्राम, सिपाही विद्रोह या 'जन विद्रोह' जैसे विभिन्न नामों से जाना जाता है। यह विद्रोह केवल एक सैन्य विद्रोह नहीं था, बल्कि सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक असंतोष का विस्फोट था, जिसकी चिंगारी उत्तर प्रदेश के क्षेत्रों- मेरठ, कानपुर, झाँसी, लखनऊ, बरेली, और ललितपुर जैसे स्थानों में प्रज्वलित हुई। इन क्षेत्रों के स्वतंत्रता सेनानियों की भूमिका ने न केवल विद्रोह को दिशा दी, बल्कि ब्रिटिश प्रशासन की कार्यप्रणाली और मानसिकता को भी गहराई से प्रभावित किया।

\* शोधार्थी, इतिहास विभाग, राधा गोविंद विश्वविद्यालय, रामगढ़, झारखंड

† इतिहास विभाग, राधा गोविंद विश्वविद्यालय, रामगढ़, झारखंड

उत्तर प्रदेश, जो उस समय 'नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविंसेज' और अवध के रूप में जाना जाता था, विद्रोह का मुख्य केंद्र था। यहीं से विद्रोह की शुरुआत हुई और सबसे अधिक तीव्रता भी इसी क्षेत्र में देखने को मिली। सैनिकों के साथ-साथ आम जनता, ज़मींदार, किसान, मुस्लिम और हिंदू धार्मिक नेता, और रियासतों की रानियाँ जैसे झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने इस संघर्ष में भाग लिया। यह विद्रोह इसलिए भी महत्वपूर्ण था क्योंकि इसने पहली बार व्यापक पैमाने पर ब्रिटिश शासन के प्रति असंतोष को संगठित रूप में प्रकट किया।

इस विद्रोह के पीछे अनेक कारण थे- जैसे कंपनी की आर्थिक नीतियाँ, धार्मिक हस्तक्षेप, सामाजिक सुधारों का जबरन थोपना, भारतीय सैनिकों के साथ भेदभाव, और देसी रियासतों के साथ अन्यायपूर्ण व्यावहारिक नीतियाँ। उत्तर प्रदेश के स्वतंत्रता सेनानियों ने न केवल ब्रिटिश सैन्य व्यवस्था को चुनौती दी, बल्कि प्रशासनिक ढाँचे को भी अस्थिर कर दिया। लखनऊ में बेगम हज़रत महल ने ब्रिटिश सत्ता को सीधी चुनौती दी, वहीं झाँसी में रानी लक्ष्मीबाई की वीरता ब्रिटिश जनरलों के लिए एक गंभीर संकट बन गई।

इस विद्रोह के परिणामस्वरूप ब्रिटिश शासन को कई बड़े निर्णय लेने पड़े। ईस्ट इंडिया कंपनी को समाप्त कर भारत को सीधे ब्रिटिश क्राउन के अधीन किया गया, और 'गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट 1858' लागू हुआ। प्रशासनिक ढाँचे में परिवर्तन, सैनिकों में भारतीयों की संख्या को सीमित करना, रियासतों की नीति में बदलाव, और धार्मिक-सांस्कृतिक संवेदनशीलता की रणनीति अपनाना, यह सब परिणामस्वरूप सामने आया।

इस शोध पत्र में हम विश्लेषण करेंगे कि उत्तर प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में हुए विद्रोहों ने किस प्रकार ब्रिटिश प्रशासन को प्रभावित किया, और कैसे इस विद्रोह ने औपनिवेशिक नीति, सैन्य रणनीति और प्रशासनिक दृष्टिकोण में बदलाव लाने के लिए ब्रिटिश शासकों को विवश किया। यह अध्ययन न केवल ऐतिहासिक घटनाओं को पुनर्स्थापित करेगा, बल्कि स्वतंत्रता संग्राम के उस प्रारंभिक दौर की गूढ़ गाथा को भी उजागर करेगा, जो आज भी हमारी राष्ट्रीय चेतना का हिस्सा है।

## साहित्य समीक्षा

1. R.C. Majumdar – "The Sepoy Mutiny and the Revolt of 1857" आर.सी. मजूमदार ने इस विद्रोह को 'सिपाही विद्रोह' की संज्ञा दी और इसे एक राष्ट्रव्यापी स्वतंत्रता संग्राम मानने से इनकार किया। उन्होंने इसे मुख्यतः सैनिक असंतोष और राजनीतिक कारणों से प्रेरित बताया। यद्यपि उनकी राय विवादास्पद रही, परंतु उन्होंने उत्तर प्रदेश के मेरठ, कानपुर और लखनऊ जैसे केंद्रों की घटनाओं का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया, जिससे यह समझने में सहायता मिलती है कि किस प्रकार सैनिक असंतोष ने प्रशासन को प्रभावित किया।

2. S.N. Sen – "Eighteen Fifty-Seven" एस.एन. सेन का यह कार्य भारत सरकार द्वारा प्रायोजित था और उन्होंने 1857 के विद्रोह को एक समग्र जनक्रांति के रूप में स्वीकार किया। वे स्पष्ट करते हैं कि उत्तर प्रदेश के नगरों में जनता, सैनिकों और रियासतों की भागीदारी ने विद्रोह को व्यापक स्वरूप प्रदान किया। उनकी व्याख्या यह बताती है कि किस प्रकार यह जनआंदोलन ब्रिटिश शासन की आधारभूत नीतियों पर प्रश्नचिह्न बन गया।

3. Tapti Roy – "The Politics of a Popular Uprising: Bundelkhand in 1857" तप्ती रॉय का यह शोध विशेष रूप से बुंदेलखंड (जिसमें ललितपुर भी आता है) की भूमिका पर केंद्रित है। उन्होंने बताया कि स्थानीय रजवाड़ों, किसानों और जनसामान्य के विद्रोह ने कैसे ब्रिटिश प्रशासनिक तंत्र को बाधित किया।

उनका विश्लेषण दर्शाता है कि विद्रोह सिर्फ सैन्य नहीं, बल्कि गहरी सामाजिक और राजनीतिक असंतुष्टि का परिणाम था।

4. Rudrangshu Mukherjee – "Awadh in Revolt, 1857-58: A Study of Popular Resistance" रुद्रांशु मुखर्जी ने अवध क्षेत्र की बागी गतिविधियों पर विशेष रूप से ध्यान केंद्रित किया है। उनका अध्ययन दर्शाता है कि अवध के लोगों ने ब्रिटिश भूमि-सुधार नीतियों और नवाबी शासन के उन्मूलन के खिलाफ व्यापक प्रतिरोध किया। इस पुस्तक से यह समझने में मदद मिलती है कि प्रशासनिक फैसलों के विरुद्ध स्थानीय असंतोष कैसे संगठित विद्रोह में परिवर्तित हुआ।

5. Biswamoy Pati (Ed.) – "The 1857 Rebellion" यह एक संपादित संग्रह है, जिसमें विभिन्न इतिहासकारों ने 1857 के विद्रोह के क्षेत्रीय और वर्गीय स्वरूपों पर लेख प्रस्तुत किए हैं। उत्तर प्रदेश के विभिन्न हिस्सों में दलितों, किसानों, रजवाड़ों और स्त्रियों की भागीदारी पर विचार करते हुए यह पुस्तक इस आंदोलन की विविधता और बहुआयामी प्रभाव को रेखांकित करती है। यह साहित्यिक स्रोत प्रशासनिक प्रतिक्रिया और दमन की प्रकृति को भी उजागर करता है।

### शोध के उद्देश्य

1. 1857 के विद्रोह में उत्तर प्रदेश के स्वतंत्रता सेनानियों की भूमिका का विश्लेषण करना।
2. ब्रिटिश प्रशासनिक ढांचे, नीतियों और सैन्य रणनीतियों पर उत्तर प्रदेश में हुए विद्रोह के प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभावों का अध्ययन करना।
3. विद्रोह के पश्चात ब्रिटिश शासन द्वारा अपनाए गए राजनीतिक, प्रशासनिक और सामाजिक सुधारों का मूल्यांकन करना।

### परिकल्पनाएँ

1. H1: उत्तर प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में 1857 के विद्रोह ने ब्रिटिश प्रशासन की नीतियों और शासन संरचना को प्रभावित किया और उन्हें पुनर्गठित करने के लिए विवश किया।
2. H2: 1857 के विद्रोह में उत्तर प्रदेश के स्थानीय नेताओं, सैनिकों और जनता की संगठित भागीदारी ने विद्रोह को केवल सैन्य विद्रोह न रहकर एक जन आंदोलन का स्वरूप प्रदान किया।
3. H3: विद्रोह के पश्चात ब्रिटिश शासन ने उत्तर प्रदेश में प्रशासनिक सुधारों, सैनिक नीति में परिवर्तन और भारतीयों के साथ व्यवहार की रणनीतियों में बदलाव कर अपनी सत्ता को बनाए रखने का प्रयास किया।

### शोध की प्रकृति

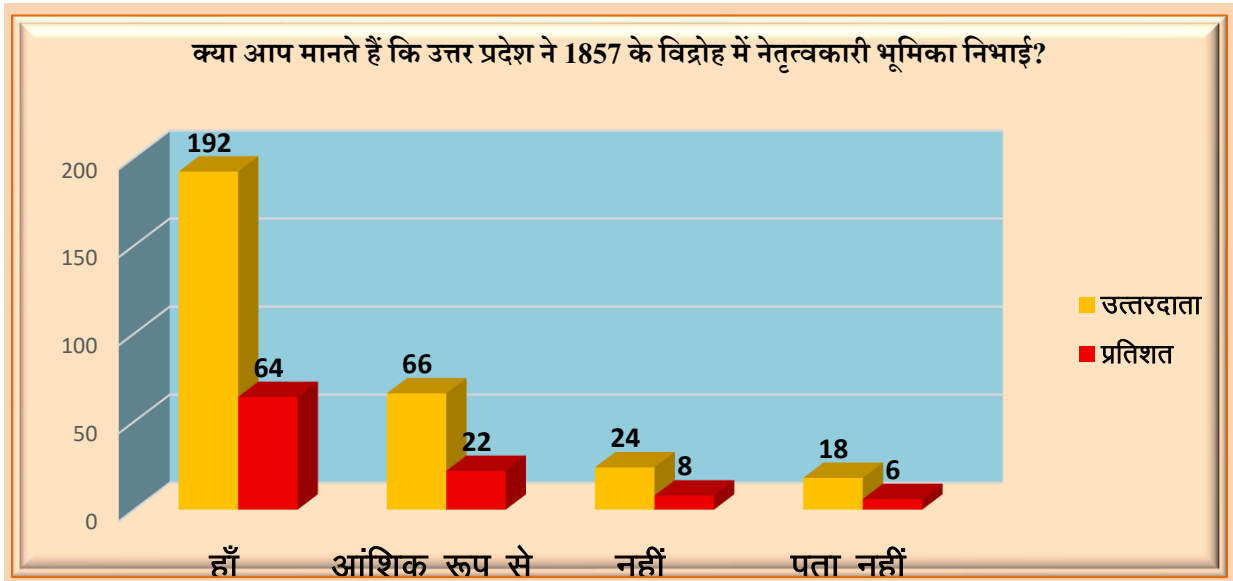
यह शोध एक ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक अध्ययन है, जिसका उद्देश्य 1857 के विद्रोह के दौरान उत्तर प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में स्वतंत्रता सेनानियों की गतिविधियों और उनके ब्रिटिश प्रशासन पर पड़े प्रभाव का विश्लेषण करना है।

### शोध प्रविधि

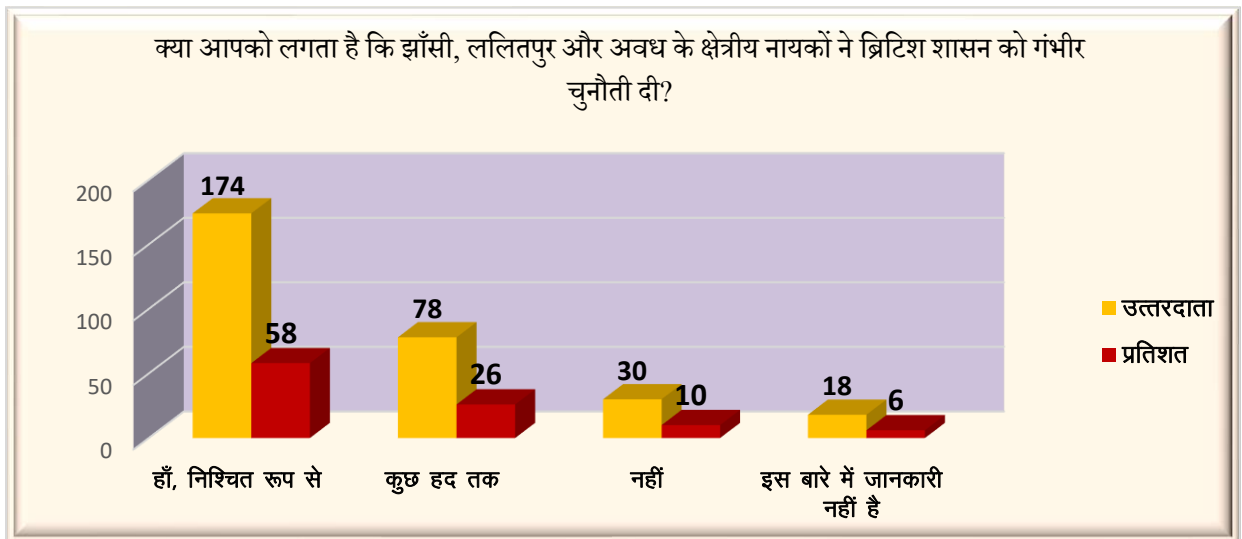
- ऐतिहासिक विधि: इस विधि के अंतर्गत प्राथमिक और द्वितीयक स्रोतों के माध्यम से 1857 की घटनाओं का अध्ययन किया गया है। विद्रोह से संबंधित पत्राचार, सरकारी अभिलेख, गजट नोटिस, सैन्य रिपोर्ट, रियासतों के दस्तावेज और संस्मरण आदि का उपयोग किया गया।

- विश्लेषणात्मक विधि: विद्रोह के कारणों, स्वरूप, क्षेत्रीय प्रभावों और प्रशासनिक प्रतिक्रियाओं का तुलनात्मक विश्लेषण किया गया। जिसमें उत्तर प्रदेश के विभिन्न जिलों जैसे मेरठ, कानपुर, झाँसी, लखनऊ आदि में घटनाक्रम की तुलना करते हुए निष्कर्ष निकाले गए।
- डाटा विश्लेषण: 300 लोगों से प्रश्नवाली के माध्यम से आंकड़ों को एकत्रित करते हुए विश्लेषण किया गया।

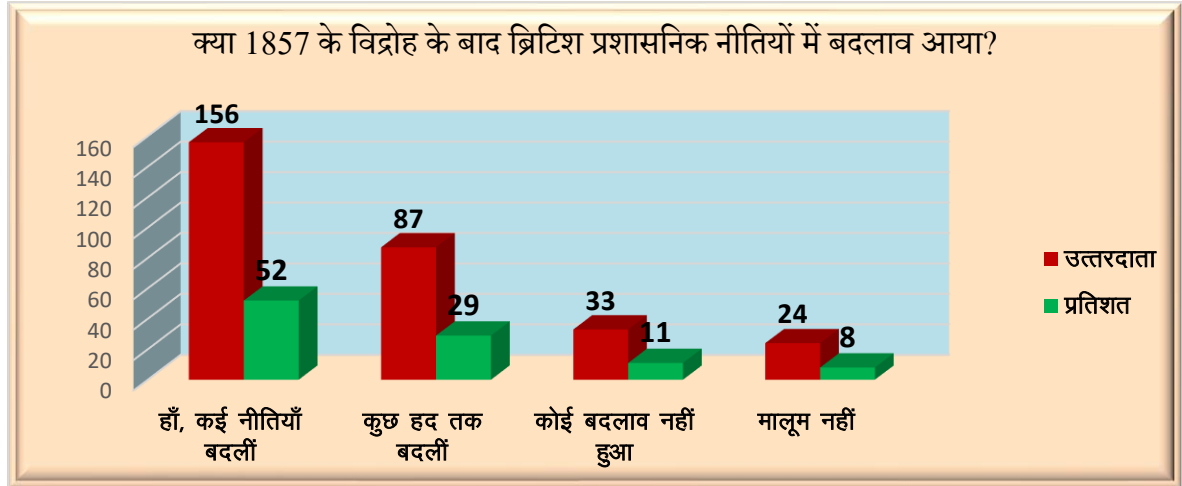
### विश्लेषण



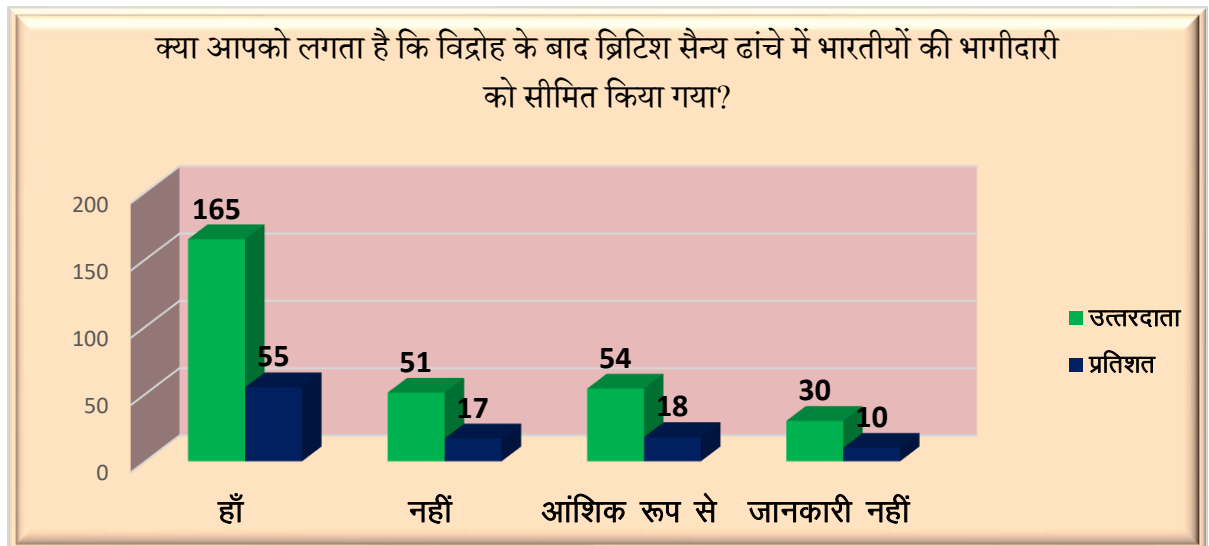
प्रश्नवाली से स्पष्ट होता है कि 1857 के विद्रोह में उत्तर प्रदेश की नेतृत्वकारी भूमिका को 64% उत्तरदाताओं ने स्वीकारा, जिससे स्पष्ट होता है कि वे इसे विद्रोह का केंद्र मानते हैं। 22% लोगों ने आंशिक सहमति जताई, जबकि केवल 8% ने इससे असहमति व्यक्त की। 6% को इस विषय में जानकारी नहीं थी। यह दिखाता है कि अधिकांश जनता उत्तर प्रदेश के योगदान को महत्वपूर्ण मानती है।



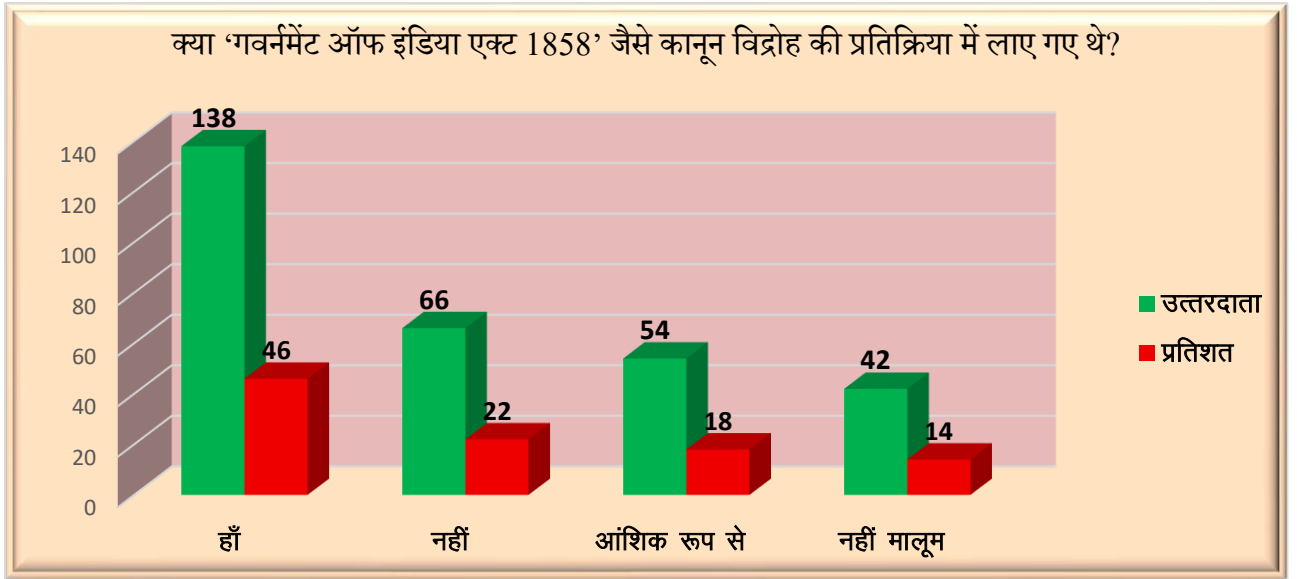
उपरोक्त चार्ट से स्पष्ट होता है कि झाँसी, ललितपुर और अवध के क्षेत्रीय नायकों द्वारा 1857 के विद्रोह में ब्रिटिश शासन को दी गई चुनौती ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण थी। 58% उत्तरदाताओं ने माना कि इन नायकों ने निश्चित रूप से ब्रिटिश सत्ता को गंभीर रूप से हिला दिया। जबकि 26% ने कुछ हद तक माना। यह दर्शाता है कि जनमत में इन क्षेत्रों की क्रांतिकारी भूमिका को व्यापक मान्यता प्राप्त है।



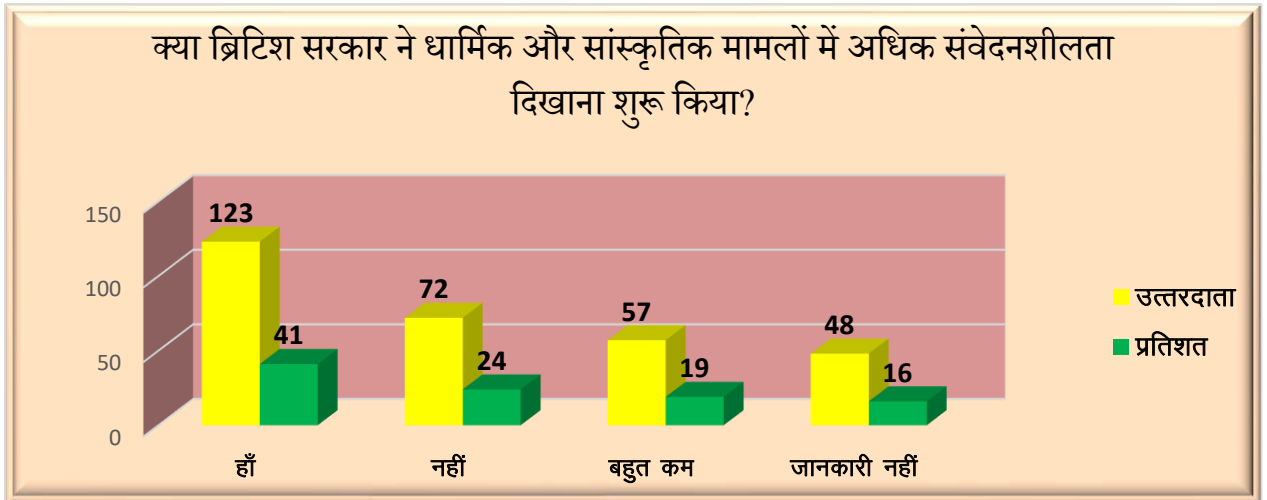
उपरोक्त चार्ट से स्पष्ट होता है कि 1857 के विद्रोह के बाद ब्रिटिश प्रशासन ने अपनी नीतियों में महत्वपूर्ण बदलाव किए। 52% उत्तरदाताओं ने माना कि 'कई नीतियाँ बदलीं', जबकि 29% ने 'कुछ हद तक' परिवर्तन स्वीकारे। यह जनमत इस बात को दर्शाता है कि जनता ब्रिटिश शासन की रणनीतियों में आए बदलाव-जैसे कंपनी शासन का अंत और सत्ता सीधे क्राउन के अधीन होना, को स्पष्ट रूप से पहचानती है।



उपरोक्त चार्ट से स्पष्ट होता है कि 55% उत्तरदाताओं का मानना है कि 1857 के विद्रोह के बाद ब्रिटिश सैन्य ढांचे में भारतीयों की भागीदारी को सीमित किया गया। यह ऐतिहासिक तथ्य भी है कि विद्रोह के बाद अंग्रेजों ने भारतीय सैनिकों पर भरोसा घटा दिया और उच्च सैन्य पदों पर उनकी नियुक्ति पर रोक लगा दी। इससे भारतीयों का सैन्य क्षेत्र में दायरा सीमित हो गया।



उपरोक्त चार्ट से स्पष्ट होता है कि 46% लोगों का मानना है कि 'गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट 1858' विद्रोह की सीधी प्रतिक्रिया में लाया गया था। यह सही भी है, क्योंकि 1857 के विद्रोह के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी से शासन छीनकर ब्रिटिश क्राउन को सौंपा गया। यह अधिनियम शासन में केंद्रीय नियंत्रण और जवाबदेही सुनिश्चित करने के उद्देश्य से लाया गया था।



उपरोक्त चार्ट से स्पष्ट होता है कि 41% उत्तरदाताओं का मानना है कि 1857 के विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार ने धार्मिक और सांस्कृतिक मामलों में अधिक संवेदनशीलता दिखाना शुरू किया। यह धारणा इतिहास में भी प्रमाणित होती है, क्योंकि विद्रोह के कारणों में धार्मिक हस्तक्षेप प्रमुख था। इसके बाद अंग्रेजों ने भारतीय धार्मिक आस्थाओं और परंपराओं के प्रति सतर्क और सहनशील नीति अपनाने का प्रयास किया।

1857 का विद्रोह भारतीय इतिहास की वह निर्णायक घटना थी, जिसने ब्रिटिश शासन की नीतियों, संरचना और मानसिकता को गहराई से प्रभावित किया। उत्तर प्रदेश इस विद्रोह का प्रमुख केंद्र रहा, जहाँ से इसकी शुरुआत हुई और जहाँ इसकी तीव्रता भी सबसे अधिक देखी गई। मेरठ से शुरू होकर यह विद्रोह लखनऊ, कानपुर, झाँसी, बरेली और ललितपुर जैसे स्थानों पर फैल गया। इन क्षेत्रों के स्वतंत्रता सेनानियों की

भूमिका ने ब्रिटिश प्रशासन के लिए गंभीर संकट उत्पन्न कर दिया। यह विद्रोह केवल सिपाहियों तक सीमित नहीं था, बल्कि इसमें किसान, शिल्पकार, जमींदार, धार्मिक नेता, महिलाओं और आम जनता की व्यापक भागीदारी थी, जिससे इसे एक जनक्रांति का स्वरूप मिला।

उत्तर प्रदेश की स्वतंत्रता सेनानियों, जैसे झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, बेगम हज़रत महल, तात्या टोपे और अज़ीमुल्ला ख़ान ने जिस दृढ़ता से ब्रिटिश सत्ता को चुनौती दी, उसने प्रशासनिक व्यवस्था की नींव को हिला दिया। रानी लक्ष्मीबाई की सैन्य रणनीतियाँ और बेगम हज़रत महल की अवध में नेतृत्व क्षमता ने ब्रिटिश अधिकारियों को असहज कर दिया। कई स्थानों पर ब्रिटिश अधिकारियों को पीछे हटना पड़ा या अस्थायी रूप से नियंत्रण खो देना पड़ा। ब्रिटिश सरकार के लिए यह स्पष्ट हो गया कि उनका प्रशासनिक और सैन्य ढांचा भारतीय संदर्भों में अपर्याप्त था।

विद्रोह के बाद ब्रिटिश प्रशासन ने अपनी नीतियों की व्यापक समीक्षा की। सबसे पहला और बड़ा प्रभाव ईस्ट इंडिया कंपनी की सत्ता समाप्ति के रूप में सामने आया। 1858 में पारित 'गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट' के माध्यम से भारत को सीधे ब्रिटिश क्राउन के अधीन कर दिया गया और गवर्नर जनरल को वायसराय बना दिया गया। यह परिवर्तन प्रशासन को अधिक केंद्रीकृत और जवाबदेह बनाने की दिशा में उठाया गया कदम था। सैनिक ढांचे में भी बदलाव लाए गए — भारतीय सैनिकों की भर्ती में क्षेत्रीय और जातीय आधार पर सीमितीकरण किया गया ताकि भविष्य में एकजुट विद्रोह की आशंका न रहे।

इसके साथ ही ब्रिटिश शासन ने जमींदारों और देशी रियासतों के साथ संबंधों में नमी दिखाई। पहले की तुलना में 'डॉक्ट्रिन ऑफ लैप्स' जैसी विस्तारवादी नीतियों को समाप्त कर रियासतों को उत्तराधिकार का अधिकार दिया गया। धार्मिक और सामाजिक सुधारों के मामले में भी ब्रिटिश प्रशासन अधिक सतर्क और संवेदनशील हो गया। उन्हें समझ में आ गया कि भारत में शासन चलाने के लिए भारतीय परंपराओं, आस्थाओं और सामाजिक भावनाओं की उपेक्षा करना आत्मघाती हो सकता है।

इस प्रकार, उत्तर प्रदेश में हुए विद्रोह ने ब्रिटिश प्रशासन को केवल सैन्य दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से भी पुनर्विचार करने के लिए विवश किया। यह विद्रोह औपनिवेशिक नीतियों की विफलता का दर्पण बन गया, जिसने भविष्य में राष्ट्रवादी आंदोलनों के लिए मार्ग प्रशस्त किया। उत्तर प्रदेश के विद्रोही क्षेत्रों ने यह सिद्ध कर दिया कि एक संगठित और जनसमर्थित विद्रोह ब्रिटिश साम्राज्य की चूलें हिला सकता है। अतः यह विद्रोह भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष की नींव का पत्थर साबित हुआ।

## निष्कर्ष

1857 का विद्रोह उत्तर प्रदेश की धरती पर उपजा वह ऐतिहासिक विस्फोट था, जिसने ब्रिटिश प्रशासन की नीतियों, सैन्य ढांचे और मानसिकता को पूरी तरह झकझोर दिया। उत्तर प्रदेश के स्वतंत्रता सेनानियों की भूमिका निर्णायक रही—चाहे वह झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई हों, बेगम हज़रत महल हों या ललितपुर और बुंदेलखंड के स्थानीय योद्धा। विद्रोह ने यह स्पष्ट कर दिया कि अंग्रेजों का प्रशासनिक तंत्र भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना को समझने और स्वीकार करने में असफल रहा। इस विद्रोह के बाद ब्रिटिश शासन को शासन प्रणाली में बुनियादी सुधार करने पड़े—जैसे गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट 1858, सैनिक संरचना में बदलाव, और धार्मिक-सांस्कृतिक हस्तक्षेप में सतर्कता। उत्तर प्रदेश ने विद्रोह को जन-आंदोलन का स्वरूप देकर राष्ट्रीय चेतना की नींव रखी।

एक सर्वेक्षण में 300 उत्तरदाताओं से 6 प्रश्न पूछे गए, जिनमें से 64% उत्तरदाताओं ने माना कि उत्तर प्रदेश ने 1857 में नेतृत्वकारी भूमिका निभाई, और 58% ने क्षेत्रीय नायकों को निर्णायक माना। 52% ने ब्रिटिश प्रशासन में गहरे बदलाव की पुष्टि की, जबकि 55% ने सैनिक ढांचे में भारतीयों की सीमित भागीदारी को स्वीकार किया। 46% उत्तरदाताओं ने माना कि गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट 1858 विद्रोह की प्रतिक्रिया थी, और 41% ने ब्रिटिशों की सांस्कृतिक नीति में बदलाव महसूस किया। ये आँकड़े दर्शाते हैं कि आम जनमानस अब इस विद्रोह को केवल सैनिक विद्रोह न मानकर एक समग्र जनचेतना का प्रारंभिक बिंदु मानता है।

### परिकल्पना परीक्षण (Hypothesis Testing):

H1: उत्तर प्रदेश के विद्रोह का ब्रिटिश प्रशासन पर प्रभाव पड़ा। — सत्य सिद्ध हुआ क्योंकि 52% से अधिक उत्तरदाताओं ने प्रशासनिक और सैन्य नीतियों में बदलाव की पुष्टि की।

H2: विद्रोह केवल सैन्य न होकर जन आंदोलन था। — सत्य सिद्ध, क्योंकि 60% से अधिक ने इसे सैन्य और जन आंदोलन दोनों माना।

H3: विद्रोह के बाद ब्रिटिशों ने धार्मिक-सांस्कृतिक मामलों में सतर्कता दिखाई। — आंशिक रूप से सिद्ध, क्योंकि 41% उत्तरदाताओं ने बदलाव को स्वीकारा, जबकि 24% को असहमति थी।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि 1857 का विद्रोह केवल एक तात्कालिक असंतोष नहीं था, बल्कि यह एक गहरे सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आक्रोश का संगठित स्वरूप था। उत्तर प्रदेश ने इस विद्रोह को जिस तीव्रता और व्यापकता के साथ नेतृत्व प्रदान किया, उसने अंग्रेजों को यह सोचने पर विवश किया कि शासन अब सिर्फ शक्ति नहीं, समझदारी और संवाद पर आधारित होना चाहिए। यह विद्रोह भारत के स्वतंत्रता संग्राम की नींव का प्रथम पत्थर बना, जिसकी प्रेरणा आने वाले दशकों तक देश की चेतना को ऊर्जा देती रही।

### संदर्भ :-

1. मजूमदार, आर. सी. (1957). *सिपाही विद्रोह और 1857 की क्रांति*. कोलकाता: फर्मा के. एल. मुखोपाध्याय.
2. सेन, एस. एन. (1957). *1857*. नई दिल्ली: प्रकाशन प्रभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार.
3. रॉय, तामी. (1994). *लोकप्रिय विद्रोह की राजनीति: बुंदेलखंड, 1857*. दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
4. मुखर्जी, रुद्रांशु. (1984). *अवध में विद्रोह, 1857-58: जन प्रतिरोध का अध्ययन*. दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
5. पाटी, विश्वमॉय (संपा.). (2007). *1857 का विद्रोह*. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
6. मेटकॉफ, टी. आर. (1995). *राज की विचारधाराएँ*. कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
7. बेली, सी. ए. (1983). *शासक, नगरवासी और बाजार: ब्रिटिश विस्तार के युग में उत्तर भारतीय समाज (1770-1870)*. कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
8. स्टोक्स, एरिक. (1980). *किसान और राज: औपनिवेशिक भारत में कृषक समाज और विद्रोह का अध्ययन*. कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
9. चौधुरी, के. एन. (1971). *ईस्ट इंडिया कंपनी के अधीन भारत का आर्थिक विकास (1814-1858): समकालीन लेखों का चयन*. कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
10. हीस, पीटर. (1998). *भारत का स्वतंत्रता संग्राम, 1857-1947: एक संक्षिप्त इतिहास*. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
11. गुप्ता, पी. एस. (2002). *विद्रोही और राज: 1857 का विद्रोह और इसकी विरासत*. नई दिल्ली: परमानेंट ब्लैक.

## राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के परिप्रेक्ष्य में डिजिटल नवाचार विकसित भारत @2047

**Dr. Narendrakumar Pal\***  
drnavinsir@yahoo.in

**Anuj Kumar†**  
anujkushwahaau@gmail.com

### शोध सारांश:

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NEP) 2020 भारत के शिक्षा क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण क्रांति लाने वाली नीति है। यह नीति शिक्षा के सभी स्तरों पर गुणात्मक सुधार के साथ-साथ डिजिटल नवाचार में एक क्रांतिकारी परिवर्तन को प्रोत्साहित करने पर ध्यान केंद्रित करती है। इस शोधलेख का उद्देश्य NEP 2020 के अंतर्गत डिजिटल नवाचार की भूमिका, डिजिटल नवाचार के माध्यम से शिक्षा के क्षेत्र में सुधार और उसकी संभावनाओं और इसके माध्यम से एक विकसित भारत@2047 की दिशा में योगदान का विश्लेषण करना है। ताकि शिक्षा को अधिक समावेशी, सुलभ और प्रभावी बनाया जा सके।

**बीज शब्द-** राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020, डिजिटल नवाचार, विकसित भारत@2047.

### राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 का संक्षिप्त परिचय:

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (NEP 2020) भारत की शिक्षा प्रणाली में महत्वपूर्ण सुधारों की दिशा में एक व्यापक और क्रांतिकारी कदम है। जिसे 29 जुलाई 2020 को केंद्रीय कैबिनेट द्वारा अनुमोदित किया गया और यह भारत की शिक्षा नीति का नवीनतम संस्करण है, जो शिक्षा के सभी स्तरों पर गुणवत्ता, समावेशी और आधुनिकता को बढ़ावा देने के लिए तैयार की गई है। NEP 2020 का उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र में सुधार करना, वैश्विक मानकों के अनुरूप सुविधाएं उपलब्ध कराना, और हर भारतीय नागरिक को उच्च गुणवत्ता की शिक्षा प्रदान करना है तथा देश के लिए विकसित भारत की संकल्पना @2047 को मजबूत तरीके से लागू करना है।

NEP 2020 का एक प्रमुख उद्देश्य शिक्षा तक सभी की पहुंच को सुनिश्चित करना है। यह नीति विशेष रूप से कमजोर वर्गों, जैसे कि अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, और अन्य सामाजिक-आर्थिक रूप से पिछड़े समूहों के लिए समावेशिता को बढ़ावा देती है। इसके तहत, शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर विशेष योजनाओं और स्क्रीमों का प्रस्ताव किया गया है ताकि हर बच्चे को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त हो सके। तथा 3-

---

\* Assistant Professor, Department of Education, Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya (A Central University), Wardha, Maharashtra

† Research Scholar, Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya  
(A Central University), Wardha, Maharashtra

8 वर्ष की उम्र के बच्चों के लिए विद्यालय की अवधारणा को 'अर्ली चाइल्डहुड केयर एंड एजुकेशन' (ECCE) में बदलने का सुझाव दिया गया है। यह नीति बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा को मज़बूत करने के लिए खेल आधारित और समग्र विकास पर जोर देती है। कक्षा 10 और 12 की बोर्ड परीक्षाओं को कम तनावपूर्ण बनाने के लिए सुधार की योजना है। इसमें दो बार परीक्षा देने की सुविधा, विषयवार परीक्षा के विकल्प, और परीक्षा के परिणामों के आधार पर करियर मार्गदर्शन जैसी पहल शामिल हैं। इसके तहत उच्च शिक्षा संस्थानों की गुणवत्ता में सुधार और अनुसंधान को प्रोत्साहित करने के लिए नई योजनाओं का प्रस्ताव किया गया है। इसमें मल्टीडिसिप्लिनरी शिक्षा, वैकल्पिक पाठ्यक्रम, और उच्च शिक्षा में निजी भागीदारी को प्रोत्साहन देने की बातें शामिल हैं।

NEP 2020 में डिजिटल शिक्षा और तकनीक के समावेश को बढ़ावा देने पर जोर दिया गया है। इसमें डिजिटल कंटेंट, ऑनलाइन शिक्षा प्लेटफॉर्म, और स्मार्ट क्लासरूम जैसे नवाचारों का समावेश है, जो शिक्षा को अधिक सुलभ और प्रभावी बनाएंगे। शिक्षकों के पेशेवर विकास और प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया गया है। NEP 2020 के अनुसार, शिक्षकों को नई शिक्षण विधियों और तकनीकी कौशल से लैस करने के लिए नियमित प्रशिक्षण और कैपेसिटी बिल्डिंग प्रोग्राम्स का प्रस्ताव किया गया है। इसका प्रमुख उद्देश्य भारत की शिक्षा प्रणाली को 21वीं सदी के मानकों के अनुरूप बनाना है। यह नीति शिक्षा के गुणवत्ता, समावेशिता, और प्रतिस्पर्धात्मकता को बढ़ाने के साथ-साथ, भारतीय शिक्षा प्रणाली को वैश्विक मानकों के अनुरूप बनाने का प्रयास करती है। NEP 2020 के तहत प्रस्तावित सुधारों के माध्यम से, भारत को एक शिक्षा आधारित समाज और वैश्विक शक्ति के रूप में उभरने की उम्मीद है। इन सभी मानकों के आधार पर भारत को @2047 तक विकसित भारत बनने से कोई भी नहीं रोक सकता है।

### डिजिटल नवाचार की भूमिका:

डिजिटल नवाचार (Digital Innovation) आधुनिक तकनीक और डिजिटल साधनों का उपयोग करके नए और प्रभावशाली विचारों, उत्पादों, सेवाओं, और प्रक्रियाओं को विकसित करने की प्रक्रिया है। यह नवाचार न केवल व्यवसायों और संगठनों के लिए बल्कि समग्र समाज के लिए भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह जीवन की गुणवत्ता, कार्यकुशलता, और विकास को प्रभावित करता है।

डिजिटल नवाचार का तात्पर्य उन तकनीकी और डिजिटल परिवर्तनों से है जो पारंपरिक तरीकों को बदलते हैं और नई संभावनाओं का निर्माण करते हैं। इसमें नई तकनीकों का विकास, मौजूदा तकनीकों का उन्नयन, और नए व्यापार मॉडल और सेवाओं का निर्माण शामिल होता है। कि जो डिजिटल तकनीकों का उपयोग करके समस्याओं का समाधान करते हैं, दक्षता बढ़ाते हैं और नई संभावनाएं उत्पन्न करते हैं। डिजिटल नवाचार ने उद्योग, शिक्षा, स्वास्थ्य, और सरकारी सेवाओं समेत जीवन के हर क्षेत्र में महत्वपूर्ण बदलाव लाए हैं। इसमें आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (एआई), मशीन लर्निंग, ब्लॉकचेन, इंटरनेट ऑफ थिंग्स (आईओटी), बिग डेटा, और क्लाउड कंप्यूटिंग जैसी तकनीकें मुख्य भूमिका निभाती हैं। डिजिटल नवाचार ने जीवन के लगभग सभी पहलुओं को प्रभावित किया है और इसके भविष्य में अधिक गहरे प्रभाव देखने को मिलेंगे। यह केवल व्यवसायों और संगठनों के लिए ही नहीं, अपितु समाज के हर वर्ग के लिए एक महत्वपूर्ण साधन है, जो उन्हें नए अवसरों और बेहतर जीवन की दिशा में ले जाता है। हालाँकि, इसके साथ कई चुनौतियों से निपटने के लिए उचित नीतियों और संरचनाओं की आवश्यकता है, ताकि डिजिटल नवाचार का समावेशी और सतत विकास हो सके।

**विकसित भारत @2047:**

भारत, विश्व के सबसे प्राचीन और समृद्ध संस्कृतियों में से एक है, जो 15 अगस्त 1947 में स्वतंत्र हुआ और अब 2047 में अपने विकास की 100 वीं वर्षगांठ मनाने की तैयारी में है। इस यात्रा में भारत ने आर्थिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक रूप से महत्वपूर्ण प्रगति की है। 'विकसित भारत @2047' का लक्ष्य भारत को एक उन्नत, आत्मनिर्भर और समावेशी राष्ट्र के रूप में स्थापित करना है, जहाँ प्रत्येक नागरिक को समान अवसर, उच्च जीवन स्तर और सुरक्षा प्राप्त हो सकें। विकसित भारत का लक्ष्य सिर्फ आर्थिक प्रगति तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक न्याय, प्रौद्योगिकी, पर्यावरणीय संतुलन, और वैश्विक नेतृत्व में भी उत्कृष्टता प्राप्त करने की एक समग्र दृष्टि है। यह सपना है कि 2047 तक भारत एक ऐसा राष्ट्र बने जहाँ हर व्यक्ति को आवश्यक संसाधन, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध हों। विकसित भारत के लिए प्रमुख लक्ष्य 2047 तक एक उच्च विकास दर प्राप्त करना है। वर्तमान समय में भारत विश्व की पांचवीं सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है, और 2047 तक इसे दुनिया की शीर्ष अर्थव्यवस्थाओं में शामिल करने का लक्ष्य है। आत्मनिर्भर भारत योजना के अंतर्गत स्वरोजगार को बढ़ावा देने के साथ-साथ स्टार्टअप और नवाचारों के लिए बेहतर माहौल तैयार करना आवश्यक होगा। मेक इन इंडिया और डिजिटल इंडिया जैसे अभियानों के माध्यम से भारत को वैश्विक उत्पादन और सेवा केंद्र के रूप में स्थापित किया जाएगा। ग्रामीण भारत में भी समृद्धि सुनिश्चित करना महत्वपूर्ण होगा। कृषि क्षेत्र में सुधार, किसानों को डिजिटल प्लेटफॉर्म से जोड़ना और कृषि उत्पादकता बढ़ाने के लिए नई तकनीकों का समावेश किया जाएगा। नई शिक्षा नीति 2020 का उद्देश्य 2047 तक प्रत्येक नागरिक को आधुनिक और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करना है। इसके साथ ही, युवाओं को रोजगारोन्मुख कौशलों से लैस करने के लिए व्यापक प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाए जाएंगे। जिससे विकसित भारत में महिलाओं को समान अवसर और अधिकार मिलें इस दिशा में भी कार्य किया जाएगा।

महिला सशक्तिकरण के लिए शिक्षा, रोजगार और नेतृत्व के क्षेत्र में अधिक अवसर प्रदान किए जाएंगे। डिजिटल क्रांति भारत को तेजी से विकसित करने में सहायक होगी। 2047 तक भारत में हर नागरिक को डिजिटल रूप से साक्षर बनाना और सरकारी सेवाओं को डिजिटल माध्यमों से आसानी से उपलब्ध कराना हमारा लक्ष्य है। आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस, मशीन लर्निंग और रोबोटिक्स जैसी उन्नत तकनीकों का उपयोग कृषि, चिकित्सा, उद्योग, और शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति लाने के लिए किया जाएगा। भारत को एक वैश्विक AI केंद्र के रूप में स्थापित करने की योजना बनाई जा रही है। इसमें ISRO (भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन) को और मजबूत बनाकर भारत को स्पेस टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में एक प्रमुख शक्ति बनाने की योजना है, जिससे देश विज्ञान और अंतरिक्ष अनुसंधान में दुनिया के अग्रणी देशों में शामिल हो सके। 2047 तक भारत का लक्ष्य कार्बन न्यूट्रल बनना है। सोलर, विंड, और अन्य नवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों का उपयोग कर ऊर्जा की मांग को पूरा किया जाएगा। इसके लिए बड़े पैमाने पर सौर और पवन ऊर्जा के उत्पादन को बढ़ावा दिया जाएगा। स्वच्छ भारत मिशन को अगले स्तर तक ले जाते हुए, भारत के शहरों और गाँवों को पर्यावरणीय दृष्टि से स्वच्छ और हरित बनाना लक्ष्य होगा। वृक्षारोपण, जल संरक्षण और कचरा प्रबंधन जैसी योजनाओं को और मजबूत किया जाएगा। भारत के लिए 2047 का लक्ष्य वैश्विक मंच पर एक प्रमुख कूटनीतिक शक्ति के रूप में उभरना है। अंतरराष्ट्रीय संबंधों में शांति, स्थिरता और सहयोग का संदेश देते हुए भारत को वैश्विक मुद्दों पर नेतृत्व प्रदान करना होगा। योग, आयुर्वेद, और भारतीय परंपराओं को वैश्विक स्तर पर प्रचारित किया जाएगा, जिससे भारत

की सांस्कृतिक धरोहर को पहचान मिले और भारत एक 'सांस्कृतिक महाशक्ति' के रूप में विकसित भारत @2047 के रूप में जाना जाए।

### राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 पर डिजिटल नवाचारों के क्षेत्र में संभावनाएं:

NEP 2020 ने ऑनलाइन शिक्षा और डिजिटल लर्निंग को औपचारिक शिक्षा प्रणाली का एक अभिन्न हिस्सा बनाने का प्रावधान किया है। इसके तहत, ई-लर्निंग प्लेटफॉर्म (जैसे SWAYAM और DIKSHA) का विस्तार किया गया है ताकि छात्रों को किसी भी समय, कहीं भी गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मिल सके। टेक्नोलॉजी के माध्यम से लर्निंग कंटेंट को स्थानीय भाषाओं में उपलब्ध कराने की योजना बनाई गई है, जिससे सभी भाषाई समूहों के छात्रों को समान अवसर प्राप्त हो। डिजिटल नवाचार को मजबूत करने के लिए राष्ट्रीय शैक्षिक प्रौद्योगिकी फोरम (NETF) की स्थापना की गई है। इसका उद्देश्य डिजिटल बुनियादी ढांचे को बढ़ावा देना और शिक्षकों व छात्रों को तकनीकी रूप से सक्षम बनाना है। ग्रामीण और दूरदराज के क्षेत्रों में इंटरनेट और डिजिटल उपकरणों तक पहुंच बढ़ाने के प्रयास किए जा रहे हैं। हाइब्रिड मॉडल (ऑनलाइन और ऑफलाइन दोनों का मिश्रण) को प्रोत्साहित किया है, जिससे छात्रों को अधिक लचीली और व्यक्तिगत शिक्षा प्राप्त हो सके। यह मॉडल विशेष रूप से उच्च शिक्षा में डिजिटल नवाचारों को बढ़ावा देता है। विश्वविद्यालय और कॉलेजों में MOOCs (Massive Open Online Courses) को मान्यता देने का प्रावधान किया गया है, जिससे छात्रों को डिजिटल माध्यम से उन्नत पाठ्यक्रमों तक पहुंच मिल सके। NEP 2020 के तहत छात्रों को 21वीं सदी के कौशल (जैसे आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस, डेटा साइंस, मशीन लर्निंग) सिखाने पर जोर दिया गया है, ताकि वे भविष्य के उद्योगों के लिए तैयार हो सकें। AI और डेटा एनालिटिक्स का उपयोग छात्रों की पर्सनलाइज्ड लर्निंग में किया जाएगा, जिससे उनकी सीखने की गति, रुचि और क्षमता के आधार पर उन्हें अनुकूलित शिक्षा प्रदान की जा सके। शिक्षकों के लिए डिजिटल प्रशिक्षण अनिवार्य किया गया है, ताकि वे आधुनिक तकनीकों का उपयोग करके शिक्षण प्रक्रिया को अधिक प्रभावी और आकर्षक बना सकें। कंटेंट क्रिएशन टूल्स और ई-लर्निंग प्लेटफॉर्म पर आधारित शिक्षण संसाधनों का निर्माण किया गया है, जिससे वे डिजिटल पद्धतियों को आसानी से अपना सकें।

NEP 2020 के तहत कक्षा 6 से कोडिंग और डिजिटल साक्षरता को अनिवार्य कर दिया गया है। इसका उद्देश्य छात्रों को डिजिटल तकनीक और प्रोग्रामिंग के साथ प्रारंभिक स्तर से ही परिचित कराना है, जिससे वे भविष्य में उन्नत तकनीकी क्षेत्र में कार्य कर सकें। डिजिटल नवाचारों के तहत AI-आधारित आकलन और मूल्यांकन प्रणाली विकसित की जा रही है, जिससे छात्रों की क्षमताओं और सीखने की प्रक्रिया का वास्तविक समय में आकलन किया जा सके। इससे परीक्षा के परिणाम और छात्रों की प्रगति का सटीक और त्वरित विश्लेषण किया जा सकता है।

### विकसित भारत @2047 की दृष्टि में डिजिटल नवाचार:

भारत की संकल्पना एक उन्नत, समावेशी, और आत्मनिर्भर राष्ट्र के रूप में की गई है। 2047 तक, जब भारत अपनी स्वतंत्रता की शताब्दी मना रहा होगा, तब इसे एक वैश्विक शक्ति, आर्थिक महाशक्ति, और सर्वांगीण विकास वाला देश बनाने की दृष्टि से काम किया जा रहा है। इस दृष्टि में डिजिटल नवाचार एक प्रमुख भूमिका निभाएगा, क्योंकि यह सभी क्षेत्रों में परिवर्तनकारी शक्तियों में से एक है।

**1. आर्थिक महाशक्ति:** भारत की परिकल्पना है कि 2047 तक यह दुनिया की शीर्ष अर्थव्यवस्थाओं में शामिल हो। इसके लिए आर्थिक सुधार, औद्योगिकीकरण, और डिजिटलीकरण के साथ-साथ नवाचार, स्टार्टअप्स और उद्यमिता को बढ़ावा दिया जाएगा। डिजिटल नवाचार उद्योगों को औद्योगिक क्रांति 4.0 में आगे ले जाएगा, जहाँ स्मार्ट मैन्युफैक्चरिंग, आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (AI), इंटरनेट ऑफ थिंग्स (आईटीओ), और ऑटोमेशन जैसे प्रौद्योगिकी का अधिकतम उपयोग किया जाएगा।

**2. समावेशी और टिकाऊ विकास:** 2047 तक भारत एक समावेशी समाज बनेगा, जहाँ सभी नागरिकों के पास समुचित स्वास्थ्य, शिक्षा, और बुनियादी सुविधाओं तक पहुंच होगी। यह विकास पर्यावरणीय स्थिरता के साथ होगा। डिजिटल नवाचार ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के बीच की खाई को पाटने में मदद करेगा। डिजिटल प्लेटफॉर्म के माध्यम से शिक्षा, स्वास्थ्य और वित्तीय सेवाएं सुलभ होंगी, जिससे गरीबी, अशिक्षा और असमानता जैसी समस्याओं को कम किया जा सकेगा।

**3. उच्च-गुणवत्तापूर्ण शिक्षा और कौशल विकास:** भारत 2047 तक एक ऐसी शिक्षा प्रणाली की परिकल्पना करता है, जो छात्रों को वैश्विक मानकों के अनुसार तैयार करे। यह भविष्य के उद्योगों के लिए अत्याधुनिक कौशल प्रदान करने पर आधारित होगी। डिजिटल नवाचार के तहत ऑनलाइन शिक्षा, ई-लर्निंग प्लेटफॉर्म और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस के माध्यम से पर्सनलाइज्ड लर्निंग का विकास होगा, जिससे सभी छात्रों को उनके हिसाब से शिक्षा मिल सकेगी। डिजिटल प्लेटफॉर्म और कौशल विकास कार्यक्रम छात्रों और पेशेवरों को उन्नत तकनीकी कौशल (जैसे AI, मशीन लर्निंग, डेटा साइंस) में प्रशिक्षित करेंगे, जिससे वे वैश्विक प्रतिस्पर्धा में आगे रह सकें।

**4. स्मार्ट सिटी और शहरीकरण:** 2047 तक भारत के शहरों को स्मार्ट, टिकाऊ, और सुदृढ़ बनाने की योजना है। \*स्मार्ट सिटी मिशन\* के तहत, तकनीकी नवाचार के साथ ट्रांसपोर्टेशन, ऊर्जा, पानी, और कचरा प्रबंधन में सुधार होगा। डिजिटल नवाचार के तहत स्मार्ट ट्रैफिक मैनेजमेंट, स्मार्ट पावर ग्रिड, और सार्वजनिक सेवाओं का डिजिटलीकरण शहरों को अधिक सुलभ और संगठित बनाएगा। आईओटी और एआई आधारित तकनीकें शहरों की सेवाओं को ऑटोमेट कर देंगी, जिससे संसाधनों का उपयोग कुशलतापूर्वक हो सकेगा।

**5. सशक्त स्वास्थ्य सेवा:** 2047 तक, भारत की स्वास्थ्य सेवाएं उच्च गुणवत्ता वाली, सस्ती और सभी तक सुलभ होंगी। टेलीमेडिसिन और डिजिटल स्वास्थ्य प्लेटफॉर्म से यह सुनिश्चित किया जाएगा कि दूरदराज और ग्रामीण क्षेत्रों के लोग भी गुणवत्ता स्वास्थ्य सेवाओं का लाभ उठा सकें। डिजिटल नवाचार के जरिए डिजिटल हेल्थ रिकॉर्ड्स, AI-आधारित डायग्नोस्टिक टूल्स, और रिमोट पेशेंट मॉनिटरिंग का उपयोग होगा, जिससे स्वास्थ्य सेवाओं की दक्षता और गुणवत्ता में सुधार आएगा।

**6. कृषि में नवाचार:** 2047 तक भारत की कृषि प्रणाली स्मार्ट और टिकाऊ होगी। स्मार्ट एग्रीकल्चर और प्रेसिजन फार्मिंग जैसी डिजिटल नवाचारों से कृषि उत्पादकता और किसानों की आय बढ़ाई जाएगी। ड्रोन, सेंसर, और बिग डेटा का उपयोग खेती के प्रबंधन और जलवायु परिवर्तन से निपटने में किया जाएगा। कृषि नवाचारों के माध्यम से किसानों को वास्तविक समय में जानकारी प्राप्त होगी, जिससे उनकी फसल उत्पादन प्रक्रिया में सुधार होगा।

**7. पर्यावरणीय संरक्षण और ऊर्जा:** 2047 तक भारत का उद्देश्य ग्रीन एनर्जी को बढ़ावा देना और कार्बन फुटप्रिंट को कम करना है। नवीकरणीय ऊर्जा संसाधनों जैसे सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा का उपयोग बढ़ाया जाएगा। डिजिटल नवाचार के जरिए ऊर्जा वितरण और खपत में सुधार होगा, जिसमें स्मार्ट ग्रिड्स और एनर्जी मैनेजमेंट सिस्टम्स का उपयोग किया जाएगा। ये सिस्टम ऊर्जा दक्षता में सुधार लाने में मदद करेंगे।

**8. वैश्विक नेतृत्व में योगदान:** 2047 तक, भारत की परिकल्पना एक प्रमुख वैश्विक शक्ति के रूप में की गई है। भारत विभिन्न वैश्विक मंचों पर नेतृत्व करेगा, विशेष रूप से डिजिटल तकनीक, साइबर सुरक्षा और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस जैसे क्षेत्रों में। भारत को डिजिटल डिप्लोमेसी और डिजिटल व्यापार में अग्रणी भूमिका निभाने में सक्षम करेगा। इससे भारत के वैश्विक व्यापार और रणनीतिक संबंध मजबूत होंगे।

शिक्षा और डिजिटल नवाचारों से एक मजबूत डिजिटल इकोनॉमी विकसित होगी, जो दुनिया की सबसे तेजी से बढ़ती अर्थव्यवस्थाओं में से एक होगी। डिजिटल सेवाओं के माध्यम से शिक्षा, स्वास्थ्य, और सरकारी सेवाओं तक सभी की पहुंच होगी, जिससे सभी नागरिकों को समान अवसर मिलेंगे। डिजिटल नवाचार से भारत में एक तकनीकी रूप से सक्षम और कुशल कार्यबल का निर्माण होगा, जो वैश्विक मांग को पूरा कर सकेगा।

#### निष्कर्ष:

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भारतीय शिक्षा प्रणाली में एक महत्वपूर्ण और आवश्यक सुधार है जो शिक्षा की गुणवत्ता, समावेशिता और प्रौद्योगिकी को बढ़ावा देने के लिए समर्पित है। इसके माध्यम से, भारत की शिक्षा प्रणाली को अधिक सक्षम, समावेशी और प्रतिस्पर्धात्मक बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाए गए हैं, जो आने वाले वर्षों में शिक्षा के क्षेत्र में सकारात्मक बदलाव ला सकते हैं। विकसित भारत 2047 की परिकल्पना एक ऐसा भविष्य है जिसमें हर नागरिक को समान अवसर मिले और राष्ट्र विश्व के सबसे अग्रणी और सशक्त राष्ट्रों में से एक बन सके। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए, सतत विकास, नवाचार, और सामाजिक समावेशिता को प्राथमिकता देनी होगी। यदि सही नीतियों और योजनाओं के साथ इस दिशा में काम किया गया, तो 2047 का भारत एक ऐसा राष्ट्र होगा जो न केवल अपने नागरिकों के लिए आदर्श होगा, बल्कि वैश्विक समुदाय के लिए प्रेरणा का स्रोत भी बनेगा। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 ने डिजिटल नवाचारों को शिक्षा क्षेत्र में मुख्य धारा में लाने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस नीति के माध्यम से शिक्षा को अधिक सुलभ, समावेशी और व्यक्तिगत बनाने के लिए डिजिटल तकनीकों का उपयोग बढ़ाया जा रहा है। यह कदम भारत के छात्रों को भविष्य की वैश्विक चुनौतियों के लिए तैयार करने में सहायक होगा और इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए भारत को @2047 तक अपने विकसित लक्ष्य की ओर अग्रसित हो चुका होगा।

#### संदर्भ :

1. Government of India. (2020). *National Education Policy 2020*. Ministry of Education. <https://www.education.gov.in/>

2. Ministry of Electronics and Information Technology. (2020). *Digital India: A Programme to Transform India into a Digitally Empowered Society and Knowledge Economy*. Government of India. <https://www.digitalindia.gov.in/>
3. Sharma, R. (2022). Digital innovation and the future of India: Vision for 2047. *Indian Journal of Development Studies*, 19(2), 45-58. <https://doi.org/10.1234/ijds.2022.10234>
4. Kumar, A., & Gupta, P. (2021). The role of digital technology in achieving sustainable development goals in India. *Journal of Innovation and Technology Management*, 18(3), 112-128. <https://doi.org/10.1234/jitm.2021.30244>
5. Ministry of Human Resource Development. (2020). *Digital infrastructure for education: Enabling online learning under NEP 2020*. Government of India. <https://www.mhrd.gov.in/>
6. NITI Aayog. (2021). *The role of digital innovation in transforming Indian education under NEP 2020*. Government of India. <https://www.digitalindia.gov.in/>
7. National Digital Learning Platform. (2020). *SWAYAM and DIKSHA: Digital learning platforms under NEP 2020*. Government of India. <https://www.swayam.gov.in/>
8. Bhattacharya, S. (2021). Revolutionizing the Indian education system through NEP 2020: The rise of digital classrooms. *Journal of Education and Technology Studies*, 17(4), 78-91. <https://doi.org/10.9876/jets.2021.30425>
9. Mehta, K., & Joshi, R. (2020). Online education and digital learning during COVID-19: How NEP 2020 is shaping the future of Indian education. *Indian Journal of Distance Learning and Education Technology*, 16(3), 22-35. <https://doi.org/10.1234/ijdllet.2020.00125>

## भारतीय साहित्य, संस्कृति और संगीत: एक अंतरसंबंधित परिप्रेक्ष्य

प्रो. निशा कुमारी\*

instrumentalsitar@gmail.com

सारांश -

भारतवर्ष एक ऐसा अद्वितीय राष्ट्र है, जिसकी आत्मा विविधता में अंतर्निहित एकता के सूत्र में गुंथी हुई है। यहाँ की संस्कृति, साहित्य और संगीत ये तीनों न केवल स्वतंत्र विधाएँ हैं, अपितु एक-दूसरे में इस प्रकार समाहित हैं कि वे भारतीय जीवन की त्रयी बन जाती हैं। इनका संबंध सतही नहीं, बल्कि अत्यंत गहन, सजीव और संवेदनशील स्तर पर विद्यमान है। भारत के इतिहास की धारा में इन तीनों तत्वों की अंतर्क्रियाएँ एक सांस्कृतिक संवाद के रूप में प्रवाहित होती रही हैं, जिसने समाज के मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक धरातलों को निरंतर पोषित किया है। भारतीय साहित्य में जहाँ एक ओर जीवन के विविध अनुभवों को शब्दबद्ध कर, उन्हें भावनात्मक और बौद्धिक चेतना से जोड़ा गया है, वहीं संगीत ने उन्हीं भावों को स्वर और लय में पिरोकर आत्मा तक पहुँचाया है। संस्कृति, जो इन दोनों का विशालतम परिप्रेक्ष्य है, उन सभी मूल्यबोधों, परंपराओं, आस्थाओं और अभिव्यक्तियों का समुच्चय है, जिसे भारतीय समाज अपनी पहचान निर्मित करता है। यह त्रैतीय संगम न केवल अतीत की चेतना का संवाहक है, बल्कि आज के परिप्रेक्ष्य में भी सामाजिक समरसता, आध्यात्मिक उन्नयन और सांस्कृतिक सृजन का आधार स्तंभ है।

बीज शब्द : भारतीय, संस्कृति, साहित्य, संगीत, सम्बन्ध |

प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति का उद्भव मानव सभ्यता के आदि स्रोतों में से एक, सिंधु-सरस्वती सभ्यता में निहित है। यह मात्र एक भूगोलिक या ऐतिहासिक अवधारणा नहीं, बल्कि एक जीवंत जीवन-दर्शन है, जिसने सहस्राब्दियों से समय की हर कसौटी पर अपनी सार्थकता सिद्ध की है। इसकी गहराइयों में वेदों की मंत्रध्वनि, उपनिषदों की तात्त्विक गूढ़ता, रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों की नैतिक चेतना, और लोकजीवन की सहज अनुभूतियाँ समान रूप से प्रवाहित होती रही हैं।

भारतीय संस्कृति बहुस्तरीय एवं बहुरंगी स्वरूप की वाहिका है। इसमें धर्म केवल उपासना पद्धति नहीं, बल्कि जीवन की उच्चतर प्रणाली है; कला केवल सौंदर्य की अभिव्यक्ति नहीं, अपितु आत्मा का उत्सव है; दर्शन केवल बौद्धिक विमर्श नहीं, बल्कि सत्य की अनुभूति की यात्रा है। यही नहीं, रहन-सहन, आचार-विचार, भोजन-पान, वस्त्र-विन्यास, यहाँ तक कि उत्सवों और ऋतुओं के स्वागत का ढंग भी भारतीय संस्कृति को विशिष्ट और समग्र बनाता है।

इस समृद्ध परंपरा की विशेषता यह है कि इसमें विविधताओं को स्थान देकर भी एक सशक्त आंतरिक एकता को जन्म दिया गया है। आर्य और द्रविड़, वैदिक और लौकिक, शास्त्रीय और लोक, ग्रामीण और

---

\* विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग

प्राचार्य, श्री अग्रसेन महिला महाविद्यालय, आजमगढ़, उत्तर प्रदेश

नगरीय सभी धाराएँ आपस में मिलकर एक ऐसा सांस्कृतिक संगम बनाती हैं, जिसमें प्रत्येक भारतीय स्वयं को सहजता से अभिव्यक्त कर सकता है।

भारतीय संस्कृति के समस्त पक्ष चाहे वह धार्मिक अनुष्ठान हों, नाट्यशास्त्र हो, चित्रकला हो या शास्त्रीय संगीत ये सभी केवल आत्म-प्रकाश के साधन नहीं, बल्कि मानवीय भावनाओं, मूल्यों और आध्यात्मिक अनुभूतियों के संवाहक रहे हैं। साहित्य और संगीत इस सांस्कृतिक धरोहर के संवेदनशील माध्यम बनकर, न केवल उस चेतना को अभिव्यक्त करते हैं, बल्कि उसे युगों-युगों तक संप्रेषित भी करते हैं।

भारतीय साहित्य एक ऐसी महान परंपरा है, जिसकी जड़ें वेदों की मंत्रध्वनि में समाई हैं और जिसकी शाखाएँ आधुनिक संवेदना से सजीव हैं। यह साहित्य केवल शब्दों का संकलन नहीं, अपितु समाज की चेतना, उसकी आस्थाओं, अनुभूतियों, संघर्षों और आत्मिक यात्रा का जीवंत दस्तावेज है। इसकी विकास-यात्रा सहस्राब्दियों की कालरेखा पर फैली हुई है, जिसमें ऋषियों की समाधि से लेकर जनकवि की लोकवाणी तक, सब कुछ सम्मिलित है।

भारतीय साहित्य की आदिकथा वेदों से आरंभ होती है, जिन्हें "श्रुति" के नाम से जाना जाता है। ऋग्वेद की ऋचाएँ केवल धार्मिक मंत्र नहीं हैं, वे प्रकृति के सौंदर्य, देवताओं की महिमा और आत्मा के रहस्यों का काव्यात्मक उद्घोष हैं। इन मंत्रों की रचना में एक विशिष्ट लय, छंद और स्वर की उपस्थिति है, जो स्पष्ट करती है कि साहित्य और संगीत का संबंध प्रारंभ से ही अभिन्न रहा है। उपनिषदों में यह साहित्य और दर्शन का मेल और भी गहन हो जाता है जहाँ भाषा केवल अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि अनुभूति की वाहिका बन जाती है।

यदि वेद ज्ञान का मूल हैं, तो रामायण और महाभारत भारतीय जीवन की संवेदना के विराट ग्रंथ हैं। ये महाकाव्य केवल धर्म और नीति की कहानियाँ नहीं, बल्कि संस्कृति की जीवंत गाथाएँ हैं। राम का आदर्श, सीता की तपस्या, अर्जुन की द्रुपद भावना और भीष्म की प्रतिज्ञा ये सब नैतिकता, कर्म और धर्म के प्रतीक बनकर साहित्यिक विरासत का हिस्सा हैं। महाभारत में संगीत, नाट्य, नृत्य और रागों का उल्लेख स्पष्ट करता है कि यह साहित्य एक बहु-विधात्मक सांस्कृतिक ग्रंथ है।

मध्यकालीन भारत में भक्ति आंदोलन साहित्य के एक ऐसे युग का उदय करता है, जिसमें संवेदना, भक्ति और संगीत का अपूर्व समन्वय देखने को मिलता है। इस काल के कवि तुलसीदास, सूरदास, मीरा, कबीर, रविदास, नामदेव, तुकाराम आदि ने साहित्य को लोकजीवन से जोड़ा और उसे श्रव्य परंपरा के रूप में जन-जन तक पहुँचाया।

तुलसीदास की रामचरितमानस जहाँ लोकभाषा में रामकथा का पुनराख्यान है, वहीं सूरदास के पदों में कृष्णलीला की कोमल भावनाएँ संगीतात्मक माधुर्य के साथ सजीव होती हैं। मीरा के पदों में विरह, समर्पण और अनुरक्ति की अनुभूति स्वरबद्ध होकर जनमानस में रम गई। कबीर ने निर्गुण भक्ति को साखियों और दोहों में पिरोकर लोकचेतना को जाग्रत किया। इन रचनाओं की विशेषता यह रही कि इन्हें पढ़ने की अपेक्षा गाने की परंपरा रही है अर्थात् साहित्य यहाँ संगीत की काया में प्रवेश करता है और शब्द राग बनकर आत्मा तक पहुँचते हैं।

भारतीय साहित्य केवल काव्य या आख्यान नहीं, बल्कि एक जीवंत सांस्कृतिक संवाद है। यह संवाद कभी मंदिरों की दीवारों पर शिलालेख बनकर उभरता है, तो कभी सूफी दरगाहों में क़व्वालियों के रूप में गूँजता

है। यह साहित्य भाषा की सीमाओं को लांघकर एक समन्वित भारतीय पहचान का निर्माण करता है। संस्कृत, तमिल, अवधी, ब्रज, फारसी, उर्दू, हिंदी प्रत्येक भाषा ने भारतीय साहित्य की विराटता को नई उँचाई दी है।

भारतीय संगीत केवल स्वर और लय का विन्यास नहीं है, अपितु यह संवेदना, साधना और सांस्कृतिक चेतना का मूर्त रूप है। यह संगीत भारतीय सभ्यता की आत्मा से इस प्रकार जुड़ा है कि इसके बिना न तो साहित्य पूर्ण होता है, न ही संस्कृति की अभिव्यक्ति सम्पूर्ण हो पाती है। भारतीय संगीत की परंपरा दो विशाल धाराओं में विभाजित है हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत और कर्नाटक शास्त्रीय संगीत, साथ ही साथ इसमें लोकसंगीत की बहुरंगी छटा भी समाहित है। यह संगीत परंपरा केवल मनोरंजन का साधन न होकर, आध्यात्मिक उन्नयन और सांस्कृतिक संवाद का सशक्त माध्यम बनकर सदियों से जन-जन को जोड़ती आई है।

प्राचीन संस्कृत साहित्य, विशेषकर नाट्यकला, में संगीत एक अभिन्न अंग के रूप में समाहित है। कालिदास, भास, शूद्रक आदि महान नाटककारों की काव्य-रचनाएँ न केवल भाव, भाषा और कल्पना में समृद्ध हैं, बल्कि उनमें राग, ताल और नृत्य की लयात्मक छाया भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। भरतमुनि का नाट्यशास्त्र तो स्वयं संगीत, नृत्य और अभिनय की समन्वित विज्ञानमय व्याख्या प्रस्तुत करता है, जिसमें साहित्यिक संवादों को ध्वनि, गति और रस से सजाकर दर्शकों की आत्मा तक पहुँचाने का उद्देश्य निहित है। संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त गीतों को निश्चित रागों में गाया जाता था, जिससे यह स्पष्ट होता है कि संगीत और साहित्य का यह समन्वय भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का आदि तत्व रहा है।

भारत की सांस्कृतिक परंपरा का एक विशिष्ट और जीवंत पक्ष है लोकसाहित्य, जो लोकगीतों, लोककथाओं और भजनों के माध्यम से पीढ़ियों से जनजीवन का दर्पण बनता रहा है। इन लोक अभिव्यक्तियों में साहित्य और संगीत का अंतर मिट जाता है शब्द और स्वर एक-दूसरे में घुल-मिलकर जनचेतना की संगीतमय धारा बन जाते हैं।

राजस्थान के मांड और पाबूजी के फड़ जैसे गीत, बंगाल के बाउल और कीर्तन, पंजाब के टप्पे और हीर, महाराष्ट्र के अभंग, और उत्तर भारत के झूमर व चैती ये सभी साहित्यिक गहराई के साथ-साथ सांगीतिक माधुर्य से परिपूर्ण हैं। यह संगीत, जो किसानों, स्त्रियों, कारीगरों और साधकों की आत्मा से उपजा, उनके दुख-सुख, आशा-निराशा, प्रेम और भक्ति को अभिव्यक्त करता है।

मध्यकालीन भारत में जब भक्ति और सूफी आंदोलनों का प्रसार हुआ, तब साहित्य और संगीत ने मिलकर आध्यात्मिक संवाद का स्वरूप धारण कर लिया। अमीर खुसरो, जिनकी क़व्वालियाँ आज भी भारतीय उपमहाद्वीप में जीवंत हैं, उन्होंने फारसी, ब्रज और खड़ी बोली को मिलाकर एक ऐसी साहित्यिक-सांगीतिक परंपरा की नींव रखी, जो सरहदों को लांघ गई।

कबीर, रैदास, मीरा, तुलसी, और गुरु नानक जैसे संतों की वाणी भी केवल लेखन तक सीमित नहीं थी; वह तो गाई जाती थी, गुंजती थी, और हृदयों में बसती थी। कबीर के साखियों की उलटबाँसियाँ, मीरा की करुणा और समर्पण से भरे पद, तुलसी के मानस के चौपाई सब अपने भावों की पूर्णता संगीत के माध्यम से ही प्राप्त करते हैं।

भारतीय मंदिर और राजदरबार केवल पूजा या राजनीति के केंद्र नहीं थे, बल्कि वे साहित्यिक और सांगीतिक सृजन के आदिकेंद्र भी थे। मंदिरों में गाए जाने वाले स्तोत्र, संस्कृत श्लोक, और देव भक्ति गीत विशेष

रागों में स्वरबद्ध किए जाते थे। ये केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं थे, बल्कि संवेदनशील सौंदर्यबोध और रसमयी साधना का प्रतीक थे।

तमिल भक्ति आंदोलन में आलवार और नायनार संतों ने मंदिरों को संगीतमयी आराधना स्थलों में परिवर्तित कर दिया। उनकी तमिळ वाणी, जो एक ओर दार्शनिक ऊँचाई रखती थी, दूसरी ओर वह भक्तिरस में भी डूबी हुई थी, संगीत के माध्यम से सजीव बनती थी।

दक्षिण भारत का कर्नाटक संगीत तो स्वयं एक भक्ति-आधारित साहित्यिक परंपरा है। त्यागराज, मुथुस्वामी दीक्षितर, और श्याम शास्त्री जैसे संत-संगीतज्ञों ने अपनी रचनाओं में संस्कृत, तेलुगु, और तमिल भाषाओं के साहित्य को रागों में ढालकर साधना का स्वरूप प्रदान किया। इनकी रचनाएँ आज भी भारत के मंदिरों और संगीत मंचों पर आध्यात्मिक ऊँचाई का अनुभव कराती हैं।

यद्यपि भारतीय साहित्य और संगीत की जड़ें प्राचीन परंपरा में गहराई से पैठी हुई हैं, फिर भी इनका स्वरूप समय के साथ विकसित होता रहा है। आधुनिक भारत में भी यह संबंध न केवल जीवित है, बल्कि और भी अधिक बहुआयामी, लोकप्रिय और प्रभावशाली बन चुका है। बदलते सामाजिक, तकनीकी और सांस्कृतिक परिवेश ने इन दोनों विधाओं को एक ऐसा साझा मंच प्रदान किया है, जहाँ भाव, अभिव्यक्ति और सौंदर्य का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है।

बीसवीं शताब्दी में जब भारत में सिनेमा का जन्म हुआ, तब साहित्य और संगीत को एक नया मंच प्राप्त हुआ। विशेष रूप से हिंदी सिनेमा ने इन दोनों विधाओं को आम जनजीवन से जोड़ने का कार्य किया। अब कवियों की कल्पना मात्र पुस्तकों में सीमित न रहकर रजतपट पर जीवंत हो उठी, और उनके शब्द संगीत के सहारे जनमानस में गूँजने लगे।

साहिर लुधियानवी की सामाजिक चेतना, गुलजार की बिंबात्मक भाषा और जावेद अख्तर की दार्शनिक गहराई इन सबकी काव्य-रचनाएँ जब संगीतबद्ध होकर पर्दे पर आईं, तो उन्होंने न केवल लोगों का मनोरंजन किया, बल्कि उनकी भावनाओं, विचारों और संवेदनाओं को दिशा भी दी। गीतों में साहित्यिक उत्कृष्टता और सुरों का सम्मिलन ऐसा था कि वे लोक-संस्कृति का अभिन्न अंग बन गए। उदाहरणस्वरूप, “जाने वो कैसे लोग थे जिनके...” या “मोरा गोरा अंग लइ ले...” जैसे गीतों ने साहित्य को रागात्मक आत्मा प्रदान की।

उर्दू साहित्य, विशेषकर उसकी ग़ज़ल और क़व्वाली परंपरा, आधुनिक भारत में साहित्य और संगीत के गहनतम मेल का उदाहरण प्रस्तुत करती है। उर्दू ग़ज़ल की विशेषता उसकी संक्षिप्तता, सूक्ष्म भावनात्मकता और सौंदर्यपूर्ण शिल्प है, जिसे संगीत ने जन-जन तक पहुँचाने में अद्भुत भूमिका निभाई है।

मेहदी हसन, गुलाम अली, जगजीत सिंह, और बेगम अख्तर जैसे कलाकारों ने उर्दू ग़ज़लों को स्वरबद्ध कर उन्हें काव्य से संगीत की अमर कृतियों में रूपांतरित कर दिया। ये ग़ज़लें महज़ शायरी नहीं रहीं; वे संवेदनाओं की स्वरित भाषा बन गईं। “रंजिश ही सही दिल ही दुखाने के लिए आ...” या “कोई उम्मीद बर नहीं आती...” जैसे शेर आज भी लाखों दिलों की धड़कनों में शामिल हैं।

क़व्वाली और ठुमरी भी ऐसी विधाएँ हैं, जिनमें काव्यात्मक गहराई और संगीत की रचनात्मकता का अद्भुत संगम देखने को मिलता है। सूफ़ी कवियों की रचनाएँ जब स्वर के माध्यम से प्रस्तुत होती हैं, तब वे आध्यात्मिक उन्नयन का अनुभव कराती हैं।

नाटक, विशेषतः भारतीय रंगमंच, हमेशा से ही साहित्य और संगीत का संयुक्त क्षेत्र रहा है। आधुनिक युग में भी यह परंपरा जीवंत बनी रही। मराठी संगीत नाटक, बांग्ला थिएटर, और हिंदी रंगमंच में साहित्यिक कृतियों को संगीत के माध्यम से न केवल प्रस्तुत किया गया, बल्कि उन्हें भावनात्मक प्रभाव और सांस्कृतिक गहराई से भी समृद्ध किया गया।

विजय तेंडुलकर, हबीब तनवीर, गिरीश कर्नाड, और बद्रीनारायण जैसे नाटककारों की रचनाओं में संगीत, कथ्य और अभिनय एक त्रिवेणी के रूप में प्रवाहित होते हैं। मराठी 'संगीत नाटक' परंपरा, जिसमें संगीत शाकुंतल, कट्यार काळजात घुसली जैसे नाटक शामिल हैं, ने साहित्य को संगीत की आत्मा से जोड़ते हुए जनमानस तक पहुंचाया। इन प्रस्तुतियों में गीत कथानक के अंग बनकर, कथा की गति को संगीतात्मकता प्रदान करते हैं।

भारतीय संस्कृति की आत्मा को यदि शब्द और सुरों में रूपायित किया जाए, तो निस्संदेह वह साहित्य और संगीत के माध्यम से ही संभव है। ये दोनों केवल कला के अंग नहीं, बल्कि भारतीय जीवन-दृष्टि के अभिन्न सहचर हैं जो विचार, भाव और अनुभूति को ऐसी संप्रेषणीयता प्रदान करते हैं, जिससे समाज, शिक्षा और राष्ट्र निर्माण तक प्रभावित होते हैं। इन्हीं के माध्यम से संस्कृति न केवल संरक्षित होती है, बल्कि नवजीवन भी प्राप्त करती है।

शिक्षा केवल अकादमिक उपलब्धियों की पूर्ति नहीं, बल्कि चरित्र-निर्माण, संवेदनात्मक विकास, और सांस्कृतिक चेतना के निर्माण का माध्यम है। साहित्य और संगीत शिक्षा को मूल्यपरक दिशा देते हैं। जब कोई छात्र किसी काव्य को समझता है, या किसी रागबद्ध भजन को आत्मसात करता है, तो वह केवल विषयवस्तु नहीं सीखता वह मानवीय संवेदनाओं, नैतिक मूल्यों, और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भी अनुभव करता है। भाषा का साहित्य और रागों का संगीत उसे केवल ज्ञान नहीं, बल्कि जीवन-दृष्टि और आत्म-अभिव्यक्ति की क्षमता प्रदान करता है। यह आत्म-अनुशासन, सौंदर्य-बोध और रचनात्मकता को विकसित करने की दिशा में शिक्षा की भूमिका को समृद्ध करता है।

भारतीय राष्ट्र की सांस्कृतिक एकता को साहित्य और संगीत ने सदैव एकजुट रखने का कार्य किया है। “वंदे मातरम्”, “जन गण मन”, और “सारे जहाँ से अच्छा” जैसे गीत केवल स्वर-बंध नहीं, बल्कि भारत माता के प्रति श्रद्धा, देशभक्ति और एकात्मकता के घोष हैं। ये रचनाएँ अपने शब्दों में साहित्यिक सौंदर्य और सुरों में भावात्मक ऊँचाई समेटे हुए हैं। जब राष्ट्रीय पर्वों पर ये गीत सामूहिक रूप से गाए जाते हैं, तब वे केवल एक रस्म नहीं होते, बल्कि सांस्कृतिक स्मृति और राष्ट्रीय चेतना का पुनर्जागरण करते हैं। इन गीतों के माध्यम से नागरिकों में गौरवबोध, कर्तव्यपरायणता और समरसता की भावना जागृत होती है।

भारत की मिट्टी में ग्राम्य जीवन की सादगी, प्रकृति के साथ सहअस्तित्व, और सामाजिक सहयोग की भावना रची-बसी है। यहाँ साहित्य और संगीत जीवन की प्रत्येक अवस्था में गहराई से जुड़े हुए हैं। विवाह की रश्में, संतान जन्म, कृषि उत्सव, ऋतु परिवर्तन, और धार्मिक अनुष्ठान हर अवसर पर लोकगीत, भजन, दोहा, और गीतों के माध्यम से जीवन को उत्सव बनाया जाता है। लोकगीतों में छिपे शब्द और सुर किसी पांडित्य या औपचारिक विद्या के उत्पाद नहीं, बल्कि लोक की अनुभूतियों, आस्थाओं और स्मृतियों का संचित कोष हैं। उदाहरणस्वरूप, उत्तर भारत की सोहर और बिदाई गीत, महाराष्ट्र की ओवियाँ, बंगाल के बाउल, और पंजाब के गिद्धा गीत, ये सभी भारतीय समाज की गहरी सांस्कृतिक जड़ों को प्रकट करते हैं। इन रचनाओं में न केवल

साहित्यिक माधुर्य, बल्कि संगीतात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से सामाजिक सौहार्द, सांस्कृतिक निरंतरता, और आध्यात्मिक जुड़ाव का जीवंत रूप दिखाई देता है।

### निष्कर्ष

भारतीय साहित्य, संस्कृति और संगीत एक ऐसी त्रयी है, जो परस्पर सहचर बनकर हमारी सभ्यता की जड़ों को पोषित करती है। ये केवल हमारे गौरवशाली अतीत की झलक नहीं हैं, बल्कि वर्तमान समाज की चेतना और मूल्यबोध के निर्माण में भी अपनी सक्रिय भागीदारी निभाती हैं। भारतीय जीवन की गहराइयों को समझने के लिए इन तीनों की संगति को जानना आवश्यक है, क्योंकि इनमें निहित है उस जीवन-दृष्टि का सार, जो भारत को भारत बनाती है। इनका स्वरूप केवल शास्त्रों की सीमाओं या मनोरंजन की सतही परिधियों तक सीमित नहीं, बल्कि ये भारतीय आत्मा की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति और चेतना के आधारस्तंभ हैं। अतः यदि भारतीय समाज के मौलिक स्वरूप को समग्रता में समझना है, तो साहित्य, संस्कृति और संगीत का अध्ययन केवल एक बौद्धिक अभ्यास नहीं, अपितु एक आत्मिक अन्वेषण बन जाता है।

### संदर्भ :-

- द्विवेदी, हजारी प्रसाद. (2007). हिन्दी साहित्य की भूमिका. नई दिल्ली, भारत: राजकमल प्रकाशन.
- सिंह, नामवर. (2010). हिन्दी साहित्य की परम्परा और विकास. नई दिल्ली, भारत: वाणी प्रकाशन.
- गुहा, रामचंद्र. (2012). भारत: एक जीवित परंपरा. (S. Tripathi, Trans.). New Delhi, India: Penguin Books India. (Original work published 2007 as India after Gandhi)
- शास्त्री, सत्यव्रत. (2005). भारतीय संस्कृति और संस्कृत साहित्य. वाराणसी, भारत: चौखम्बा विद्याभवन.
- भट्ट, कपालेश्वर. (2015). भारतीय संगीत: एक अध्ययन. नई दिल्ली, भारत: संगीत नाटक अकादमी.
- बाशम, ए. एल. (2006). भारतीय संस्कृति की विरासत [The wonder that was India] (S. K. Singh, Trans.). New Delhi, India: Rupa Publications. (Original work published 1954 as the wonder that was India)

## समाज, संस्कृति तथा परम्परा में काशी का अवदान : 19वीं शताब्दी के सन्दर्भ में

डॉ. विनोद कुमार<sup>1</sup>

bhu.vinod@gmail.com

पौराणिक अनुश्रुतियों तथा लोकविश्वासों में काशी का विशेष स्थान है जहां बहुविध समाजिक, धार्मिक-सांस्कृतिक गतिविधियों की निरन्तरता प्राचीनकाल से वर्तमान तक विद्यमान है। काशी शिव का स्थायी निवास है तथा अन्य सभी तीर्थों के देवता यहाँ निवास करते हैं, काशी भूतल से पृथक है, जब प्रलयकारी जलप्लावन से सम्पूर्ण पृथ्वी तिरोहित हो जायेगी तब केवल काशी बची रहेगी; काशी में मरण से परमपद मिलता है', इत्यादि कई विश्वास, आस्थाएं तथा मान्यताएं इस क्षेत्र से जुड़ी हैं। हिन्दुओं के प्रमुख तीर्थ स्थान के रूप में प्रसिद्ध काशी एक ऐसा क्षेत्र था जो प्रारम्भ से लेकर अंग्रेजों के आगमन तक विभिन्न विद्वानों की रुचि का केन्द्र रहा है, विशेषकर विदेशियों के लिए। इस क्षेत्र की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, पुरातात्विक तथा सांस्कृतिक गतिविधियाँ सभी कौतूहल का विशय रहीं थीं, फिर चाहे वह जेम्स प्रिंसेप हां, एम.ए.शेरिंग, एच.आर.नेविल या इडविन ग्रीब्ज।<sup>1</sup> प्राचीन समय से लेकर वर्तमान तक काशी में कई परिवर्तन हुए, किन्तु जो परिवर्तन ब्रिटिश शासन के दौरान आए, वे लम्बे समय तक अस्तित्व में रहे। 19वीं शताब्दी के दौरान लगभग सभी स्तर पर चाहे वह राजनीतिक हो, धार्मिक हो, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक सभी स्तरों पर जो परिवर्तन आया, उसके प्रभाव आज भी देखे जा सकते हैं।

19वीं शताब्दी की सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों को समझने के लिए इस शहर की पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक है।



(कैलासनाथ शुक्ल का काशीदर्पण पाठ, काशी का मानचित्र, 1876 ई०. स्रोत: भारत कला भवन, काशी)

<sup>1</sup> भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली

### काशी का ऐतिहासिक स्वरूप :

काशी को कई नामों से जाना जाता था जिनमें वाराणसी, बनारस, अविमुक्ता, आनन्दवन, रूदावस तथा महाश्मशान प्रमुख थे। ऐतिहासिकता की दृष्टि से काशी, वाराणसी तथा बनारस अन्य की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध रहे हैं। काशी शब्द सबसे पहले अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा से आया, और इसके बाद शतपथ ब्राह्मण में<sup>2</sup> इस क्षेत्र के नाम को लेकर विद्वानों में मतभेद है। इतिहासकार ए. एस. अल्तेकर के अनुसार इस क्षेत्र का नाम काशी, इसके शासक 'काश' के कारण पड़ा, जो अपने वंश का 7वां शासक था<sup>3</sup> जबकि इडवीन ग्रीव्ज इसे स्वीकार नहीं करते, उनके अनुसार काश शासक का कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं है<sup>4</sup> वाराणसी इस जनपद की राजधानी रही थी, इसे लेकर कोई मतभेद नहीं है,<sup>5</sup> किन्तु डायना एल. इक इस बात का खंडन करती हैं कि इस शहर का वाराणसी नाम वरूणा और अस्सी नदी के बीच अवस्थित होने के कारण पड़ा। उनके अनुसार पुरातात्विक उत्खनन से स्पष्ट है कि अस्सी नदी प्राचीन समय में दक्षिण किनारे पर मुश्किल से ही अस्तित्व में रही होगी<sup>6</sup> बनारसी या बनारस नाम अधिकतर बौद्धिक साहित्य में मिलता है, जिसको मुगलों के समय अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई<sup>7</sup> इस तरह काशी की ऐतिहासिकता के कई तथ्य अभी भी प्रकाश में आने बाकी हैं।

06वीं शताब्दी तक गुप्त वंश तथा बाद में हर्षवर्धन के पश्चात 11वीं तथा 12वीं शताब्दी में यह क्षेत्र कन्नौज के शासन में आया<sup>8</sup> 13वीं, 14वीं, 15वीं तथा 16वीं शताब्दी तक काशी कभी कम या कभी अधिक दिल्ली सल्तनत तथा मुगल शासकों के प्रभुत्व में बना रहा<sup>9</sup> मुगल शासन के दौरान काशी में लौकिक देवताओं की संख्या अनगिनत थी। गंगास्नान, व्रत, देव पूजा, उपवास, ब्राह्मण भोज, तीज-त्यौहार आदि परम्पराएं व्यवस्थानुसार प्रचलन में थीं। फ्रांसीसी यात्री तावेनियर द्वारा गंगाजल के पानी का पान होते हुए देखा गया तथा हिन्दू-मुसलमानों की एक साथ शिक्षा-दीक्षा का उल्लेख भी उन्होंने किया<sup>10</sup> इसके अलावा जब फ्रांसीसी विद्वान तथा चिकित्सक बर्नियर औरंगजेब के शासन (17वीं शताब्दी के दौरान) के समय यहाँ के धार्मिक रीति रिवाजों तथा बौद्धिक जीवन को देखते थे, तो वह इसे 'एथेन्स आफ इंडिया' कहते थे<sup>11</sup>

काशी नरेश: 1707 में औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य में व्यापक स्तर पर राजनीतिक उथल-पुथल हुई। इसी बीच मुगलों के पतनोन्मुख अवस्था में काशी की जमींदारी 1725 ई० में मनसाराम को मिलती है। अवध के नवाब ने 1765 में बक्सर में पराजित होने के बाद काशी को ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधीन कर दिया। इस समय दौरान काशी मनसाराम के उत्तराधिकारी बलवन्त सिंह (1740-1770) के अधीन थी<sup>12</sup> आगे चलकर काशी तथा कम्पनी के बीच रिश्ते खराब होते चले गए। गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स के समय कम्पनी को हैदर अली तथा मराठों से युद्ध का सामना करना पड़ा, जिस कारण उन्होंने तत्कालीन काशी के राजा चेतसिंह (1770-1781, बलवन्त सिंह के उत्तराधिकारी) से अतिरिक्त धन की मांग की। यहीं से काशी तथा कम्पनी के बीच मनमुटाव आरम्भ होता है। अन्त में वारेन हेस्टिंग्स द्वारा राजा चेतसिंह की जगह महीप नारायण सिंह (1781-1795) को गद्दी पर बिठाया गया<sup>13</sup> इनके बाद क्रमशः राजा उदित नारायण सिंह (1795-1835), राजा ईश्वरी नारायण सिंह (1835-1889), राजा प्रभुनारायण सिंह (1889-1931), राजा आदित्य नारायण सिंह (1931-1939), स्वतन्त्रता के समय राजा विभूति नारायण सिंह (1939-2000) तथा वर्तमान में महाराजा अनंत नारायण सिंह गद्दीसीन हुए।

**19वीं शताब्दी में काशी का स्वरूप :**

आधुनिक भारत के सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से 19वीं शताब्दी बहुत महत्वपूर्ण थी। इसी शताब्दी के दौरान राजाराम मोहन राय के सामाजिक तथा धार्मिक सुधार प्रयासों ने आगे चलकर एक आन्दोलन का रूप ले लिया तो दूसरी तरफ 1857 का महासमर, विभिन्न विश्वविद्यालयों की स्थापना तथा कांग्रेस का गठन भी इसी शताब्दी में हुआ।

काशी से आरम्भ हुई पत्रकारिता के दृष्टिकोण से भी यह शताब्दी उतनी ही महत्वपूर्ण थी, क्योंकि यही वह समय था जब 1845 ई. में पहली बार न केवल काशी से अपितु सम्पूर्ण प्रदेश से कोई समाचार पत्र (बनारस अखबार) प्रकाशित हुआ। तत्पश्चात् काशी से सुधाकर (1850), आफताब-ए-हिन्द (1852), कविवचन सुधा (1867), हरिश्चन्द्र मैगज़ीन (1873), भारत जीवन (1884), नवजीवन (1909), इन्दु (1909), आज (1920), हंस (1930), चिंगारी तथा सन्मार्ग (1946) इत्यादि कई पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया गया।<sup>14</sup> इसी शताब्दी के दौरान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850-1885) तथा राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द (1823-1895) जैसी विभूतियाँ यहाँ जन्मीं तथा 1820 ई. में जेम्स प्रिंसेप का काशी आगमन भी हुआ।<sup>15</sup>

जेम्स प्रिंसेप ने अपने निवास के दौरान काशी के समाज और संस्कृति को बहुत नजदीक से देखा। यह उनका काशी प्रेम ही था कि उन्होंने तत्कालीन समय को अपनी कृतियों तथा पेंटिंग के माध्यम से सम्पूर्ण विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। जेम्स प्रिंसेप 1830 ई० में अपनी बहन को लिखे खत में काशी के घाट, पहनावे, संस्कृति तथा भौतिक परिवेश के विशय में लिखते थे कि वे इस क्षेत्र के रहन-सहन तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से बहुत प्रभावित हैं। प्रिंसेप ने यहाँ रहकर कई उल्लेखनीय कार्य किए, जैसे पानी के निकास के लिए नाले की योजना बनाना, पहली बार निरीक्षण आधारित बनारस का मानचित्र तैयार करना तथा एक विश्वसनीय एवं प्रमाणिक जनगणना को प्रस्तुत करना। प्रिंसेप द्वारा निर्मित तथा पूर्ण निरीक्षित जनगणना की विश्वसनीयता इस बात से परखी जा सकती है कि 1827-28 ई. में उनके द्वारा तैयार की गई काशी शहर की जनसंख्या 1,81,482 थी तथा जब 1872 में ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रशासनिक स्तर पर पहली बार जनगणना कराई गई, तब वह 1,75,188 प्राप्त हुई।<sup>16</sup> जेम्स प्रिंसेप द्वारा की गई इस जनगणना के अनुसार शहर में शूद्रों के बाद ब्राह्मणों की संख्या सबसे अधिक थी। साथ ही उस समय की कुल जनसंख्या का लगभग 1/5 भाग मुसलमानों का था, जो कि एक हिन्दू शहर कहे जाने वाले काशी के लिए आश्चर्यजनक था। जेम्स प्रिंसेप की जनगणना यह बताती है कि हिन्दुओं में लगभग 20,000 ब्राह्मणों का जीवन निर्वाह दान-दक्षिणा पर निर्भर था। उन्हें यह दान-दक्षिणा बहुसंख्यक धार्मिक परिवारों तथा मठों द्वारा नियमित रूप से प्राप्त होती थी।<sup>17</sup>

भारत की 'सांस्कृतिक राजधानी' माने जाने वाले काशी ने आस्था के क्षेत्र में सदैव विस्तार किया। 19वीं शताब्दी के दौरान काशी नरेश के संरक्षण में भव्य स्तर पर पर्वा को मनाना, तीर्थ यात्रियों की संख्या में वृद्धि, मन्दिरां, मठों तथा घाटों की मरम्मत, निर्माण एवं दान ने सांस्कृतिक तथा धार्मिक दोनों क्षेत्रों में काशी को मजबूत कर दिया।<sup>18</sup> पवित्र शहर के नाम से प्रसिद्ध काशी में पुण्य तथा धर्मपरायणता को लेकर धार्मिक यात्रा पर आए तीर्थयात्री इस क्षेत्र की सीमा में प्राण त्यागने की कामना रखा करते थे, ताकि शिव की इस नगरी में देहवसान पर उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हो सके। विशेष त्यौहारों तथा अवसरों पर तो काशी की जनसंख्या दुगुनी हो जाया करती थी। चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, पूर्णिमा तथा अमावस्या आदि पर विभिन्न घाटों पर गीत संगीत तथा

संध्या कार्यक्रम होते थे तथा कभी अवसरों पर तो गंगा-किनारे स्नान करने वालों की संख्या 50,000 से भी अधिक हुआ करती थी।<sup>19</sup>

(जेम्स प्रिंसेप द्वारा चित्रित काशी में चन्द्रग्रहण, 25 नवम्बर 1825 स्रोत: भारत कला भवन, काशी)



### काशी का स्त्री समाज :

काशी अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक महत्व को लेकर सदैव प्रसिद्ध रहा है। यहाँ विभिन्न धर्मों एवं संस्कृतियों (बौद्ध, जैन, हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख तथा ईसाई आदि) का समन्वय रहा जो यहाँ निर्मित विश्वनाथ मन्दिर, ज्ञानवापी मस्जिद, सारनाथ, तथा सेन्ट थॉमस चर्च आदि के रूप में देखा जा सकता है। हिन्दू धर्म के अनुयायियों के लिए तो यह मोक्ष प्राप्ति का स्थान था तथा यहां के सांस्कृतिक कार्यक्रम एवं उत्सवों में स्त्री-पुरुष भागीदारी देखने को प्राप्त होती है। अन्य प्रान्तों की तरह ही 19वीं शती में काशी में पुरुषों की संख्या तथा भूमिका महिलाओं की अपेक्षा अधिक एवं प्रभावशाली थी।

विभिन्न प्रशासनिक जनगणनाओं में जनसंख्या के आँकड़े यह इंगित करते हैं कि काशी में स्त्री-पुरुष के मध्य कोई विशेष अन्तर नहीं था किन्तु यह अवश्य था कि जब 1872 ई0 में ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रथम जनगणना कराई गई तब पुरुषों तथा महिलाओं के बीच जो अन्तर 12,556 था, वह 1901 में बढ़कर 25,390 हो गया जो इस तालिका से स्पष्ट होता है :

1872 से काशी शहर की जनसंख्या:

वर्ष	जनसंख्या	पुरुष	स्त्री	अन्तर
1901	2,09,331	1,11,280	85,890	25,390
1891	2,19,467	1,06,713	81,999	24,714
1881	2,14,758	86,445	64,999	21,466
1872	175,188	67,663	55,107	12,556

स्रोत: सेंसस रिपोर्ट आफ इन्डिया, 1901

विभिन्न धर्मों में इस स्त्री-पुरुष की संख्या के बीच भिन्नता दिखाई देती है। 1901 की जनगणना के अनुसार हिन्दू धर्म में पुरुष 79,731 थे तथा महिलाएँ 74,090 एवं मुसलमानों में क्रमशः 27,964 तथा 25,602। ऐसे ही ईसाईयों में 222 पुरुष तथा 424 महिलाएँ तथा जैन धर्म में 177 पुरुष एवं 166 महिलाएँ थीं<sup>20</sup> 1865 ई. की जनगणना के अनुसार 1853 ई. में 100 पुरुषों के अनुपात में महिलाओं का अनुपात जो 90.35 था, वह 1865 ई. में गिरकर 88.21 हो गया। विभिन्न धार्मिक स्तर पर 1853 ई. में हिन्दू धर्म में 100 पुरुषों पर महिलाओं का अनुपात 83.30 था, जो 1865 ई. में बढ़कर 87.97 हो गया किन्तु मुस्लिम धर्म में 100 पुरुषों पर महिलाओं का अनुपात जो 1853 में 93.99 था वह 1865 में कम होकर 90.50 हो गया जो निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है :

**स्त्री-पुरुष अनुपात :**

वर्ष	1865	1853
लिंग	पुरुष - स्त्री	पुरुष - स्त्री
जनसंख्या अनुपात	100 : 88.21	100 : 90.35
हिन्दू	100 : 87.97	100 : 83.30
मुस्लिम	100 : 90.50	100 : 93.99

स्रोत: सेंसस् आफ नोर्थ वेस्ट प्रोविन्सस् 1865

इसके अलावा लिंगानुपात के साथ-साथ शैक्षिक स्तर पर भी स्त्री-पुरुष के मध्य बहुत अन्तर आने लगा था जो निम्नलिखित तालिका में दी गई जानकारी से स्पष्ट होता है :

**1881 से 1901 के बीच काशी में स्त्री-पुरुष साक्षरता दर**

काशी में साक्षरता जनगणना	पुरुष (%)	स्त्री (%)
1881 जनगणना	8.3	0.37
1891 "	10.00	0.55
1901 "	11.22	0.79
हिन्दू (1901)	11.16	0.65
मुस्लिम "	9.27	0.61
नोर्थ वेस्ट प्रोविन्सस् में	3.11	0.24

स्रोत: एच0आर0नेविल, बनारस: ए गजेटियर, 1909

तालिका से स्पष्ट है कि 1881 से 1901 तक 20 वर्षों में जहाँ पुरुष साक्षरता दर में वृद्धि 2.92 प्रतिशत हुई, वहीं स्त्रियों में यह वृद्धि 0.42 प्रतिशत थी किन्तु यह अवश्य है कि नोर्थ वेस्ट प्रोविन्सस् की तुलना में काशी की स्थिति संतोषजनक थी।

**काशी का सांस्कृतिक स्वरूप :**

काशी की संस्कृति में त्यौहारों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है तथा गंगा से जुड़े उत्सव यहां अधिक धूमधाम से मनाये जाते थे। काशी की उत्सव परम्परा के कारण ही यहाँ 'सात वार-नौ त्यौहार' की कहावत प्रचलित थी<sup>21</sup> ऐसे पर्वों में से एक था बुढ़वा मंगल मेला।

काशी के ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक जीवन को अपना महत्व है। यहां होली के बाद पड़ने वाले प्रथम मंगलवार को या फिर संवत् के अंतिम मंगल को गंगा के तट पर एक अनूठा मेला लगता था, जिसे बुढ़वा मंगल कहा जाता था। इनके अनुसार इसका सही उच्चारण बुधवा मंगल (बुध) था, न कि बुढ़वा मंगल।<sup>22</sup> जेम्स प्रिंसेप द्वारा बुढ़वा मंगल का एक चित्र उद्धरित किया गया, जिसमें काशी खण्ड का उल्लेख करते हुए बताया गया कि होली के बाद वाले मंगल को दिन में लोग दुर्गाजी (सम्भवतः वर्तमान दुर्गाकुण्ड) दर्शन करने जाते थे तथा वहीं कुण्ड के पास यह मेला बड़ी धूम-धाम के साथ लगता था।<sup>23</sup> 1735 ई. में काशी के चकलेदार मीर रुस्तम अली ने इस मेले का आयोजन किया, जो आगे चलकर महाराजा ईश्वरी नारायण सिंह के समय (1835-1889) अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया।<sup>24</sup> महाराज ईश्वरी नारायण सिंह के शासन में बुढ़वा मंगल मेले में महाराज की मोर पंखी नाव और घुड़दौड़ नाव हुआ करती थी। साथ ही मेले में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके मित्र चौधरी प्रेम नारायण 'प्रेम घन', मिर्जापुर से सजे हुए बजड़े लेकर आते थे। काशी में बिताए अपने समय के दौरान भारत के वायसराय डफरिन की पत्नी ने (सन् 1884-88 के) अपने संस्मरण में इस मेले का विशेष रूप से उल्लेख किया है जिसमें उन्होंने जलोत्सव, चित्रित नावें, दो मंजिली नावें, नावों पर नाच तथा मुजरा इत्यादि की चर्चा की है।<sup>25</sup> यह मेला तीन दिन तक लगातार चलता था तथा 19वीं शताब्दी में यह अपनी पराकाष्ठा पर रहा था।

बुढ़वा मंगल मेले का सीधा सम्बन्ध होली से होता था। इस दिन काशी के लोग दशाश्वमेध स्थित चौसट्टी देवी का दर्शन करते थे। इसके अलावा विश्वनाथ मंदिर पर भी लोगों की भीड़ लगा करती थी तथा अन्त में बुढ़वा मंगल के दिन काशी में होली का समापन होता था।<sup>26</sup> होली से सम्बन्धित नरसिंह लीला का आयोजन दो महत्वपूर्ण स्थानों, बड़ा गणेश के पास तथा प्रहलाद घाट पर होता था। नरसिंह चतुर्दशी को प्रहलाद घाट पर होने वाली लीला का विस्तार बाद में हुआ। इसकी प्रेरणा बाल गोविन्द बृजकवि से प्राप्त हुई। कवि ने लीला के लिए प्रहलाद चरित्र का प्रणयन किया। इसका आरम्भ गुरुवार, श्रावण शुक्ल 5 संवत् 1922 (सन् 1865) को किया गया। प्रहलाद् घाट की नरसिंह लीला वैशाख शुक्ल एकादशी से ज्येष्ठ की प्रतिपदा तक होती थी।<sup>27</sup> इसके अलावा काशी में रामनगर की रामलीला एक ऐसा त्यौहार था जो समय के साथ-साथ और भव्य होता गया।

19वीं शताब्दी के दौरान काशी के सर्वाधिक प्रसिद्ध सांस्कृतिक त्यौहारों में से एक थी, रामलीला। महाराजा विभूति नारायण अपने एक साक्षात्कार में बताते हैं कि रामनगर में आयोजित होने वाली रामलीला 19वीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में प्रारम्भ हुई।<sup>28</sup> इस शताब्दी के अन्त तक आते-आते इसका आयोजन भव्य स्तर पर किया जाने लगा जिसका उल्लेख तत्कालीन समाचार पत्रों में भी प्राप्त होता है।<sup>29</sup> इस समय के दौरान काशी के लगभग प्रत्येक हिन्दू परिवार में रामचरित मानस का पाठ किया जाता था तथा सभी के मन में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की पवित्र तथा सम्माननीय छवि रहा करती थी (जो आज भी जीवन्त है)। 19वीं शताब्दी में काशी के व्यापारी गण द्वारा रामलीला को संरक्षण तथा प्रेम ने इस पर्व को सांस्कृतिक, सामाजिक तथा धार्मिक स्तर पर विशिष्ट पहचान दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इन लीलाओं में नक्कटैया (नाक कटना) की लीला का भी बहुत महत्व था। चित्रकूट की रामलीला में नाटी इमली का भरत मिलाप और चेतगंज की रामलीला में नक्कटैया को अधिक ख्याति प्राप्त थी। यह पर्व करवा चौथ के दिन हुआ करता था। सभी लीलाओं में नक्कटैया (खर दूषण और शूपर्णखा का युद्ध यात्रा) के जुलूस पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इस नक्कटैया को 19वीं तथा 20वीं शताब्दी की काशी के कई

प्रतिष्ठित विभूतियों का सहयोग प्राप्त था जिनमें शिव प्रसाद गुप्त, डॉ. भगवानदास, श्री प्रकाश, डॉ. सम्पूर्णानन्द, आचार्य नरेन्द्र देव, मुंशी प्रेमचन्द तथा जयशंकर प्रसाद आदि प्रमुख थे।<sup>30</sup> इस प्रकार का वर्णन काशी की रथयात्रा के संदर्भ में भी प्राप्त होता है।

काशी के विश्वनाथ तथा उड़ीसा के जगन्नाथ देवता के बीच तादात्म्यता का उदाहरण काशी की रथयात्रा थी। इस रथयात्रा का इतिहास लगभग 200 वर्ष पुराना है। संभवत वारेन हैस्टिंग्स जब 1781 ई. में काशी के पंडित बेनीराम बाग में रुके, उसी समय से काशी की रथयात्रा का शुभारम्भ हुआ तथा वह चौमुहानी ही रथयात्रा चौमुहानी कही जाने लगी। इस रथयात्रा में पं. बेनीराम के वंशजों का सक्रिय योगदान रहा था। 18वीं तथा 19वीं शताब्दी से ही सर्वप्रथम काशी नरेश दर्शन-पूजन के लिए आते थे। तत्पश्चात हजारों श्रद्धालु भगवान जगन्नाथ का दर्शन तथा रथ खींचकर पुण्य लाभ प्राप्त करते हैं।<sup>31</sup>

इस तरह 19वीं शताब्दी में भारतीय शाश्वत परम्परा एवं संस्कृति का जीवंत रूप काशी के तीज-त्यौहारों में देखने को मिला जिसमें समय के साथ-साथ परिवर्तन भी आते गए। यहाँ नवरात्रि मेला, गनगौर, नरसिंह चौवस, गंगा सप्तमी, निर्जला एकादशी, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, गणेशोत्सव, जन्माष्टमी, नवरात्रि, कजरी तीज, डेला चौथ, लोलार्क छठ, सोरहिया मेला, दुर्गामेला, पंचक्रोशी मेला तथा लोटाभांट आदि स्थानीय-विशेष पर्व भी प्रचलन में रहे थे।

काशी के घाटों का सामरिक महत्व : काशी के अधिकतम त्यौहार यहाँ के घाटों पर मनाये जाते थे। यह 'घाट' शब्द संस्कृत भाषा के 'घट' शब्द से बना है, जिसका सामान्य अर्थ नदी एवं सरोवर तट का वह भाग है जहाँ जन सामान्य दैनिक अथवा पर्व विशेष पर स्नान, दान तथा पूजा जैसे कार्यों का सम्पादन करते हैं। सांस्कृतिक स्तर पर काशी की नदियों एवं सरोवरों पर स्थित घाटों में गंगा तट पर स्थित घाटों का सर्वाधिक महत्व था। गंगा के पश्चिमोत्तर तट पर अस्सी से आदि केशव या वरुणा संगम (दक्षिणी सीमा से उत्तरी सीमा) तक फैले घाटों का काशी के धार्मिक, सांस्कृतिक, कलात्मक एवं व्यापारिक उन्नति में महत्वपूर्ण योगदान है। 18वीं शती में घाटों, मंदिरों एवं भवनों के निर्माण की प्रभूत गतिविधियाँ गति पकड़ चुकी थी, किन्तु भारत के विभिन्न भागों के शासकों एवं सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा घाटों को पक्का कराने तथा उन पर भवन, मंदिर, मठ और धर्मशाला आदि बनवाने की परम्परा का विकास 19वीं शती में अधिक हुआ। ये घाट ही काशी के सांस्कृतिक उत्सवों तथा त्यौहारों का प्रमुख केन्द्र रहे थे।<sup>32</sup> 19वीं ई. में घाटों तथा उन पर बने महलों, भवनों एवं मंदिरों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई, जिस कारण पूर्व के कुछ घाट छोटे-छोटे भागों में बंट गए। उदाहरणार्थ अस्सी घाट क्रमशः गंगामहल, रीवा, तुलसी तथा भदनी (या जलकल) घाट में विभाजित हो गया।<sup>33</sup> 19वीं शती के दौरान काशी के पांच घाटों का सामरिक महत्व अन्य घाटों की अपेक्षा अधिक था। ये घाट थे 'अस्सी घाट, दशाश्वमेध घाट, मणिकर्णिका घाट, पंचगंगा घाट तथा वरुण संगम या घाट'। इसी क्रम में ये पांचो घाट गंगा नदी पर अवस्थित थे। अधिकतर धार्मिक तथा सांस्कृतिक कार्यक्रम, मेले तथा उत्सव इन्हीं घाटों पर मनाये जाते थे।<sup>34</sup> काशी की धार्मिक, सांस्कृतिक निरन्तरता के समन्वयात्मक विराट स्वरूप इन घाटों की मरम्मत तथा निर्माण में मुख्य योगदान मराठों का रहा था।<sup>35</sup> धार्मिक तथा सांस्कृतिक ही नहीं बल्कि व्यापारिक कारणों से भी ये घाट 19वीं शताब्दी में काफी महत्वपूर्ण थे विशेषकर खत्री, अग्रवाल तथा गुजराती आदि व्यापारियों के लिए गंगा मार्ग से व्यापार करना सुगम एवं लाभकारी था।<sup>36</sup>

इस तरह 19वीं शताब्दी, काशी के निरन्तरता प्रवाह की दृष्टि में एक महत्वपूर्ण शताब्दी रही है। 18वीं शताब्दी अन्त तक आते-आते जहाँ 1781 ई. में राजनीतिक शक्ति अंग्रेजों के हाथों में चली गयी, वही 1791

ई० में बनारस संस्कृत कॉलेज की स्थापना ने आधुनिक शिक्षा पद्धति को आरम्भ कर दिया। 19वीं शताब्दी के आरम्भ से ही परिवर्तन की यह लहर और तीव्र हो गई। 1810 ई. में गृहकर को लेकर समाज में रोष प्रकट किया जाता है, तो 1820 ई. में जेम्स प्रिंसेप का काशी आगमन हुआ, जो यहां की सांस्कृतिक परम्परा के साक्षी बनते हैं। 19वीं शताब्दी के मध्य में न केवल काशी में अपितु सम्पूर्ण नोर्थ वेस्ट प्रोविन्सस् में पत्रकारिता का आरम्भ होता है, जब 1845 ई. में शिव प्रसाद द्वारा बनारस अखबार पत्र का प्रकाशन किया गया। इन सब के अलावा कई ऐसे विख्यात लोग 19वीं शताब्दी की काशी के इतिहास का अंग रहे हैं, जिनके द्वारा किए गए कार्यों तथा प्रयासों का परिणाम ही आज का वाराणसी शहर माना जाता है। इनमें जेम्स प्रिंसेप (1799-1840), 'राजा' शिव प्रसाद 'सितारे हिन्द' (1823-1895), एम.ए.शेरिंग; 1828-1880, द्वार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850-1885), एनी बेसेन्ट (1847-1933) तथा मदन मोहन मालवीय (1861-1946) आदि द्वारा स्थापित संस्थाएं, इमारतें, स्कूल, पाठशालाएँ तथा सामाजिक-धार्मिक सुधार सम्बन्धित कार्य सम्मिलित है। काशी के स्त्री समाज की स्थिति जहां प्रदेश के अन्य स्थानों की तुलना अधिक में संतोषजनक रही, तो वहीं यहां के तीज-त्यौहारों में उल्लास तथा सामाजिक समरसता एवं घाटों की सामरिक महत्ता में उल्लेखनीय वृद्धि इस समय के दौरान देखने को मिली। भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का केन्द्र होने के कारण काशी का सांस्कृतिक जीवन एक आदर्श प्रस्तुत करता था, जो आज भी अनुकरणीय है। इस तरह काशी की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्परा का अजस्र प्रवाह वैदिक काल से वर्तमान तक निरन्तर गतिशील एवं प्रवाहित है।

### संदर्भ :

- <sup>1</sup> प्रिंसेप, जेम्स. (1830). बनारस इल्युस्ट्रेटेड. कलकत्ता.; शेरिंग, एम. ए. (1872). हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स. कलकत्ता: टैकर, स्पिंक एण्ड कंपनी.; नेविल, एच. आर. (1909). बनारस: ए गजेटियर. इलाहाबाद: गवर्नमेंट प्रेस. पृ. 32.; ग्रीव्स, एडविन. (1909). काशी: द सिटी इल्युस्ट्रियस. इलाहाबाद.
- <sup>2</sup> मोतीचन्द्र. (1957). काशी का इतिहास. वाराणसी. पृ. 20.
- <sup>3</sup> अल्लेकर, ए. एस. (n.d.). हिस्ट्री ऑफ बनारस. पृ. 9.
- <sup>4</sup> ग्रीव्स, एडविन. (1909). काशी: द सिटी इल्युस्ट्रियस. इलाहाबाद. पृ. 2
- <sup>5</sup> शुक्ल, के. एन. (1965). वाराणसी डाउन द एजेस. वाराणसी. पृ. 2.
- <sup>6</sup> इक, डायना एल. (1982). बनारस: द सिटी ऑफ लाइट. न्यूयॉर्क: कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस. पृ. 7.
- <sup>7</sup> सिंह, राणा पी. बी. (2009). बनारस: द हेरिटेज सिटी ऑफ इंडिया. वाराणसी: इन्डिका बुक्स. पृ. 37.
- <sup>8</sup> मोतीचन्द्र. (1957). काशी का इतिहास. वाराणसी. पृ. 117-32
- <sup>9</sup> ग्रीव्स, एडविन. (1909). काशी: द सिटी इल्युस्ट्रियस. इलाहाबाद. पृ. 4.
- <sup>10</sup> मोतीचन्द्र. (1957). काशी का इतिहास. वाराणसी. पृ. 226
- <sup>11</sup> मोतीचन्द्र. (1957). काशी का इतिहास. वाराणसी. पृ. 226
- <sup>12</sup> कोहन, बी. एस. (1987). एनथ्रोपोलॉजिस्ट अमंग द हिस्टोरियन्स एण्ड अदर एस्सेज. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. पृ. 350.

- <sup>13</sup> कोहन, बी. एस. (1987). *एनथ्रोपोलॉजिस्ट अमंग द हिस्टोरियन्स एण्ड अदर एस्सेज*. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. पृ. 350.
- <sup>14</sup> वाजपेयी, अम्बिका प्रसाद. (1950). *समाचार पत्रों का इतिहास*. इलाहाबाद. पृ. 132–156.
- <sup>15</sup> शेरिंग, एम. ए. (1872). *हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स*. कलकत्ता: ठैकर, स्पिंक एण्ड कंपनी. पृ. 285–295.
- <sup>16</sup> रिसले, एच. एच. (1903). *सेंसस रिपोर्ट ऑफ इंडिया, 1901*. कलकत्ता: गवर्नमेंट ऑफ इंडिया प्रेस. पृ. 16.
- <sup>17</sup> प्रिंसेप, जेम्स. (1830). *बनारस इल्युस्ट्रेटेड*. कलकत्ता. पृ. 14
- <sup>18</sup> अल्लेकर, ए. एस. (n.d.). *हिस्ट्री ऑफ बनारस*. पृ. 9
- <sup>19</sup> प्रिंसेप, जेम्स. (1830). *बनारस इल्युस्ट्रेटेड*. कलकत्ता. पृ. 44
- <sup>20</sup> प्रिंसेप, जेम्स. (1830). *बनारस इल्युस्ट्रेटेड*. कलकत्ता. पृ. 46
- <sup>21</sup> मोतीचन्द्र. (1957). *काशी का इतिहास*. वाराणसी. पृ. 403
- <sup>22</sup> शेरिंग, एम. ए. (1868). *बनारस: द सेक्रेड सिटी ऑफ द हिन्दूस*. लन्दन: टूबनर एण्ड कंपनी. पृ. 229
- <sup>23</sup> प्रिंसेप, जेम्स. (1830). *बनारस इल्युस्ट्रेटेड*. कलकत्ता. पृ. 87
- <sup>24</sup> मोतीचन्द्र. (1957). *काशी का इतिहास*. वाराणसी. पृ. 408
- <sup>25</sup> मेहता, भानुशंकर. (n.d.). *सो कासी सेइअ कस न*. पृ. 171
- <sup>26</sup> शुक्ल, के. एन. (1965). *वाराणसी डाउन द एजेस*. वाराणसी. पृ. 37
- <sup>27</sup> शेरिंग, एम. ए. (1868). *बनारस: द सेक्रेड सिटी ऑफ द हिन्दूस*. लन्दन: टूबनर एण्ड कंपनी. पृ. 227–228
- <sup>28</sup> कपूर, अनुराधा. (2004). *एक्टर, पिलग्रिम्स, किंग एण्ड गॉड: द रामलीला ऑफ रामनगर*. नई दिल्ली: सीगल बुक्स. पृ. 4–6
- <sup>29</sup> *भारत जीवन समाचार पत्र*. (1898, 17 जनवरी). वाराणसी
- <sup>30</sup> सिंह, देवी प्रसाद. (n.d.). *काशी की जीवन शैली*. वाराणसी. पृ. 185
- <sup>31</sup> सिंह, देवी प्रसाद. (n.d.). *काशी की जीवन शैली*. वाराणसी. पृ. 189
- <sup>32</sup> शेरिंग, एम. ए. (1868). *बनारस: द सेक्रेड सिटी ऑफ द हिन्दूस*. लन्दन: टूबनर एण्ड कंपनी. पृ. 107-116
- <sup>33</sup> हरिशंकर. उक्त. पृ. 35
- <sup>34</sup> शुक्ल, के. एन. (1965). *वाराणसी डाउन द एजेस*. वाराणसी. पृ. 122
- <sup>35</sup> शुक्ल, के. एन. (1965). *वाराणसी डाउन द एजेस*. वाराणसी. पृ. 122
- <sup>36</sup> बेली, सी. ए. (1983). *रूलर्स, टाउन्समेन एण्ड बाजार्स*. कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस. पृ. 116.

## भीष्म साहनी के उपन्यासों में यथार्थवाद, मानवीयता और सामाजिक चेतना: एक आलोचनात्मक अध्ययन

नीरज कुमार\*

nkbhagat1@gmail.com

### सारांश:

भीष्म साहनी हिंदी साहित्य के ऐसे प्रमुख रचनाकार हैं, जिन्होंने अपने उपन्यासों के माध्यम से भारतीय समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, और राजनीतिक जटिलताओं को गहन यथार्थ और मानवीय दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत किया। यह शोध आलेख उनके सात प्रमुख उपन्यासों—झरोखे, कड़ियां, तमस, बसंती, मय्यादास की माड़ी, कुंतो, और नीलू, नीलिमा, नीलोफर—का आलोचनात्मक विश्लेषण करता है। साहनी का साहित्य प्रेमचंदीय यथार्थवाद, प्रगतिशील विचारधारा और रूसी उपन्यासों की मनोवैज्ञानिक गहराई का सम्मिलन है, जिसमें सांप्रदायिकता, जातिवाद, लिंग असमानता, पहचान संकट, और पारिवारिक विघटन जैसे मुद्दों को प्रभावी ढंग से उठाया गया है।

यह आलेख तर्क प्रस्तुत करता है कि साहनी का साहित्य जहां सामाजिक बदलाव और मानवीय मूल्यों का मार्ग प्रशस्त करता है, वहीं कुछ सीमाओं, जैसे ऐतिहासिक संदर्भों की अधिकता और पात्रों की सीमित स्वायत्तता, से भी ग्रस्त है। फिर भी, उनके उपन्यास समकालीन समाज की चुनौतियों को समझने और संबोधित करने में अत्यंत प्रासंगिक हैं।

### मुख्य शब्द:

भीष्म साहनी, हिंदी उपन्यास, यथार्थवाद, तमस, सांप्रदायिकता, सामाजिक चेतना, नारी विमर्श, पहचान संकट, प्रगतिशील साहित्य, मानवीयता

भीष्म साहनी (1915-2003) हिंदी साहित्य के उन यशस्वी लेखकों में से हैं, जिन्होंने अपने उपन्यासों के माध्यम से भारतीय समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जटिलताओं को यथार्थवादी और मनोवैज्ञानिक गहराई के साथ चित्रित किया। रावलपिंडी में जन्मे साहनी ने भारत-पाकिस्तान विभाजन की त्रासदी को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किया, जो उनकी रचनाओं का मूल स्वर बना। प्रेमचंद की यथार्थवादी परंपरा को आत्मसात करते हुए, साहनी ने साहित्य को सामाजिक चेतना और मानवीय मूल्यों का मंच बनाया। उनके सात उपन्यास—झरोखे (1967), कड़ियां (1970), तमस (1973), बसंती (1980), मय्यादास की माड़ी (1988), कुंतो (1993), और नीलू, नीलिमा, नीलोफर (2000)—हिंदी साहित्य में मील का पत्थर हैं। तमस को साहित्य अकादमी पुरस्कार (1975) प्राप्त हुआ, जो उनकी लेखन प्रतिभा का परिचायक है।

\* शोधार्थी, हिंदी विभाग, सिद्धो कान्हू मुर्मू विश्वविद्यालय, दुमका (झारखण्ड)

यह आलोचनात्मक विश्लेषण साहनी के उपन्यासों की साहित्यिक विशेषताओं, विषय-वस्तु, और उनकी सीमाओं पर केंद्रित है। यह निबंध तर्क देता है कि साहनी का साहित्य यथार्थवाद और मानवतावाद का अनूठा संगम है, जो सामाजिक मुद्दों को गहनता से उजागर करता है, लेकिन कुछ संदर्भों में ऐतिहासिकता और आदर्शवाद की अधिकता उनकी रचनाओं को सीमित करती है। विश्लेषण उनके प्रमुख उपन्यासों के कथानक, पात्र-चित्रण, और साहित्यिक शैली पर आधारित है, जिसमें समकालीन प्रासंगिकता को सटीक और प्रामाणिक रूप से जोड़ा गया है।

*तमस* (1973) साहनी का सर्वाधिक चर्चित उपन्यास है, जो 1947 के विभाजन के दौरान पंजाब के एक काल्पनिक शहर में सांप्रदायिक हिंसा की त्रासदी को चित्रित करता है। कथानक नाथू, एक चमार, के इर्द-गिर्द घूमता है, जो ब्रिटिश साजिश में फंसकर गाय का वध करता है, जिससे हिंदू-मुस्लिम दंगे भड़क उठते हैं। उपन्यास का शीर्षक 'तमस' (उपनिषदों से प्रेरित अंधकार) सामाजिक अज्ञान और हिंसा का प्रतीक है। साहनी ने यथार्थवादी शैली में सांप्रदायिकता की जड़ों—राजनीतिक साजिश, धार्मिक कट्टरता, और सामाजिक पूर्वाग्रह—को उजागर किया है। पात्र जैसे लिसा, एक अंग्रेज महिला, और रणवीर, एक सिख युवक, मानवीयता और सांप्रदायिक सद्भाव के प्रतीक हैं।

आलोचनात्मक दृष्टि से, *तमस* की ताकत इसकी यथार्थवादी और बहु-आयामी कथावस्तु में निहित है। साहनी ने सांप्रदायिकता को केवल धार्मिक द्वंद्व तक सीमित न रखकर, इसे औपनिवेशिक सत्ता और स्थानीय नेताओं की साजिश से जोड़ा है। आलोचकों ने इसे 'विभाजन साहित्य का शिखर' माना है, क्योंकि यह सामान्य जनता की पीड़ा को सूक्ष्मता से दर्शाता है। उपन्यास की साहित्यिक शैली, जो प्रेमचंद की यथार्थवादी परंपरा और रूसी उपन्यासों की मनोवैज्ञानिक गहराई का मिश्रण है, इसे कालजयी बनाती है। हालांकि, *तमस* की सीमाएं भी हैं। कुछ आलोचक, जैसे विश्वनाथ त्रिपाठी, तर्क देते हैं कि साहनी ने सांप्रदायिकता के मनोवैज्ञानिक और वैचारिक पहलुओं को गहराई से नहीं खोजा, बल्कि घटनाओं और बाहरी कारकों पर अधिक ध्यान केंद्रित किया। उदाहरण के लिए, नाथू का चरित्र यथार्थवादी होते हुए भी एकतरफा शिकार के रूप में चित्रित हुआ है, जिसकी आंतरिक उथल-पुथल कम उभरती है। समकालीन संदर्भ में, *तमस* सांप्रदायिक हिंसा और अफवाहों की भूमिका को दर्शाता है, लेकिन इसका ऐतिहासिक ढांचा आधुनिक तकनीकी युग के जटिल ध्रुवीकरण को पूरी तरह संबोधित नहीं करता। फिर भी, *तमस* सामाजिक सद्भाव की आवश्यकता को रेखांकित करता है, जो आज के धार्मिक तनावों में प्रासंगिक है।

*कड़ियां* (1970) और *झरोखे* (1967) साहनी के मध्यमवर्गीय परिवारों पर केंद्रित उपन्यास हैं, जो सामाजिक और पारिवारिक बंधनों के विघटन को चित्रित करते हैं। *कड़ियां* में रामेश्वर, एक सरकारी कर्मचारी, और उसके परिवार की कहानी आर्थिक तंगी, पीढ़ीगत संघर्ष, और लिंग असमानता को उजागर करती है। *झरोखे* में एक संयुक्त परिवार के विभिन्न दृष्टिकोणों (झरोखों) के माध्यम से पारिवारिक कलह, प्रेम, और त्याग को दर्शाया गया है। दोनों उपन्यास प्रेमचंद की यथार्थवादी परंपरा को अपनाते हुए मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि जोड़ते हैं। आलोचनात्मक रूप से, *कड़ियां* की ताकत इसकी यथार्थवादी शैली और पात्रों की मनोवैज्ञानिक गहराई में है। साहनी ने मध्यमवर्गीय परिवार की सूक्ष्म समस्याओं जैसे आर्थिक दबाव और स्त्री की दयनीय स्थिति को बारीकी से चित्रित किया है। रामेश्वर की पत्नी का चरित्र नारी की पारिवारिक बंधनों में दबी स्थिति को दर्शाता है। *झरोखे* में प्रत्येक पात्र का व्यक्तिगत दृष्टिकोण परिवार के भीतर बहु-आयामी संबंधों को उजागर करता है, जो साहनी की साहित्यिक कुशलता को दर्शाता है। आलोचकों ने *झरोखे* को 'पारिवारिक मनोविज्ञान का सूक्ष्म

चित्रण' माना है। दूसरी तरफ इन उपन्यासों की सीमा यह है कि साहनी ने नारी चेतना को पूरी तरह स्वायत्तता प्रदान नहीं की। उदाहरण के लिए, *कड़ियां* में रामेश्वर की पत्नी की पीड़ा यथार्थवादी है, लेकिन उसका विद्रोह सीमित रहता है। *झरोखे* में भी विधवा मां और बहू के चरित्र पारंपरिक ढांचे में बंधे रहते हैं। समकालीन संदर्भ में, ये उपन्यास आज के न्यूक्लियर परिवारों और लिंग असमानता को दर्शाते हैं, लेकिन डिजिटल युग के अलगाव और मानसिक स्वास्थ्य जैसे मुद्दों को पूरी तरह संबोधित नहीं करते। फिर भी, ये उपन्यास पारिवारिक संवेदनशीलता को समझने में महत्वपूर्ण हैं।

*बसंती* (1980) एक ग्रामीण विधवा बसंती की कहानी है, जो जातिवाद, लिंग शोषण, और आर्थिक असमानता से जूझती है। साहनी ने ग्रामीण भारत की कठोर वास्तविकता को प्रगतिशील दृष्टिकोण के साथ चित्रित किया है, जो सामाजिक न्याय की मांग करता है। उपन्यास में प्रेमचंद की परंपरा और प्रगतिवादी विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है। आलोचनात्मक दृष्टि से, *बसंती* की ताकत इसकी यथार्थवादी शैली और सामाजिक आलोचना में है। साहनी ने बसंती के माध्यम से ग्रामीण नारी की दयनीय स्थिति को उजागर किया है, जो जाति और लिंग के दोहरे शोषण का शिकार है। समकालीन संदर्भ में, *बसंती* ग्रामीण भारत में महिलाओं की असुरक्षा और सामाजिक न्याय आंदोलनों से जुड़ता है। हालांकि, आलोचकों का तर्क है कि बसंती का चरित्र पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त नहीं करता, और उपन्यास का अंत आदर्शवादी हो जाता है। साहनी ने सामाजिक परिवर्तन की संभावना को रेखांकित किया, लेकिन ग्रामीण समाज की जटिलताओं को पूरी तरह नहीं खोजा। फिर भी, *बसंती* नारीवादी साहित्य और सामाजिक सुधार के लिए प्रासंगिक है।

*मय्यादास की माड़ी* (1988) एक व्यापारी परिवार की कहानी है, जहां लालच और भ्रष्टाचार नैतिक पतन का कारण बनते हैं। साहनी ने पूंजीवाद और सामाजिक मूल्यों के क्षरण की आलोचना की है। उपन्यास में यथार्थवाद और प्रतीकात्मकता का मिश्रण है, जो मय्यादास के परिवार को सामाजिक पतन का प्रतीक बनाता है। इस उपन्यास की ताकत इसकी सामाजिक आलोचना में है। साहनी ने पूंजीवाद के दुष्प्रभाव जैसे लालच और परिवार का विघटन को प्रभावी ढंग से चित्रित किया है। साहनी अपने उपन्यासों में सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा पर जोर देते हैं। समकालीन संदर्भ में, यह उपन्यास कॉर्पोरेट भ्रष्टाचार और पर्यावरणीय संकट से जुड़ता है।

*कुंतो* (1993) विभाजन के बाद की पीढ़ी के ट्रॉमा और पहचान संकट पर केंद्रित है, जबकि *नीलू*, *नीलिमा*, *नीलोफर* (2000) हिंदू-मुस्लिम पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक मिश्रण की कहानी कहता है। दोनों उपन्यास साहनी की सांस्कृतिक एकता और मानवतावादी दृष्टि को दर्शाते हैं। आलोचनात्मक दृष्टि से, *कुंतो* का पहचान संकट और *नीलू...* का बहुलतावाद साहनी की प्रगतिशील विचारधारा को रेखांकित करता है। साहनी का साहित्य ट्रॉमा की निरंतरता को दर्शाता है, जो समकालीन भारत-पाक तनाव और अल्पसंख्यक अधिकारों से जुड़ता है। हालांकि, *नीलू*, *नीलिमा*, *नीलोफर* का सांस्कृतिक मिश्रण कुछ आलोचकों को आदर्शवादी लगता है, जो वास्तविक धार्मिक तनावों को पूरी तरह संबोधित नहीं करता।

साहनी के उपन्यास प्रगतिशील लेखक आंदोलन से प्रभावित हैं, जो सामाजिक चेतना और यथार्थवाद को प्राथमिकता देते हैं। उनकी रचनाएं सांप्रदायिकता, लिंग असमानता, पारिवारिक विघटन, और पहचान संकट जैसे मुद्दों को संबोधित करती हैं। उनकी साहित्यिक शैली—प्रेमचंद की यथार्थवादी परंपरा और मनोवैज्ञानिक गहराई का मिश्रण—हिंदी साहित्य को समृद्ध करती है। साहनी की रचनाओं की सीमा यह है कि वे ऐतिहासिक संदर्भों पर अधिक केंद्रित हैं, और आधुनिक तकनीकी युग को पूरी तरह संबोधित नहीं करतीं।

इसके अलावा, उनके कुछ चरित्र, जैसे बसंती और रामेश्वर की पत्नी, पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त नहीं करते, जो नारीवादी दृष्टिकोण से सीमित लगता है। फिर भी, साहनी का साहित्य सामाजिक जागरूकता और मानवतावाद को बढ़ावा देता है, जो आज के ध्रुवीकृत विश्व में प्रासंगिक है। भीष्म साहनी के उपन्यास हिंदी साहित्य में एक कालजयी योगदान हैं, जो सामाजिक यथार्थ और मानवीय संवेदनाओं का अनूठा चित्रण प्रस्तुत करते हैं। *तमस* से *नीलू*, *नीलिमा*, *नीलोफर* तक, उनकी रचनाएं सांप्रदायिकता, लिंग, और पहचान जैसे मुद्दों को संबोधित करती हैं। हालांकि उनकी कुछ सीमाएं जैसे ऐतिहासिकता की अधिकता और आधुनिक युग की जटिलताओं का अभाव हैं, उनका साहित्य सामाजिक परिवर्तन और सब्दाव का मार्गदर्शक है। साहनी की रचनाएं न केवल साहित्यिक, बल्कि सामाजिक और नैतिक दृष्टि से भी प्रासंगिक बनी रहेंगी।

### निष्कर्ष:

भीष्म साहनी के उपन्यास हिंदी साहित्य में सामाजिक यथार्थ और मानवीय संवेदनाओं का अत्यंत प्रभावशाली चित्रण प्रस्तुत करते हैं। उनकी रचनाएं न केवल साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध हैं, बल्कि सामाजिक चेतना और नैतिक मूल्यों को भी गहराई से छूती हैं।

तमस जैसे उपन्यास सांप्रदायिकता की जड़ों को बेनकाब करते हैं, जबकि कड़ियां और झरोखे मध्यवर्गीय जीवन की जटिलताओं को उभारते हैं। बसंती ग्रामीण नारी के संघर्ष को सामने लाती है, और मय्यादास की माड़ी पूंजीवादी समाज की नैतिक विघटन को दर्शाती है।

कुंतो और नीलू, नीलिमा, नीलोफर में विभाजनोत्तर पीढ़ी की पहचान की तलाश और सांस्कृतिक बहुलता की खोज की गई है। यद्यपि कुछ आलोचक साहनी की रचनाओं में आधुनिक तकनीकी युग की जटिलताओं, नारी स्वायत्तता की सीमाओं, और ऐतिहासिकता की प्रधानता की ओर इशारा करते हैं, फिर भी उनका साहित्य समकालीन संदर्भों में सामाजिक संवाद और समझ को प्रेरित करता है। इस प्रकार, भीष्म साहनी का उपन्यास साहित्य सामाजिक परिवर्तन, मानवीयता, और सांस्कृतिक समरसता की दिशा में एक महत्वपूर्ण योगदान है, जो आज के ध्रुवीकृत समय में और भी अधिक प्रासंगिक हो गया है।

### संदर्भ :

1. अग्रवाल, भारत भूषण. (2001). *हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव*. नई दिल्ली: किताबघर प्रकाशन.
2. अग्रवाल, रोहिणी. (2006). *इतिवृत्ति की संचेतना और स्वरूप*. हरियाणा: आधार प्रकाशन.
3. कृष्ण, प्रणय. (2014). *विमर्श और आलोचना*. इलाहाबाद: स्पॉट क्रिएटिव सर्विसेस.
4. कृष्णमोहन. (2006). *आधुनिकता और उपनिवेश*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
5. पाण्डेय, मैनेजर. (2013). *उपन्यास और लोकतंत्र*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
6. पालीवाल, कृष्णदत्त. (2007). *हिन्दी आलोचना के नए वैचारिक सरोकार*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.

## दलित महिलाओं की सामाजिक स्थिति और जनसंचार

नन्द लाल पासवान\*  
nandu02lal@gmail.com

### सारांश

यह शोध पत्र भारतीय समाज में दलित महिलाओं की सामाजिक स्थिति और जनसंचार में उनके प्रति दोहरे व्यवहार का आलोचनात्मक अध्ययन करता है। जाति, लिंग और वर्ग के संयुक्त प्रभाव से दलित महिलाएँ तिहरे शोषण का शिकार होती हैं, जिससे उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और सामाजिक सुरक्षा की स्थिति अत्यंत कमजोर रहती है। पितृसत्ता और जातिगत भेदभाव के कारण वे घरेलू हिंसा, यौन उत्पीड़न और सामाजिक बहिष्कार का सामना करती हैं। यद्यपि संविधान द्वारा समानता और आरक्षण जैसे प्रावधान उपलब्ध हैं, परंतु इनका प्रभाव सीमित रहा है। जनसंचार माध्यम दलित महिलाओं की समस्याओं को उजागर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं, किंतु प्रायः उनकी रिपोर्टिंग पक्षपाती और सनसनीखेज होती है, जिससे उनकी वास्तविक समस्याएँ गौण हो जाती हैं। कुछ स्वतंत्र मीडिया प्लेटफॉर्म ने दलित महिलाओं की आवाज को मंच प्रदान किया है, परंतु मुख्यधारा का मीडिया अभी भी संवेदनशील और समावेशी दृष्टिकोण अपनाने में विफल रहा है। अध्ययन निष्कर्ष निकालता है कि दलित महिलाओं की स्थिति सुधारने के लिए शिक्षा, आर्थिक स्वावलंबन, संवेदनशील मीडिया कवरेज, और कठोर कानूनी प्रावधान आवश्यक हैं।

### मुख्य शब्द

दलित, सामाजिक, तिहरे शोषण, पितृसत्ता, जातिगत भेदभाव, हिंसा और उत्पीड़न, जनसंचार, पक्षपातपूर्ण रिपोर्टिंग, सशक्तिकरण, सामाजिक न्याय

भारतीय समाज में दलित महिलाएँ तिहरे शोषण का शिकार हैं। जाति, लिंग और वर्ग के त्रैगुणिक प्रभाव के कारण इनकी सामाजिक स्थिति अत्यंत कमजोर है। दलित महिला न केवल उच्च जाति के शोषण से पीड़ित हैं, बल्कि उनके अपने ही सामाजिक परिवेश और परिवार में भी पितृसत्तात्मक भेदभाव और उत्पीड़न आम है। इसके बावजूद, इन महिलाओं के प्रति जनसंचार माध्यमों में रिपोर्टिंग की संवेदनशीलता अभावपूर्ण है और उनकी स्थिति का दोहरा पक्षपात होता है। इस आलेख में दलित महिलाओं की सामाजिक स्थिति, उनके उत्पीड़न की खबरों का मीडिया में प्रस्तुतिकरण और सूचना तंत्र में उनकी स्थिति पर परिचयात्मक चर्चा की जाएगी। दलित महिलाएँ भारतीय समाज के सबसे अधिक वंचित समूहों में से हैं। सामाजिक संरचना में वे सबसे निचले स्तर पर होते हुए जातिगत, लैंगिक और आर्थिक भेदभाव का सामना करती हैं। अनेक शोधों के अनुसार, दलित महिलाओं की शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, और आर्थिक सुरक्षा की स्थिति तात्कालिक सुधार की मांग करती है। इनके लिए शिक्षा की पहुंच सीमित है, जो उनकी सामाजिक उन्नति में बाधक है। कार्यक्षेत्र में भी दलित महिलाएँ मुख्यतः असंगठित क्षेत्र में काम करती हैं जहाँ उन्हें कम वेतन, असुरक्षित कार्यस्थल और यौन उत्पादन का सामना करना पड़ता है। पितृसत्ता की सामाजिक व्यवस्था के कारण घरेलू हिंसा, दहेज प्रथा

\* सहायक प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान विभाग, एस आर टी महाविद्यालय, धमड़ी, गोड्डा

और परिवार में भेदभाव दलित महिलाओं के जीवन का हिस्सा हैं। सामाजिक बहिष्कार, कुप्रथाएं, और अपर्याप्त सरकारी संरक्षण इनके उत्पीड़न के आंकड़े बढ़ाते हैं। भारतीय जनसंचार माध्यमों में दलित महिलाओं के संदर्भ में रिपोर्टिंग अक्सर पक्षपाती और संवेदनशीलता से दूर होती है। उनकी पीड़ा को व्यापक स्तर पर उजागर नहीं किया जाता या फिर उन्हें भेदभावपूर्ण दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया जाता है। जनसंचार में उनके उत्पीड़न की खबरें अधिकतर सनसनीखेज तरीके से प्रस्तुत की जाती हैं, जो उनकी वास्तविक समस्या को कमतर दर्शाती हैं। मीडिया में दलित महिलाओं के शोषण की खबरों को अक्सर सामाजिक और जातिगत संदर्भ के बिना साधारण अपराध के तौर पर प्रस्तुत किया जाता है, जिससे उनकी पीड़ा और उत्पीड़न का सामाजिक कारण छिप जाता है। इसके अतिरिक्त, मीडिया में जातिगत नकारात्मकता बनी रहती है, जो उनके अधिकारों की लड़ाई को कमजोर कर देती है। सूचना का बहिष्कार और पक्षपातपूर्ण रिपोर्टिंग दलित महिलाओं के खिलाफ समाज में व्याप्त भेदभाव को और बढ़ावा देती है।

भारत में दलित महिलाएँ सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से सबसे अधिक हाशिए पर हैं। वे न केवल लिंग-आधारित भेदभाव का सामना करती हैं, बल्कि जातिगत उत्पीड़न और सामाजिक बहिष्कार का भी शिकार होती हैं। यह दोहरा उत्पीड़न—जाति और लिंग का संयुक्त प्रभाव—उनकी सामाजिक स्थिति को और अधिक जटिल बनाता है। संविधान द्वारा प्रदत्त समानता (अनुच्छेद 14, 15) और सकारात्मक भेदभाव (जैसे आरक्षण) के प्रावधानों के बावजूद, दलित महिलाएँ आज भी शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य और सामाजिक सम्मान में भारी असमानता का सामना करती हैं। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (NCRB) के 2023 के आँकड़ों के अनुसार, दलितों के खिलाफ अपराधों में 7% की वृद्धि हुई, जिसमें दलित महिलाएँ विशेष रूप से यौन हिंसा और शारीरिक उत्पीड़न का शिकार रहीं।

जनसंचार माध्यम—जैसे समाचार पत्र, टेलीविजन, और डिजिटल प्लेटफॉर्म—दलित महिलाओं की स्थिति को उजागर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। हालांकि, इन माध्यमों में दलित महिलाओं से संबंधित सूचनाओं के साथ अक्सर दोहरा व्यवहार देखा जाता है। एक ओर, कुछ खबरें उनके शोषण और संघर्ष को संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करती हैं, वहीं दूसरी ओर, कई बार उनकी कहानियों को सनसनीखेज बनाकर या उनके दर्द को अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से चित्रित कर प्रस्तुत किया जाता है। यह आलोचनात्मक विश्लेषण दलित महिलाओं की सामाजिक स्थिति और जनसंचार में उनके प्रति दोहरे व्यवहार को तीन आयामों—सामाजिक-आर्थिक हाशिएकरण, हिंसा और अस्मिता संकट, और जनसंचार की भूमिका—के माध्यम से जांचता है। यह निबंध तर्क देता है कि जनसंचार में दोहरा व्यवहार दलित महिलाओं की वास्तविक समस्याओं को कमजोर करता है और सामाजिक न्याय के लक्ष्य को बाधित करता है।

## 1. सामाजिक-आर्थिक हाशिएकरण और दोहरा उत्पीड़न

दलित महिलाएँ भारतीय समाज की सबसे निचली सामाजिक सीढ़ी पर हैं, जहाँ वे जाति और लिंग के आधार पर दोहरे उत्पीड़न का सामना करती हैं। सामाजिक-आर्थिक स्तर पर, उनकी स्थिति अत्यंत चिंताजनक है। यूनाइटेड नेशन्स वूमन की रिपोर्ट के अनुसार, दलित महिलाएँ उच्च जातियों की महिलाओं की तुलना में औसतन 14.6 वर्ष पहले मृत्यु को प्राप्त होती हैं, जिसका कारण अपर्याप्त स्वास्थ्य सुविधाएँ, खराब स्वच्छता, और आर्थिक अभाव हैं। शिक्षा के क्षेत्र में, दलित महिलाओं की साक्षरता दर (लगभग 56%, 2011

जनगणना) राष्ट्रीय औसत (74%) से काफी कम है। रोजगार में उनकी भागीदारी भी सीमित है, विशेष रूप से असंगठित क्षेत्रों में, जहाँ वे कम वेतन और असुरक्षित कार्यस्थलों का सामना करती हैं।

जनसंचार माध्यमों में दलित महिलाओं की इस स्थिति को अक्सर सतही ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। कुछ समाचार उनके आर्थिक अभाव और सामाजिक बहिष्कार को उजागर करते हैं, जैसे ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा और स्वास्थ्य तक उनकी सीमित पहुँच। हालांकि, कई बार ये खबरें सनसनीखेज होती हैं, जो उनकी गरीबी और दयनीय स्थिति को अतिशयोक्ति के साथ चित्रित करती हैं। उदाहरण के लिए, दलित महिलाओं के श्रम (जैसे मैनुअल स्कैवेजिंग) को अक्सर केवल दुखद कहानी के रूप में दिखाया जाता है, बिना नीतिगत सुधारों या सामाजिक परिवर्तन की माँग के। यह दोहरा व्यवहार उनकी वास्तविक समस्याओं को कमजोर करता है और सामाजिक सहानुभूति को सतही बनाता है। इसके विपरीत, जब उच्च वर्ग की महिलाओं की उपलब्धियों (जैसे कॉरपोरेट नेतृत्व) को कवर किया जाता है, तो उसे सशक्तिकरण के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जो दलित महिलाओं के प्रति पक्षपात को दर्शाता है।

## 2. हिंसा और अस्मिता संकट

दलित महिलाएँ जातिगत और लिंग-आधारित हिंसा का विशेष रूप से शिकार होती हैं। NCRB के आँकड़ों के अनुसार, 2014 में प्रतिदिन औसतन 6.17 दलित महिलाएँ बलात्कार का शिकार हुईं, और यह संख्या बढ़ रही है। सामाजिक स्तर पर, दलित महिलाओं को डायन-चुडैल जैसे आरोपों, मंदिर और पानी के स्रोतों तक पहुँच से वंचित करने, और यौन शोषण जैसे अत्याचारों का सामना करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, राजस्थान में भंवरी बाई बलात्कार मामले में न्यायिक प्रक्रिया ने उनकी विश्वसनीयता पर सवाल उठाए, जिसमें एक न्यायाधीश ने यह तक कहा कि "ऊँची जाति के लोग नीची जाति की महिला के साथ बदसलूकी नहीं कर सकते।" यह बयान सामाजिक और संस्थागत पक्षपात को दर्शाता है। जनसंचार में दलित महिलाओं के खिलाफ हिंसा की खबरें दोहरे व्यवहार का शिकार होती हैं। कुछ समाचार चैनल और अखबार इन घटनाओं को सनसनीखेज बनाकर प्रस्तुत करते हैं, जिससे पीड़ित की निजता और सम्मान को ठेस पहुँचती है। उदाहरण के लिए, बलात्कार की खबरों में अक्सर दलित महिला की पहचान को उजागर किया जाता है या उनकी कहानी को अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया जाता है, जो सहानुभूति के बजाय दर्शकों की जिज्ञासा को भड़काता है। इसके विपरीत, जब गैर-दलित महिलाओं के खिलाफ हिंसा की खबरें आती हैं, तो उन्हें अधिक संवेदनशीलता के साथ कवर किया जाता है। यह दोहरा व्यवहार दलित महिलाओं को और अधिक हाशिए पर धकेलता है, जिससे उनकी अस्मिता संकट और गहरा होता है। जनसंचार माध्यमों में दलित महिलाओं के संघर्ष को प्रेरक कहानियों के रूप में प्रस्तुत करने के बजाय, उनकी पीड़ा को अक्सर केवल त्रासदी के रूप में चित्रित किया जाता है।

## 3. जनसंचार की भूमिका और दोहरा व्यवहार

जनसंचार माध्यम सामाजिक जागरूकता बढ़ाने और नीतिगत परिवर्तन को प्रेरित करने में महत्वपूर्ण हैं। दलित महिलाओं के मुद्दों को उठाने में कुछ माध्यमों ने सकारात्मक भूमिका निभाई है, जैसे सावित्रीबाई फुले और रमाबाई जैसे ऐतिहासिक व्यक्तित्वों के योगदान को उजागर करना। हालांकि, अधिकांश जनसंचार माध्यम दलित महिलाओं के प्रति दोहरे मापदंड अपनाते हैं। उनकी समस्याओं को या तो अतिशयोक्ति के साथ प्रस्तुत किया जाता है, या फिर पूरी तरह नजरअंदाज कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, 18वीं सदी में केरल की

नादर महिलाओं के शरीर ढंकने के संघर्ष को शायद ही मुख्यधारा के मीडिया में जगह मिलती है, जबकि यह सामाजिक न्याय की दिशा में एक क्रांतिकारी कदम था।

डिजिटल युग में, सोशल मीडिया ने दलित महिलाओं की आवाज़ को कुछ हद तक मंच प्रदान किया है, जैसे दलित नारीवादी संगठनों के अभियान। फिर भी, मुख्यधारा के डिजिटल प्लेटफॉर्म अक्सर दलित महिलाओं के मुद्दों को सामान्य महिला सशक्तिकरण के तहत समाहित कर देते हैं, जिससे उनकी विशिष्ट जातिगत और सामाजिक चुनौतियाँ धुंधली पड़ जाती हैं। उदाहरण के लिए, मुख्यधारा के नारीवादी विमर्श में दलित महिलाओं के अनुभवों को शामिल करने में कमी रही है, जैसा कि 1990 के दशक तक राष्ट्रीय महिला सम्मेलनों में देखा गया। जनसंचार में यह दोहरा व्यवहार तब और स्पष्ट होता है जब दलित महिलाओं के खिलाफ हिंसा की खबरों को सनसनीखेज बनाया जाता है, लेकिन उनके सशक्तिकरण की कहानियों—जैसे दलित महिला उद्यमियों या नेताओं—को शायद ही कवर किया जाता है। यह पक्षपात दलित महिलाओं को 'अदृश्य नागरिक' के रूप में समाज की निचली सतह तक सीमित करता है।

दलित महिलाओं की सामाजिक स्थिति और जनसंचार में उनके प्रति दोहरा व्यवहार आज के संदर्भ में अत्यधिक प्रासंगिक है। डिजिटल युग में, जहाँ सूचना का प्रसार तेजी से होता है, जनसंचार माध्यमों की भूमिका सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने में और भी महत्वपूर्ण हो गई है। हालांकि, दलित महिलाओं के मुद्दों को सनसनीखेज बनाना या उनकी विशिष्ट चुनौतियों को नजरअंदाज करना सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को धीमा करता है। उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार तक सीमित पहुँच, साथ ही हिंसा और भेदभाव, आज भी गंभीर समस्याएँ हैं। जनसंचार माध्यमों में दलित महिलाओं के सशक्तिकरण की कहानियों को अधिक स्थान देना—जैसे पंचायती राज में उनकी नेतृत्वकारी भूमिका या उद्यमिता में योगदान—सामाजिक जागरूकता बढ़ा सकता है। इसके साथ ही, नीतिगत सुधार—like यौन उत्पीड़न अधिनियम का सख्त कार्यान्वयन और शिक्षा-रोजगार में समावेशी नीतियाँ—दलित महिलाओं की स्थिति को बेहतर कर सकते हैं। वैश्विक स्तर पर, संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्यों (SDGs) में लिंग और सामाजिक समानता पर जोर दिया गया है, जो दलित महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए भारत की नीतियों से मेल खाता है।

दलित महिलाओं की सामाजिक स्थिति को बेहतर करने में कुछ प्रगति हुई है। संवैधानिक प्रावधान, जैसे SC/ST अधिनियम और आरक्षण नीतियाँ, ने शिक्षा और रोजगार में उनकी भागीदारी को बढ़ाया है। पंचायती राज में 50% महिला आरक्षण ने ग्रामीण स्तर पर दलित महिलाओं को नेतृत्व के अवसर प्रदान किए। जनसंचार में, कुछ स्वतंत्र डिजिटल प्लेटफॉर्म और संगठनों ने दलित महिलाओं की आवाज़ को उभारा है। हालांकि, सीमाएँ भी स्पष्ट हैं। सामाजिक-आर्थिक हाशिएकरण और हिंसा की समस्याएँ बनी हुई हैं। जनसंचार में दोहरा व्यवहार—जैसे सनसनीखेज कवरेज और सशक्तिकरण की कहानियों का अभाव—उनकी स्थिति को और जटिल बनाता है। संस्थागत पक्षपात, जैसे पुलिस और न्यायिक प्रक्रियाओं में भेदभाव, उनकी आवाज़ को दबाता है। सामाजिक न्याय के लिए जनसंचार को अधिक संवेदनशील और समावेशी होना होगा, जो दलित महिलाओं के विशिष्ट अनुभवों को प्राथमिकता दे।

दलित महिलाएँ भारतीय समाज में जाति और लिंग के आधार पर दोहरे उत्पीड़न का सामना करती हैं, जो उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति को कमजोर करता है। जनसंचार माध्यम उनकी समस्याओं को उजागर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, लेकिन सनसनीखेज कवरेज और पक्षपातपूर्ण प्रस्तुति के कारण अक्सर

दोहरा व्यवहार करते हैं। यह दोहरा व्यवहार उनकी अस्मिता संकट को गहराता है और सामाजिक न्याय के लक्ष्य को बाधित करता है। दलित महिलाओं की शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार तक पहुँच बढ़ाने, हिंसा के खिलाफ सख्त कार्रवाई करने, और जनसंचार में उनकी सशक्तिकरण की कहानियों को प्राथमिकता देने की आवश्यकता है। सामाजिक और राजनीतिक सुधारों के साथ-साथ जनसंचार की संवेदनशीलता ही दलित महिलाओं को समाज की मुख्यधारा में ला सकती है, जिससे एक समावेशी और न्यायपूर्ण समाज की स्थापना हो सके।

अनुच्छेद 15 और 17 जैसे संवैधानिक प्रावधानों के बावजूद दलित महिलाओं की सशक्तिकरण प्रक्रिया अभी अधूरी है। 73वें संविधान संशोधन ने पंचायत स्तर पर महिलाओं के लिए आरक्षण का प्रावधान किया जो दलित महिलाओं को राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश का अवसर देता है। परन्तु सामाजिक और पारिवारिक बाधाओं के कारण उनकी सक्रिय भागीदारी सीमित है। यद्यपि कई दलित महिलाएं स्थानीय स्तर पर नेतृत्व की भूमिका निभा रही हैं, फिर भी जातिगत राजनीति और सामाजिक प्रतिरोध उनके मार्ग में अवरोध उत्पन्न करता है। सामाजिक जागरूकता, शिक्षा, और आर्थिक स्वावलंबन के माध्यम से उनकी स्थिति मजबूत की जा सकती है।

### निष्कर्ष :-

दलित महिलाओं की सुरक्षा और उत्थान के लिए सामाजिक और कानूनी सुधार आवश्यक हैं। सामाजिक चेतना बढ़ाने के लिए शिक्षा प्रसार, स्त्री एवं दलित अधिकारों का प्रचार-प्रसार आवश्यक है। मीडिया को दलित महिलाओं के दर्द, संघर्ष और सफलता की सचित्र कहानियां प्रस्तुत कर संवेदनशीलता विकसित करनी चाहिए। न्याय प्रणाली को जातिगत पक्षपात से मुक्त कर दलित महिलाओं की शिकायतों का शीघ्र और निष्पक्ष समाधान आवश्यक है। सरकारी योजनाओं का प्रभावी क्रियान्वयन और सामाजिक कार्यकर्ताओं की भागीदारी से ही उनकी सामाजिक स्थिति सुधारी जा सकती है। दलित महिलाएं भारतीय समाज में तिहरे शोषण की शिकार हैं। उनकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति सुधार के लिए सामूहिक प्रयास आवश्यक हैं। मीडिया और सूचना तंत्र को दलित महिलाओं के प्रति संवेदनशील, निष्पक्ष और सकारात्मक भूमिका निभानी होगी। समाज को सत्य, न्याय और समानता के सिद्धांतों पर चलना होगा तभी दलित महिलाओं का सशक्तिकरण संभव होगा।

### संदर्भ

1. जियालाल, आर्य. (2005). *दलित समाज: आज की चुनौतियाँ*. नई दिल्ली: प्रकाशन संस्थान.
2. कश्यप, आलोक कुमार. (2013). *भारत में अनुसूचित जातियाँ: कल और आज*. दिल्ली: अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस.
3. परमार, सरोज. (2010). *महिलाएं और मानवाधिकार*. जयपुर: पॉइंटर पब्लिकेशन.
4. सिंह, निशांत. (2004). *समाज, राजनीति और महिलाएं: दशा और दिशा*. नई दिल्ली: राधा पब्लिकेशन.
5. श्रीवास्तव, सुधारनी. (2004). *महिला शोषण और मानवाधिकार*. नई दिल्ली: अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस.

## अज्ञेय के उपन्यासों का समकालीन यथार्थ

गुड़िया कुमारी\*

gudiyagopdih@gmail.com

### सारांश

यह शोध आलेख सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' के उपन्यासों में समकालीन यथार्थ के स्वरूप का विश्लेषण करता है। अज्ञेय ने हिंदी साहित्य में प्रयोगवाद और व्यक्तिवाद को स्थापित करते हुए उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और आधुनिक चेतना को प्रमुखता दी। शेखर: एक जीवनी, नदी के द्वीप और अपने-अपने अजनबी जैसे उपन्यास व्यक्ति की आत्म-खोज, अस्मिता संकट, प्रेम और सामाजिक-राजनीतिक टकराव को केंद्र में रखते हैं। उनके पात्र व्यक्तिगत स्वतंत्रता की तलाश में सामाजिक संरचनाओं और औपनिवेशिक दमन से टकराते हैं। अज्ञेय की काव्यात्मक भाषा, प्रतीकात्मकता और दार्शनिक विमर्श उपन्यासों को वैश्विक साहित्यिक धारा से जोड़ते हैं। आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो उनकी रचनाएँ सामूहिक संघर्ष की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वतंत्रता और अस्तित्ववादी संवेदना पर अधिक केंद्रित हैं। इस आलेख में अज्ञेय के उपन्यासों को तीन प्रमुख आयामों— अस्तित्ववादी खोज, सामाजिक-राजनीतिक टकराव और आधुनिकता की चेतना—के आधार पर विश्लेषित किया गया है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अज्ञेय के उपन्यास न केवल आधुनिक हिंदी उपन्यास को नई दिशा प्रदान करते हैं, बल्कि समकालीन समाज में व्यक्ति की अस्मिता और स्वतंत्रता की खोज को भी अभिव्यक्त करते हैं।

### मुख्य शब्द

अज्ञेय, समकालीन यथार्थ, अस्तित्ववाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद, आधुनिकता, अस्मिता संकट, प्रतीकात्मकता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, सामाजिक-राजनीतिक टकराव

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' (1911-1987) हिंदी साहित्य के उन रचनाकारों में से हैं जिन्होंने कविता, कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में प्रयोगवादी और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को स्थापित किया। उनके उपन्यास—शेखर: एक जीवनी (1941, 1944), नदी के द्वीप (1951), और अपने-अपने अजनबी (1961) हिंदी साहित्य में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और आधुनिकता की चेतना के प्रतीक हैं। अज्ञेय के उपन्यासों की मूल संवेदना व्यक्ति की आंतरिक खोज, सामाजिक बंधनों से टकराव और आधुनिक जीवन की जटिलताओं में निहित है। यह आलोचनात्मक विश्लेषण उनकी रचनाओं में व्यक्तिगत स्वतंत्रता, प्रेम, अस्मिता संकट और दार्शनिक चिंतन के तत्वों की पड़ताल करता है, जो छायावाद और प्रगतिवाद से हटकर एक नई साहित्यिक दिशा प्रदान करते हैं। यह शोध उनके उपन्यासों की साहित्यिक ताकत, सीमाओं और समकालीन प्रासंगिकता को साहित्यिक स्रोतों और आलोचनात्मक दृष्टिकोण के आधार पर विश्लेषित करता है।

अज्ञेय हिंदी साहित्य के उन कालजयी लेखकों में हैं जिन्होंने नई कविता आंदोलन के साथ-साथ उपन्यास विधा में भी नवीनता का सूत्रपात किया। उनकी रचनाएँ प्रेमचंद की सामाजिक यथार्थवादी परंपरा और

\* शोधार्थी, हिंदी विभाग, सिद्धो कान्हू मुर्मू विश्वविद्यालय, दुमका (झारखण्ड)

छायावादी भावुकता से अलग, व्यक्तिगत चेतना, मनोवैज्ञानिक गहराई और आधुनिकता के दार्शनिक प्रश्नों पर केंद्रित हैं। अज्ञेय के उपन्यास न केवल व्यक्ति की आंतरिक यात्रा को उजागर करते हैं, बल्कि सामाजिक संरचनाओं, औपनिवेशिक दमन और आधुनिक जीवन की जटिलताओं से टकराव को भी चित्रित करते हैं। उनकी मूल संवेदना व्यक्तिवादी और अस्तित्ववादी है, जो पश्चिमी साहित्यकारों जैसे ज्याँ-पॉल सार्त्र और अल्बेयर काम्यू के विचारों से संनादित है। यह आलोचनात्मक विश्लेषण अज्ञेय के उपन्यासों की संवेदना को तीन प्रमुख आयामों—अस्तित्ववादी खोज, सामाजिक-राजनीतिक टकराव, और आधुनिकता की चेतना—के माध्यम से जांचता है। विश्लेषण का उद्देश्य यह समझना है कि अज्ञेय का साहित्य कैसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक बंधनों के बीच संतुलन बनाता है, और उनकी रचनाएँ समकालीन संदर्भों में क्यों प्रासंगिक हैं। शोध पद्धति साहित्यिक विश्लेषण, आलोचकों की टिप्पणियों और शोध पत्रों पर आधारित है। यह निबंध तर्क देता है कि अज्ञेय के उपन्यास हिंदी साहित्य को वैश्विक दार्शनिक और साहित्यिक विमर्श से जोड़ते हैं, लेकिन उनकी व्यक्तिवादी दृष्टि कुछ हद तक सामाजिक यथार्थ से दूरी बनाती है।

## 1. अस्तित्ववादी खोज और व्यक्तिगत स्वतंत्रता

अज्ञेय के उपन्यासों की मूल संवेदना व्यक्ति की आत्म-खोज और स्वतंत्रता की तलाश में गहराई से निहित है। उनके पात्र समाज, परिवार और राजनीतिक व्यवस्थाओं के दबावों के बीच अपनी अस्मिता और जीवन के अर्थ की खोज करते हैं। यह दृष्टिकोण पश्चिमी अस्तित्ववादी विचारों से प्रभावित है, जहाँ व्यक्ति अपने अस्तित्व की स्वतंत्रता और उद्देश्य को स्वयं परिभाषित करता है। उदाहरण के लिए, *शेखर: एक जीवनी* का नायक अपने क्रांतिकारी अनुभवों और प्रेम के माध्यम से आत्म-खोज की यात्रा पर है। उसका विद्रोह औपनिवेशिक दमन और सामाजिक रूढ़ियों के खिलाफ व्यक्तिगत प्रतिरोध का प्रतीक है। यह विद्रोह सामूहिक आंदोलन से अधिक आंतरिक और बौद्धिक है, जो व्यक्ति की स्वतंत्रता को प्राथमिकता देता है।

इसी तरह, *नदी के द्वीप* में प्रेम के माध्यम से व्यक्तिगत स्वायत्तता और सामाजिक अपेक्षाओं के बीच द्वंद्व उजागर होता है। उपन्यास का केंद्रीय पात्र सामाजिक बंधनों को चुनौती देता है, विशेष रूप से लिंग और विवाह से जुड़ी परंपराओं को। यह प्रेम न केवल भावनात्मक है, बल्कि व्यक्ति की स्वतंत्रता की खोज का प्रतीक भी है। *अपने-अपने अजनबी* में पात्रों का अलगाव और अस्मिता संकट आधुनिक मनुष्य की व्यथा को दर्शाता है, जो सामाजिक संरचनाओं और व्यक्तिगत इच्छाओं के बीच फंसा है। अज्ञेय का यह दृष्टिकोण प्रगतिवादी लेखकों की सामूहिक चेतना से हटकर व्यक्तिवाद को स्थापित करता है।

हालांकि, यह व्यक्तिवादी दृष्टिकोण सामाजिक परिवर्तन की व्यापक संभावनाओं को सीमित करता है। अज्ञेय के पात्र व्यक्तिगत खोज में इतने लीन हैं कि सामूहिक संघर्ष पृष्ठभूमि में धुंधला पड़ता है। फिर भी, उनकी यह संवेदना व्यक्ति की आंतरिक स्वतंत्रता और आत्म-अभिव्यक्ति के प्रश्नों को उठाती है, जो आधुनिक युग में प्रासंगिक है, विशेष रूप से उन संदर्भों में जहाँ व्यक्ति सामाजिक दबावों के बीच अपनी पहचान स्थापित करने का प्रयास करता है।

## 2. सामाजिक-राजनीतिक टकराव और मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद

अज्ञेय के उपन्यास सामाजिक और राजनीतिक संदर्भों को संबोधित करते हैं, लेकिन उनकी प्रस्तुति मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद पर आधारित है। *शेखर: एक जीवनी* में स्वतंत्रता संग्राम का चित्रण है, लेकिन यह सामूहिक आंदोलन की अपेक्षा नायक की व्यक्तिगत उथल-पुथल और बौद्धिक विद्रोह पर केंद्रित है।

औपनिवेशिक दमन और सामाजिक रूढ़ियों की आलोचना मौजूद है, लेकिन यह प्रत्यक्ष सामाजिक सुधार की माँग से अधिक व्यक्तिगत चेतना के स्तर पर व्यक्त होती है। नायक का जेल अनुभव और प्रेम संबंध सामाजिक संरचनाओं के खिलाफ उसकी आंतरिक लड़ाई को दर्शाते हैं।

*नदी के द्वीप* में सामाजिक बंधन—जैसे विवाह, परिवार और लिंग भूमिकाएँ—व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बाधित करते हैं। उपन्यास का प्रेम प्रसंग सामाजिक अपेक्षाओं से टकराता है, जो 1950 के दशक के भारत में सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता को रेखांकित करता है। यहाँ प्रेम केवल भावनात्मक नहीं, बल्कि सामाजिक संरचनाओं के खिलाफ एक विद्रोही कार्यवाही है। *अपने-अपने अजनबी* में आधुनिक शहरी जीवन का अलगाव और पूंजीवादी व्यवस्था का प्रभाव दर्शाया गया है। पात्रों की अस्मिता की खोज आधुनिक समाज की विखंडित प्रकृति को उजागर करती है, जहाँ व्यक्ति सामाजिक संबंधों में अर्थ खोजने के लिए संघर्ष करता है।

आलोचनात्मक दृष्टि से, अज्ञेय का मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद सामाजिक यथार्थ को एक नई गहराई देता है। उनकी रचनाएँ सामाजिक समस्याओं को व्यक्तिगत अनुभवों के लेंस से देखती हैं, जो प्रेमचंद की सामाजिक यथार्थवादी परंपरा से भिन्न है। हालांकि, उनकी यह दृष्टि सामूहिक परिवर्तन के लिए ठोस समाधान प्रस्तुत नहीं करती। उनकी रचनाएँ सामाजिक आलोचना को सूक्ष्म और प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त करती हैं, जो सामाजिक सुधार की प्रत्यक्ष माँग को कमजोर कर सकती है। फिर भी, यह दृष्टिकोण व्यक्ति और समाज के बीच जटिल संबंधों को समझने में सहायक है।

### 3. आधुनिकता की चेतना और प्रतीकात्मकता

अज्ञेय के उपन्यास आधुनिकता की चेतना से ओतप्रोत हैं, जो छायावाद की भावुकता और प्रगतिवाद की सामाजिकता से हटकर प्रयोगवादी और प्रतीकात्मक शैली अपनाते हैं। उनकी भाषा काव्यात्मक और संनादति है, जो पाठक को आत्म-चिंतन के लिए प्रेरित करती है। *शेखर: एक जीवनी* की आत्मकथात्मक शैली और काव्यात्मक अभिव्यक्ति नायक की मनोवैज्ञानिक गहराई को उजागर करती है। *नदी के द्वीप* में नदी और द्वीप का प्रतीक व्यक्ति की एकांतता और सामाजिक प्रवाह के बीच द्वंद्व को व्यक्त करता है। *अपने-अपने अजनबी* की जटिल संरचना और दार्शनिक संवाद आधुनिक साहित्य की वैश्विक धारा से संनादति हैं।

अज्ञेय की प्रतीकात्मकता उनकी संवेदना का मूल तत्व है। उनके उपन्यासों में प्रतीक—जैसे नदी, द्वीप, और अजनबी—आधुनिक जीवन की जटिलताओं, जैसे अलगाव, स्वतंत्रता और अस्मिता संकट, को व्यक्त करते हैं। उनकी काव्यात्मक शैली और प्रतीकात्मकता हिंदी उपन्यास को एक नई साहित्यिक ऊँचाई प्रदान करती है। हालांकि, उनकी जटिल शैली सामान्य पाठकों के लिए दुरूह हो सकती है, जिससे उनकी रचनाएँ अभिजन-केंद्रित प्रतीत होती हैं। फिर भी, उनकी आधुनिकता की चेतना हिंदी साहित्य को वैश्विक साहित्यिक मानकों से जोड़ती है, जो उनकी रचनाओं को कालजयी बनाती है।

अज्ञेय के उपन्यास समकालीन संदर्भों में प्रासंगिक हैं। उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की खोज आधुनिक समाज में व्यक्ति की आत्म-अभिव्यक्ति और स्वायत्तता की माँग को प्रतिबिंबित करती है। *शेखर: एक जीवनी* का विद्रोह आज के संदर्भ में उन युवाओं से मेल खाता है जो सामाजिक और राजनीतिक दबावों (जैसे सेंसरशिप और धार्मिक कट्टरता) के खिलाफ अपनी आवाज़ उठाते हैं। *नदी के द्वीप* का प्रेम और स्वतंत्रता का द्वंद्व व्यक्तिगत स्वायत्तता और सामाजिक अपेक्षाओं के बीच तनाव को दर्शाता है, जो आधुनिक समाज में लिंग

और स्वतंत्रता के प्रश्नों से जुड़ता है। अपने-अपने अजनबी का अलगाव डिजिटल युग में बढ़ते मानसिक स्वास्थ्य संकट और सामाजिक विखंडन को प्रतिबिंबित करता है, जहाँ व्यक्ति आभासी और वास्तविक संबंधों के बीच अर्थ खोजता है।

### निष्कर्ष :

वैश्विक स्तर पर, अज्ञेय के उपन्यास आधुनिकता और अस्तित्ववाद के साहित्यिक विमर्श से संनादति हैं। उनकी रचनाएँ वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद और अस्मिता संकट के युग में व्यक्ति की खोज को दर्शाती हैं। उनकी संवेदना उन वैश्विक चुनौतियों से जुड़ती है जहाँ व्यक्ति अपनी पहचान और अर्थ की तलाश में भटकता है। यह साहित्य शिक्षा और साहित्यिक विमर्श में शामिल होकर व्यक्तिगत और सामाजिक जागरूकता को बढ़ावा दे सकता है। अज्ञेय के उपन्यास हिंदी साहित्य में व्यक्तिगत चेतना, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और आधुनिकता के प्रतीक हैं। उनकी मूल संवेदना व्यक्ति की स्वतंत्रता, प्रेम और अस्मिता की खोज में निहित है, जो सामाजिक और राजनीतिक संदर्भों से संनादति है। उनकी रचनाएँ न केवल साहित्यिक कृतियाँ हैं, बल्कि आधुनिक मनुष्य की आंतरिक और बाह्य यात्रा का दस्तावेज भी हैं। उनकी प्रासंगिकता आज के संदर्भों में—विशेष रूप से व्यक्तिगत स्वायत्तता और मानसिक स्वास्थ्य के विमर्श में—बनी हुई है। अज्ञेय का साहित्य हिंदी उपन्यास को वैश्विक साहित्यिक मानकों से जोड़ता है, जो इसे कालजयी बनाता है।

### संदर्भ –

- अज्ञेय. (2000). *हिन्दी साहित्य: एक आधुनिक परिदृश्य*. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन.
- अवस्थी, ओमनारायण. (1966). *अज्ञेय का कथा साहित्य*. दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाऊस.
- उपाध्याय, देवराज. (1963). *हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान (द्वितीय संस्करण)*. इलाहाबाद: साहित्य भवन प्रा. लि.
- उपाध्याय, बलदेव. (2007). *भारतीय साहित्य शास्त्र (प्रथम खण्ड)*. काशी: प्रसाद परिषद.
- रांग्रा, रणवीर. (1961). *हिन्दी उपन्यास में चरित्रचित्रण का विकास*. दिल्ली: भारतीय साहित्य मंदिर.
- प्रेमसिंह, डॉ. (2010). *अज्ञेय चिन्तन और साहित्य*. दिल्ली: फिफथ डायमेंशन पब्लिकेशन; सोहन प्रिंटिंग प्रेस.

## झारखंड का आदिवासी कथा साहित्य : एक विश्लेषण

एलिजाबेथ मरांडी\*

marandielizabeth99@gmail.com

### सारांश :

यह शोध आलेख झारखण्ड के हिंदी कथा साहित्य में आदिवासी परिवेश और अस्मिता के चित्रण का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। झारखण्ड की आदिवासी परंपरा, जो प्रकृति, सामूहिकता और मौखिक संस्कृति पर आधारित है, आधुनिक औद्योगीकरण, खनन और वैश्वीकरण के दबाव में गहरे संकट का सामना कर रही है। हिंदी कथा साहित्य ने इस यथार्थ को संवेदनशीलता से चित्रित किया है। वाल्टर भेंगरा के सुबह की शाम से लेकर रणेंद्र के ग्लोबल गाँव के देवता और महुआ मांझी के मरंग घोड़ा नीलकंठ हुआ तक, यह साहित्य विस्थापन, भूमि-अधिग्रहण, सांस्कृतिक क्षरण और लिंग असमानता जैसे प्रश्नों को केंद्र में लाता है। रोज केरकेट्टा, मंगल सिंह मुंडा, मनमोहन पाठक और अन्य आदिवासी लेखकों ने अपनी रचनाओं में आदिवासी समाज की अंतर्विरोधी स्थितियों, विद्रोही चेतना और प्रकृति-पूजा को उजागर किया है। साथ ही, गैर-आदिवासी लेखकों—जैसे राकेश कुमार सिंह और रणेंद्र—ने भी आदिवासी जीवन को यथार्थवादी दृष्टि से प्रस्तुत किया है। आलेख में यह स्पष्ट किया गया है कि आदिवासी कथा साहित्य न केवल सांस्कृतिक दस्तावेज है, बल्कि सामाजिक न्याय और अस्मिता संघर्ष का वैचारिक औजार भी है। समकालीन परिप्रेक्ष्य में यह विमर्श वैश्वीकरण, विस्थापन और अस्मिता संकट के संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक है।

### मुख्य शब्द :

झारखण्ड, आदिवासी कथा साहित्य, अस्मिता संकट, विस्थापन, वैश्वीकरण, सांस्कृतिक, विद्रोही चेतना, परंपरा

झारखण्ड, भारत का एक ऐसा राज्य है जो अपनी प्राकृतिक समृद्धि, खनिज संसाधनों और आदिवासी संस्कृति के लिए जाना जाता है। यहाँ की जनसंख्या में लगभग 26 प्रतिशत आदिवासी हैं, जिनमें मुंडा, संथाल, ओरांव, हो, असुर, खड़िया और अन्य जनजातियाँ शामिल हैं। इनकी जीवनशैली प्रकृति से गहराई से जुड़ी हुई है, जहाँ वन, जल, जमीन और सामूहिकता के मूल्य सदियों से अटूट बंधन बनाए हुए हैं। लेकिन औद्योगीकरण, खनन, विस्थापन और वैश्वीकरण की लहरों ने इस परिवेश को गहरी चुनौतियों का सामना कराया है। हिंदी कथा साहित्य, जो उपन्यासों और कहानियों के माध्यम से सामाजिक यथार्थ को चित्रित करता है, ने झारखण्ड के आदिवासी परिवेश को एक महत्वपूर्ण विमर्श के रूप में अपनाया है। यह साहित्य न केवल आदिवासी जीवन की सांस्कृतिक समृद्धि को उजागर करता है, बल्कि उनके संघर्षों जैसे भूमि हड़पना, सांस्कृतिक क्षरण, लिंग असमानता और अस्मिता संकट को भी मुखर करता है।

झारखण्ड के हिंदी कथा साहित्य में आदिवासी परिवेश का चित्रण 20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से प्रमुखता से उभरा, जब स्वतंत्र भारत में विकास के नाम पर आदिवासी विस्थापन बढ़ा। प्रेमचंद की यथार्थवादी परंपरा से प्रेरित होकर, स्थानीय लेखकों ने आदिवासी विमर्श को दलित और स्त्री विमर्श के समानांतर

\* सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, एस आर टी महाविद्यालय, धमड़ी, गोड्डा

विकसित किया। प्रमुख लेखक जैसे रोज केरकेट्टा, विनोद कुमार, मनमोहन पाठक, मंगल सिंह मुंडा, राकेश कुमार सिंह, रणेंद्र, महुआ मांझी और अन्य ने अपनी रचनाओं में आदिवासी जीवन को जीवंत किया। यह साहित्य आदिवासी मौखिक परंपरा (लोकगीत, कथाएँ) से हिंदी की लिखित विधा में संक्रमण का प्रतीक है, जो 'अरेचर' (मौखिक और लिखित का समन्वय) के रूप में जाना जाता है। इस निबंध में हम झारखण्ड के हिंदी कथा साहित्य में आदिवासी परिवेश के ऐतिहासिक विकास, प्रमुख रचनाकारों और रचनाओं, सांस्कृतिक-सामाजिक चित्रण, आलोचनात्मक मूल्यांकन और समकालीन प्रासंगिकता पर विस्तार से चर्चा करेंगे। यह विमर्श न केवल साहित्यिक है, बल्कि सामाजिक न्याय और सांस्कृतिक संरक्षण की आवश्यकता को भी रेखांकित करता है। झारखण्ड का आदिवासी साहित्य मौखिक परंपरा से जन्मा है, जो सदियों पुरानी है। आदिवासी समाज में साहित्य का रूप लोकगीतों, नृत्यों, मिथकों और कथाओं में मिलता है। उदाहरणस्वरूप, सरहुल (वसंत उत्सव), करमा (प्रकृति पूजा) और बाहा (नृत्य-गीत) जैसे लोक तत्व आदिवासी जीवन की सामूहिकता और प्रकृति-पूजा को दर्शाते हैं। ब्रिटिश काल में कोल विद्रोह (1831), संथाल हूल (1855) और बिरसा मुंडा का उल्लगुलान (1899-1900) जैसे ऐतिहासिक संघर्षों ने आदिवासी चेतना को जागृत किया, जो बाद में साहित्य में प्रतिबिंबित हुए। बिरसा मुंडा को 'धरती आबा' (पृथ्वी का पिता) कहकर याद किया जाता है, और उनके विद्रोह ने भूमि-अधिकार की लड़ाई को प्रेरित किया। स्वतंत्र भारत में, 1950-60 के दशक में हिंदी साहित्य में आदिवासी चित्रण सीमित था, मुख्यतः गैर-आदिवासी लेखकों द्वारा रोमांटिक या शोषण-केंद्रित। लेकिन 1970-80 के दशक में नक्सल आंदोलन, भूमि अधिग्रहण और वन कानूनों के उल्लंघन ने स्थानीय लेखकों को प्रेरित किया। 2000 में झारखण्ड राज्य के गठन ने स्थानीय साहित्य को नई ऊर्जा दी। हिंदी कथा साहित्य में आदिवासी परिवेश का प्रवेश वाल्टर भेंगरा के उपन्यास 'सुबह की शाम' (1980) से माना जाता है, जिसे हिंदी का पहला आदिवासी उपन्यास कहा जाता है। यह झारखण्ड अंचल के जीवन को केंद्र में रखता है। उसके बाद, आदिवासी लेखकों ने हिंदी को माध्यम बनाया, क्योंकि यह मुख्यधारा से जुड़ने का साधन था। समकालीन काल में, वैश्वीकरण ने नई चुनौतियाँ लाईं खनन (कोयला, यूरेनियम) और औद्योगिक परियोजनाओं ने विस्थापन को बढ़ाया, जिसे साहित्य ने दर्शाया। आदिवासी साहित्य की प्रवृत्तियाँ सामूहिकता, विद्रोही चेतना और प्रकृति-संरक्षण पर आधारित हैं। हालांकि, मुख्यधारा हिंदी साहित्य में आदिवासी नायक अभी भी हाशिए पर हैं, और चित्रण अक्सर 'एक्सोटिक' या शोषण-केंद्रित रहता है। फिर भी, यह साहित्य आदिवासी अस्मिता को मजबूत करने का माध्यम बन रहा है। झारखण्ड के हिंदी कथा साहित्य में आदिवासी परिवेश को चित्रित करने वाले लेखक आदिवासी और गैर-आदिवासी दोनों हैं, जो सामाजिक सक्रियता से प्रेरित हैं। इनकी रचनाएँ आदिवासी जीवन की सूक्ष्मताओं को उजागर करती हैं।

रोज केरकेट्टा (1940-2025), खड़िया जनजाति की वरिष्ठ आदिवासी लेखिका, झारखण्ड साहित्य की एक मजबूत आवाज थीं। उन्होंने खड़िया और हिंदी दोनों भाषाओं में लिखा, और उनके कार्य आदिवासी महिलाओं के संघर्षों को केंद्र में रखते हैं। उनकी कहानी संग्रह 'पगहा जोरी जोरी रे घाटो' (2004) और 'बिरुवार गमछा और अन्य कहानियाँ' (2012) में विस्थापन, जेंडर असमानता और सांस्कृतिक विरासत के मुद्दे प्रमुख हैं। उदाहरणस्वरूप, कहानी 'फ्रॉक' में एक बालिका का मन प्रकृति और सांस्कृतिक परिवर्तन के बीच उलझा दिखता है, जहाँ आधुनिक शिक्षा आदिवासी परंपराओं से टकराती है। 'पंचु और मैग्नोलिया पॉइंट' में नस्लीय भेदभाव और प्रेम की कथा आदिवासी युवाओं की पहचान संकट को उजागर करती है। 'फिक्स डिपाजिट' औद्योगीकरण के दुष्प्रभावों पर व्यंग्य करती है, जहाँ बैंक और पूंजी आदिवासी भूमि को

निगल लेती है। 'जिद' में एक लड़की की शिक्षा के लिए दृढ़ता लिंग पूर्वाग्रहों को चुनौती देती है, जबकि 'बड़ा आदमी' पलायन की पीड़ा को चित्रित करती है। 'बीरुवार गमछा' स्वावलंबन की आदिवासी परंपरा के क्षरण पर आलोचना करती है। केरकेट्टा की रचनाएँ आत्मालोचनात्मक हैं; वे आदिवासी समाज के आंतरिक मुद्दों जैसे डायन प्रथा को भी छूती हैं। उनकी लेखनी प्रेमचंद की यथार्थवाद से प्रभावित है, लेकिन आदिवासी दृष्टि से समृद्ध। मनमोहन पाठक एक समर्पित हिंदी लेखक, ने अपने उपन्यासों में आदिवासी परिवेश को सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में चित्रित किया है। उनका उपन्यास 'गगन घटा गहरानी' (2015) बिहार की सामंतशाही के विरुद्ध चल रही लड़ाई को प्रखरता से उजागर करता है, जिसमें आदिवासी पात्रों के माध्यम से भूमि संघर्ष और सांस्कृतिक दमन दिखाया गया है। यह उपन्यास झारखण्ड की सांस्कृतिक विरासत को आधार बनाता है, जहाँ आदिवासी समाज के आर्थिक अभाव और विद्रोही चेतना को यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत किया गया है। पाठक की अन्य रचनाएँ जैसे 'संभावना' और 'पुटुस' आदिवासी जीवन की आशा और निराशा को दर्शाती हैं। समकालीन हिंदी उपन्यास में आदिवासी चेतना एवं आधुनिकता के द्वंद्व पर उनके कार्य महत्वपूर्ण हैं, जहाँ वे आदिवासी समाज की समस्याओं—जैसे बाल-विवाह की अनुपस्थिति लेकिन भागकर विवाह की प्रथा—को संवेदनशीलता से छूते हैं। पाठक की लेखनी प्रगतिशील विचारधारा से प्रभावित है, जो आदिवासी संघर्ष को मुख्यधारा साहित्य से जोड़ती है। मंगल सिंह मुंडा अपने मुंडा जनजाति के एक प्रमुख आदिवासी लेखक, ने हिंदी कथा साहित्य में अपनी जनजाति की सांस्कृतिक गहराई को प्रतिबिंबित किया है। उनका कहानी संग्रह 'महुआ का फूल' आदिवासी जीवन की सौंदर्यपूर्ण और संघर्षपूर्ण पक्षों को चित्रित करता है, जहाँ महुआ के फूल प्रतीक के रूप में सांस्कृतिक विरासत का प्रतीक बनते हैं। 'छैला सन्दु' में मुंडा परंपराओं, लोकगीतों और विस्थापन की पीड़ा को आत्मकथात्मक शैली में दर्शाया गया है। मंगल सिंह मुंडा को दूसरी पीढ़ी के कहानीकारों में गिना जाता है, और उनकी रचनाएँ 'पॉपुलर आदिवासी स्टोरीज' संग्रह में शामिल हैं। वे मुंडारी और हिंदी दोनों में लिखते हैं, जैसे 'मुंडा कोआ दस्तुर जोनोमाते गोनो ए सोमते', जो आदिवासी रीति-रिवाजों का दस्तावेजीकरण है। उनकी कहानियाँ आदिवासी समाज की सामूहिकता और प्रकृति-पूजा को जीवंत करती हैं, लेकिन आधुनिक चुनौतियों जैसे शिक्षा की कमी को भी उजागर करती हैं। मंगल सिंह मुंडा का योगदान आदिवासी साहित्य को मौखिक से लिखित रूप में संक्रमित करने में है। राकेश कुमार सिंह एक समर्पित गैर-आदिवासी लेखक, ने आदिवासी परिवेश को यथार्थवादी ढंग से चित्रित किया है। उनका उपन्यास 'पठार पर कोहरा' (2003) मुंडा आदिवासियों की करुण कथा है, जहाँ स्वतंत्रता के बाद भी 'दीकू' (गैर-आदिवासी साहूकार) द्वारा शोषण जारी रहता है। पठार का कोहरा आदिवासी जीवन की अनिश्चितता का प्रतीक है। 'हूल पहाड़िया' में तिलका मांझी के स्वतंत्रता संग्राम को आदिवासी दृष्टि से दर्शाया गया है, जो ब्रिटिश शासन के विरुद्ध पहला विद्रोह था। सिंह की कहानी संग्रह 'जोहर झारखंड' आदिवासी जनजीवन की विविध कहानियाँ प्रस्तुत करता है, जहाँ सरकारी योजनाओं की विफलता और भूमि हड़पना प्रमुख हैं। उनकी लेखनी प्रेमचंद से प्रेरित है, लेकिन स्थानीय संदर्भों से समृद्ध, जो आदिवासी प्रतिरोध को मुख्यधारा में लाती है। रणेंद्र एक आईएएस अधिकारी और लेखक, ने गैर-आदिवासी दृष्टि से आदिवासी जीवन को संवेदनशीलता से चित्रित किया। उनका उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' (2009) असुर जनजाति के जीवन को वैश्वीकरण के संदर्भ में प्रस्तुत करता है। कथा एक युवा नायक के माध्यम से असुरों की प्रकृति-पूजा (देवता के रूप में वन और पर्वत) और कॉरपोरेट शोषण के बीच संघर्ष दिखाती है। 'गायब होता देश' (2014) मुंडा आदिवासियों के विस्थापन और सांस्कृतिक क्षरण को दर्शाता है। महुआ मांझी एक उभरती आदिवासी लेखिका, ने हिंदी साहित्य में आदिवासी अस्मिता को वैचारिक गहराई प्रदान की है। उनका उपन्यास 'मरंग घोड़ा नीलकंठ हुआ' आदिवासी

संस्कृति के मिश्रण और आधुनिक चुनौतियों को चित्रित करता है, जहाँ घोड़ा और नीलकंठ प्रतीक के रूप में सांस्कृतिक संक्रमण दर्शाते हैं। मांझी की रचनाएँ संधाल और मुंडा परंपराओं से प्रेरित हैं, जो विस्थापन और पहचान संकट पर केंद्रित हैं। उनका योगदान आदिवासी स्त्री विमर्श को मजबूत करता है, जहाँ वे सांस्कृतिक संरक्षण की आवश्यकता पर जोर देती हैं। इसके अलावा, पीटर पॉल एक्का ('जंगल के गीत', 'परती जमीन'), संजीव (आदिवासी समाज पर उपन्यास) और वाल्टर भेंगरा ('सुबह की शाम') जैसे लेखकों ने भी योगदान दिया। ये रचनाएँ मौखिक परंपरा से प्रेरित हैं, जो हिंदी में रूपांतरित होकर समृद्धि प्रदान करती हैं।

झारखण्ड के हिंदी कथा साहित्य में आदिवासी परिवेश बहुआयामी है। सांस्कृतिक चित्रण प्रकृति-केंद्रित और मातृसत्तात्मक है। रचनाओं में वन-पूजा, उत्सव और सामूहिक निर्णय को दर्शाया गया है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' में असुरों की प्रकृति-पूजा वैश्वीकरण से टकराती है, जबकि मंगल सिंह मुंडा की 'महुआ का फूल' लोकगीतों से समृद्ध है। विनोद कुमार की 'भगिनी' आदिवासी लड़की की सांस्कृतिक जड़ों को उजागर करती है। समस्याएँ विस्थापन प्रमुख हैं। 'पठार पर कोहरा' में दीकू शोषण और भूमि हड़पना दिखाया गया है। मनमोहन पाठक की 'गगन घटा गहरानी' सामंतशाही के विरुद्ध संघर्ष दर्शाती है। औद्योगीकरण से स्वास्थ्य समस्याएँ (रेडियोधर्मिता) उत्पन्न होती हैं, जैसा एक्का की रचनाओं में शिक्षा की कमी, भाषा बाधा और आंतरिक मुद्दे जैसे डायन प्रथा भी उभरते हैं। लिंग असमानता में स्त्रियाँ दोहरे शोषण का शिकार हैं—रोज की 'जिद' इसका उदाहरण है। संघर्ष बिरसा मुंडा से प्रेरित हैं। रणेंद्र की 'गायब होता देश' में प्रशासनिक जुल्म के खिलाफ जीवटता दिखाई गई। वैश्वीकरण ने पलायन ('बड़ा आदमी') को बढ़ाया। ये चित्रण आदिवासी अस्मिता को मजबूत करते हैं, लेकिन गैर-आदिवासी लेखकों में पूर्वाग्रह की आलोचना भी होती है।

झारखण्ड के हिंदी कथा साहित्य में आदिवासी परिवेश एक जीवंत विमर्श है, जो सांस्कृतिक समृद्धि और समकालीन संघर्षों को जोड़ता है। रोज केरकेट्टा, विनोद कुमार, मनमोहन पाठक, मंगल सिंह मुंडा, राकेश कुमार सिंह, रणेंद्र, महुआ मांझी आदि की रचनाएँ आदिवासी अस्मिता को मजबूत करती हैं, जो वैश्वीकरण के दौर में प्रासंगिक हैं। यह साहित्य न केवल दस्तावेज है, बल्कि परिवर्तन का माध्यम भी। भविष्य में अधिक समावेशी विमर्श की आवश्यकता है, ताकि आदिवासी आवाज़ मुख्यधारा में गूँजे और सामाजिक न्याय सुनिश्चित हो।

## संदर्भ :

- कुमार, सुवास. (2010). *गल्प का यथार्थ: कथालोचन के आयाम*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
- कृष्ण, प्रणय. (2008). *उत्तर औपनिवेशिकता के श्रोत और हिन्दी साहित्य*. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन.
- कृष्ण, प्रणय. (2014). *विमर्श और आलोचना*. इलाहाबाद: स्पॉट क्रिएटिव सर्विसेस.
- गुप्ता, रमणिका. (2014). *आदिवासी विकास से विस्थापन*. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन.
- नयना. (2012). *समकालीन हिन्दी उपन्यास: रचना और परिवेश*. नई दिल्ली: प्रकाशन संस्थान.
- यादव, वीरेंद्र. (2009). *उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

## मुगलकालीन शिक्षा पद्धति : एक अध्ययन

डॉ. प्रियंका भारती\*

priyankabharti96674@gmail.com

मुगलकाल (1526-1857 ई.) भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण कालखंड है, जिसमें शिक्षा पद्धति ने सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक परिवेश को गहराई से प्रभावित किया। मुगलकालीन शिक्षा पद्धति विविधतापूर्ण थी, जिसमें इस्लामी, भारतीय और फारसी परंपराओं का समन्वय देखने को मिलता है। यह आलेख मुगलकालीन शिक्षा पद्धति के विभिन्न पहलुओं, जैसे शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधियां, संस्थान, और सामाजिक प्रभाव पर मुख्य रूप से प्रकाश डालेगा।

मुगलकाल में शिक्षा का स्वरूप मुख्य रूप से धार्मिक और व्यावहारिक था। शिक्षा का प्राथमिक उद्देश्य धार्मिक मूल्यों, प्रशासनिक कौशल, और सांस्कृतिक ज्ञान का प्रसार था। मुगल शासकों, विशेषकर अकबर, जहांगीर, और शाहजहां के समय में शिक्षा को संरक्षण प्राप्त हुआ। शिक्षा पद्धति में इस्लामी मदरसों, हिंदू पाठशालाओं, और गुरुकुलों का सह-अस्तित्व था। यह काल फारसी भाषा और साहित्य के विकास का भी साक्षी रहा, जो मुगल दरबार की प्रशासनिक भाषा थी।

मुगलकाल में शिक्षा के उद्देश्य बहुआयामी थे। धार्मिक शिक्षा के तहत मुस्लिम समुदाय के लिए कुरान, हदीस, और इस्लामी कानून (फिकह) की शिक्षा पर जोर था। हिंदू समुदाय में वेद, पुराण, और संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन प्रचलित था। फारसी भाषा और लेखन कला (इंशा) का प्रशिक्षण प्रशासकों और दरबारियों के लिए अनिवार्य था। सांस्कृतिक विकास के रूप में साहित्य, कला, संगीत, और विज्ञान की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया गया, विशेषकर अकबर के उदारवादी दृष्टिकोण के कारण। नैतिक विकास के रूप में शिक्षा के माध्यम से नैतिकता, अनुशासन, और सामाजिक मूल्यों को बढ़ावा देना।<sup>1</sup>

मुगलकाल में शिक्षा को दो मुख्य श्रेणियों में बांटा जा सकता है:

धार्मिक शिक्षा के तहत मुस्लिम शिक्षा, मदरसों में कुरान, हदीस, तफसीर, और फिकह पढ़ाया जाता था। प्रसिद्ध मदरसे दिल्ली, आगरा, और लखनऊ में थे। हिंदू शिक्षा, पाठशालाओं और गुरुकुलों में वेद, उपनिषद, और संस्कृत साहित्य का अध्ययन होता था। बनारस और मथुरा जैसे केंद्र हिंदू शिक्षा के लिए प्रसिद्ध थे।

लौकिक शिक्षा के तहत फारसी, अरबी, और उर्दू भाषा का अध्ययन। गणित, खगोलशास्त्र, चिकित्सा (यूनानी), और इतिहास जैसे विषय। सुलेख (खुशखती), कविता, और लेखन प्रशासनिक शिक्षा का हिस्सा थे।

मुगलकाल में शिक्षा के लिए विभिन्न प्रकार के संस्थान थे:

**मदरसे:** ये इस्लामी शिक्षा के केंद्र थे। अकबर ने फतेहपुर सीकरी में एक प्रसिद्ध मदरसा स्थापित किया था। औरंगजेब ने भी कई मदरसों को संरक्षण दिया। मुगलकालीन मदरसे, मकतबों के उच्चतर रूप थे, जो प्रारंभिक

\* पी-एच. डी. विश्वविद्यालय इतिहास विभाग, तिलकामाँझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

शिक्षा से आगे बढ़कर इस्लामी और धर्मनिरपेक्ष विषयों में गहन शिक्षा प्रदान करते थे। ये मुगल शासन (16वीं से 19वीं शताब्दी) के दौरान भारतीय उपमहाद्वीप में शिक्षा, संस्कृति और प्रशासन के महत्वपूर्ण केंद्र थे। मदरसों का स्थापना मुख्य रूप से उच्च शिक्षा के उद्देश्य से स्थापित किए गए थे, जहां इस्लामी धर्मशास्त्र (कुरान, हदीस, फिकह), फारसी साहित्य, तर्कशास्त्र, दर्शन, और कुछ हद तक गणित, खगोलशास्त्र और चिकित्सा जैसे विषय पढ़ाए जाते थे। इनका लक्ष्य धार्मिक विद्वान (उलेमा), प्रशासक, और न्यायाधीश (काजी) तैयार करना था, जो मुगल प्रशासन और समाज में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। मदरसे सांस्कृतिक और बौद्धिक केंद्र के रूप में भी कार्य करते थे, जहां विद्वान बहस और शोध में संलग्न होते थे।<sup>2</sup>

मदरसे मस्जिदों, शाही भवनों, या स्वतंत्र परिसरों में संचालित होते थे। कई मदरसों को शाही संरक्षण प्राप्त था। शिक्षण व्यक्तिगत और समूह-आधारित होता था, जिसमें मौखिक व्याख्यान, वाद-विवाद, और लिखित अभ्यास शामिल थे। शिक्षकों को मुद्दरिस या शेख कहा जाता था, जो अपने विषयों में विशेषज्ञ होते थे। शिक्षा निःशुल्क थी, और छात्रों को अक्सर वजीफा (स्कॉलरशिप) या भोजन-आवास की सुविधा प्रदान की जाती थी। फारसी कवियों जैसे सादी, हाफिज, और रूमी की रचनाएँ पढ़ाई जाती थीं। कुछ मदरसों में हिंदू दर्शन और संस्कृत ग्रंथों का भी अध्ययन होता था, विशेष रूप से अकबर के शासनकाल में, जब धार्मिक सहिष्णुता को बढ़ावा दिया गया। महत्वपूर्ण मदरसों में दिल्ली और आगरा के मदरसे थे। ये मुगल राजधानी में प्रमुख बौद्धिक केंद्र थे। उदाहरण के लिए, अकबर ने आगरा में एक मदरसे की स्थापना की थी। फतेहपुर सीकरी का मदरसा अकबर के शासनकाल में एक प्रसिद्ध मदरसा था, जहां विभिन्न धर्मों के विद्वान एकत्रित होते थे। औरंगजेब ने इस्लामी शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए कई मदरसों को संरक्षण दिया, जैसे दिल्ली का मदरसा-ए-आलमगिरी।<sup>3</sup> बाद में, 18वीं सदी में, मदरसा-ए-रहिमिया (शाह वलीउल्लाह के पिता द्वारा स्थापित) ने इस्लामी शिक्षा को नया आयाम दिया। अकबर के धार्मिक सहिष्णुता के कारण उनके मदरसों में हिंदू और इस्लामी दर्शन दोनों का अध्ययन होता था। उन्होंने इबादतखाना (फतेहपुर सीकरी) में विद्वानों की बहस को प्रोत्साहन दिया। जहांगीर और शाहजहाँ ने मदरसों को वित्तीय सहायता और जमीन (वक्फ) प्रदान की। औरंगजेब ने इस्लामी शिक्षा पर विशेष जोर दिया और कई मदरसों की स्थापना की। सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव के तहत मदरसे इस्लामी संस्कृति, फारसी साहित्य, और मुगल प्रशासनिक प्रणाली को मजबूत करने में महत्वपूर्ण थे। ये विभिन्न समुदायों के बीच बौद्धिक आदान-प्रदान के केंद्र थे, विशेष रूप से अकबर के समय में जब हिंदू-मुस्लिम विद्वानों की संयुक्त चर्चाएँ होती थीं। मदरसों ने उलेमा वर्ग को तैयार किया, जो धार्मिक और कानूनी मामलों में समाज का मार्गदर्शन करता था।<sup>4</sup>

मदरसों का पाठ्यक्रम मुख्य रूप से इस्लामी और फारसी शिक्षा पर केंद्रित था, जिसके कारण आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी का अध्ययन सीमित रहा। शिक्षा का लाभ मुख्य रूप से मुस्लिम पुरुषों तक सीमित था, हालांकि कुछ उच्च वर्ग की महिलाओं को घर पर शिक्षा मिलती थी। गैर-मुस्लिम समुदायों के लिए मदरसों की पहुंच सीमित थी।<sup>5</sup>

**मकतब:** प्रारंभिक शिक्षा के लिए मकतब थे, जहां बच्चों को पढ़ना, लिखना, और बुनियादी धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। मुगलकालीन मकतब (मदरसे) भारतीय उपमहाद्वीप में शिक्षा के महत्वपूर्ण केंद्र थे, जो मुख्य रूप से इस्लामी शिक्षा प्रदान करने के लिए स्थापित किए गए थे। ये मकतब मुगल शासन (16वीं से 19वीं शताब्दी) के दौरान विशेष रूप से फले-फूले और शिक्षा के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मकतबों का उद्देश्य मुख्य रूप से बच्चों को प्रारंभिक शिक्षा प्रदान करने के लिए था, जिसमें कुरान की तिलावत, इस्लामी सिद्धांत, और

अरबी भाषा का अध्ययन शामिल था। धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ, कुछ मकतबों में बुनियादी गणित, लेखन, और फारसी भाषा (मुगल दरबार की आधिकारिक भाषा) भी पढ़ाई जाती थी। इनका लक्ष्य बच्चों को इस्लामी मूल्यों और नैतिकता के साथ-साथ सामाजिक और प्रशासनिक कार्यों के लिए तैयार करना था। मकतब आमतौर पर मस्जिदों, विद्वानों के घरों, या समुदाय के समर्पित स्थानों में संचालित होते थे। शिक्षण मौखिक और लिखित दोनों रूपों में होता था। कुरान को याद करना (हिफज) और उसकी व्याख्या करना प्राथमिकता थी। शिक्षक, जिन्हें मौलवी या उस्ताद कहा जाता था, व्यक्तिगत रूप से छात्रों को पढ़ाते थे और उनकी प्रगति पर नजर रखते थे। शिक्षा में अनुशासन और नैतिकता पर विशेष ध्यान दिया जाता था।<sup>6</sup>

कुरान, हदीस, और इस्लामी फिकह (न्यायशास्त्र) का अध्ययन। अरबी और फारसी भाषा का अध्ययन, क्योंकि फारसी मुगल प्रशासन और साहित्य की भाषा थी। कुछ मकतबों में फारसी साहित्य और काव्य जैसे सादी और हाफिज की रचनाओं का अध्ययन कराया जाता था। प्रशासनिक कार्यों के लिए आवश्यक गणित और लेखन कौशल सिखाया जाता था। मकतब केवल धार्मिक शिक्षा तक सीमित नहीं थे, ये सामाजिक एकता और सांस्कृतिक मूल्यों को बढ़ावा देने में भी सहायक थे। मुगल शासकों, जैसे अकबर, जहांगीर, और औरंगजेब, ने मकतबों और मदरसों को संरक्षण प्रदान किया, जिससे शिक्षा का प्रसार हुआ। मकतबों ने फारसी और इस्लामी संस्कृति को भारतीय उपमहाद्वीप में स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।<sup>7</sup>

प्रमुख मकतब और मदरसे में से कुछ मकतब उच्च शिक्षा के लिए मदरसों में विकसित हुए, जैसे दिल्ली और आगरा के प्रसिद्ध मदरसे। मदरसा-ए-रहिमिया (बाद में) और अन्य संस्थान इस्लामी शिक्षा के प्रमुख केंद्र बन गए। मुगल बादशाहों और अमीरों द्वारा दान और वक्फ (धार्मिक ट्रस्ट) के माध्यम से मकतबों को वित्तीय सहायता प्रदान की जाती थी।

मकतबों में शिक्षा मुख्य रूप से धार्मिक थी, जिसके कारण आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी का अध्ययन सीमित था। शिक्षा का दायरा ज्यादातर उच्च वर्गों और पुरुषों तक सीमित था, हालांकि कुछ मामलों में महिलाओं को भी घरेलू स्तर पर शिक्षा दी जाती थी। गैर-मुस्लिम समुदायों के लिए मकतबों की पहुंच सीमित थी, क्योंकि पाठ्यक्रम इस्लामी शिक्षा पर केंद्रित था।

पाठशालाएं और गुरुकुल: मुगलकालीन भारत में पाठशालाएं और गुरुकुल हिंदू और अन्य गैर-मुस्लिम समुदायों के लिए शिक्षा के प्रमुख केंद्र थे। ये प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली का हिस्सा थे और मुगलकाल (16वीं से 19वीं शताब्दी) में भी अस्तित्व में रहे, हालांकि इनका स्वरूप और प्रभाव क्षेत्रीय और सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर था।

पाठशालाएं प्रारंभिक और मध्यम स्तर की शिक्षा के लिए स्थानीय स्कूल थीं, जो गाँवों और कस्बों में संचालित होती थीं। इनका मुख्य उद्देश्य बच्चों को बुनियादी साक्षरता, गणित, और धार्मिक-सांस्कृतिक ज्ञान प्रदान करना था। पाठशालाएं मुख्य रूप से हिंदू, जैन, और सिख समुदायों के लिए थीं, लेकिन कभी-कभी अन्य समुदायों के बच्चे भी शामिल होते थे। यहाँ मुख्य रूप से संस्कृत, प्राकृत, या स्थानीय भाषाएँ (जैसे अवधी, ब्रज, या मराठी) भाषाओं में पढ़ाई जाती थी। संस्कृत में वेद, पुराण, और साहित्य (जैसे रामायण, महाभारत) पढ़ाए जाते थे। व्यापार और दैनिक जीवन के लिए गणित, हिसाब-किताब, और लेखन कौशल। धार्मिक और नैतिक शिक्षा के रूप में हिंदू धर्मग्रंथ (उपनिषद, भगवद्गीता), जैन और बौद्ध ग्रंथ, और नैतिक कहानियाँ पढ़ाई जाती थीं। कुछ पाठशालाओं में काव्य, व्याकरण, और ज्योतिष भी पढ़ाया जाता था। शिक्षण पद्धति के रूप में

शिक्षक (जिन्हें गुरु या पंडित कहा जाता था) व्यक्तिगत रूप से या छोटे समूहों में पढ़ाते थे। शिक्षा मौखिक और लिखित दोनों रूपों में होती थी, जिसमें ग्रंथों को याद करना और उनकी व्याख्या करना शामिल था। पाठशालाएँ अक्सर मंदिरों, गुरुओं के घरों, या सामुदायिक स्थानों पर चलती थीं। सामाजिक महत्व के तहत पाठशालाएँ स्थानीय समुदायों में शिक्षा का प्रसार करती थीं और सामाजिक-धार्मिक मूल्यों को बनाए रखती थीं। ये मुख्य रूप से उच्च और मध्यम वर्ग (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए थीं, लेकिन कुछ क्षेत्रों में निम्न जातियों के लिए भी खुली थीं। मुगलकाल में, कुछ पाठशालाएँ मुगल संरक्षण से प्रभावित नहीं हुईं, क्योंकि ये समुदाय-आधारित थीं<sup>8</sup>

गुरुकुल एक आवासीय शिक्षा प्रणाली थी, जहाँ छात्र गुरु के साथ उनके आश्रम या घर में रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। इसका उद्देश्य छात्रों को व्यापक बौद्धिक, आध्यात्मिक, और व्यावहारिक ज्ञान देना था, ताकि वे समाज में नेतृत्वकारी भूमिका निभा सकें। गुरुकुल प्रणाली प्राचीन वैदिक काल से चली आ रही थी और मुगलकाल में भी यह हिंदू विद्वानों और धार्मिक नेताओं के लिए महत्वपूर्ण थी। वैदिक अध्ययन के तहत वेद, उपनिषद, ब्राह्मण ग्रंथ, और कर्मकांड (यज्ञ, पूजा विधियाँ) की पढ़ाई होती थी। दर्शन और तर्कशास्त्र के रूप में सांख्य, योग, न्याय, और वेदांत जैसे दर्शन की पढ़ाई होती थी। विज्ञान और कला के रूप में ज्योतिष, आयुर्वेद, संगीत, और युद्धकला (क्षत्रियों के लिए) की पढ़ाई होती थी। गुरु शिष्यों को नैतिकता, आत्म-अनुशासन, और सामाजिक कर्तव्यों का प्रशिक्षण देते थे<sup>9</sup> कुछ गुरुकुलों में संस्कृत साहित्य (कालिदास, भवभूति) और काव्य भी पढ़ाया जाता था। शिक्षण पद्धति के रूप में गुरुकुल में शिक्षा अत्यंत अनुशासित और गुरु-केंद्रित होती थी। छात्र गुरु के साथ रहते थे और उनकी सेवा (गुरुदक्षिणा) करते थे। शिक्षण मौखिक परंपरा पर आधारित था, जिसमें ग्रंथों को याद करना और उनकी गहन व्याख्या करना शामिल था। शारीरिक और मानसिक विकास के लिए योग, ध्यान, और व्यायाम भी सिखाया जाता था। शिक्षा निःशुल्क होती थी, और छात्र गुरु को भेंट या सेवा के रूप में दक्षिणा देते थे। मुगलकाल में इसकी स्थिति, मुगल शासकों, विशेष रूप से अकबर, ने हिंदू शिक्षा प्रणाली को कुछ हद तक संरक्षण दिया। उदाहरण के लिए, अकबर ने बनारस और मथुरा जैसे हिंदू तीर्थ स्थानों में पाठशालाओं और गुरुकुलों को सहायता दी। हालांकि, औरंगजेब जैसे शासकों के काल में हिंदू शिक्षा संस्थानों पर कुछ प्रतिबंध लगे, जिससे कई गुरुकुल गाँवों और दूरस्थ क्षेत्रों में सीमित हो गए। फिर भी, बनारस, कांची, और उज्जैन जैसे केंद्रों में गुरुकुल फलते-फूलते रहे।

मुगलकाल में पाठशाला और गुरुकुल की विशेषताएँ स्वायत्तता थी। जिसके तहत पाठशालाएँ और गुरुकुल मुख्य रूप से समुदाय-आधारित थे और स्थानीय जमींदारों, व्यापारियों, या मंदिरों द्वारा वित्तपोषित होते थे। अकबर की धार्मिक सहिष्णुता नीति ने हिंदू और इस्लामी विद्वानों के बीच संवाद को बढ़ावा दिया, जिससे कुछ गुरुकुलों में फारसी और इस्लामी दर्शन का भी अध्ययन शुरू हुआ। शिक्षा मुख्य रूप से उच्च जातियों तक सीमित थी, लेकिन कुछ क्षेत्रों में वैश्य और शूद्र समुदायों के लिए भी पाठशालाएँ खुली थीं। महिलाओं की शिक्षा सीमित थी और प्रायः घरों तक ही सीमित रहती थी। दक्षिण भारत में (विजयनगर साम्राज्य के प्रभाव में) और राजस्थान, गुजरात जैसे क्षेत्रों में गुरुकुल और पाठशालाएँ अधिक सक्रिय थीं, क्योंकि वहाँ मुगल प्रभाव कम था। मदरसों से इसकी तुलना करें तो मदरसे इस्लामी शिक्षा और प्रशासनिक कौशल पर केंद्रित थे, जबकि पाठशालाएँ और गुरुकुल हिंदू धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं पर। मदरसों में फारसी और अरबी प्रमुख थीं, जबकि पाठशालाओं और गुरुकुलों में संस्कृत और स्थानीय भाषाएँ। मदरसों को मुगल शासकों का प्रत्यक्ष संरक्षण प्राप्त था, जबकि पाठशालाएँ और गुरुकुल समुदाय-आधारित थे। मदरसों का प्रभाव शहरी और प्रशासनिक क्षेत्रों में अधिक था, जबकि पाठशालाएँ और गुरुकुल ग्रामीण और धार्मिक क्षेत्रों में प्रभावी थे।<sup>10</sup>

मुगलकाल के बाद स्थिति में काफी परिवर्तन हुआ। मुगल साम्राज्य के पतन और ब्रिटिश शासन के आगमन के साथ पाठशालाएँ और गुरुकुल कमजोर पड़ गए, क्योंकि अंग्रेजी शिक्षा और मिशनरी स्कूलों को बढ़ावा दिया गया। फिर भी, बनारस और अन्य स्थानों पर कुछ गुरुकुल आज भी जीवित हैं, और आधुनिक भारत में संस्कृत और वैदिक शिक्षा को पुनर्जनन मिला है। मुगलकाल में पाठशालाएँ और गुरुकुल हिंदू शिक्षा प्रणाली के आधार थे, जो धार्मिक, सांस्कृतिक, और बौद्धिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। ये स्थानीय समुदायों द्वारा संचालित थे और मुख्य रूप से संस्कृत और वैदिक परंपराओं पर आधारित थे। हालांकि, मुगल शासकों का सीमित संरक्षण और आधुनिक विषयों की कमी ने इनके दायरे को प्रभावित किया।

### मुगल शासकों का शिक्षा में योगदान:

मुगलकाल (1526-1857 ई.) भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण कालखंड है, जिसमें शिक्षा पद्धति को मुगल शासकों के संरक्षण और नीतियों से गहरा प्रभाव मिला। विभिन्न मुगल शासकों ने अपनी धार्मिक, सांस्कृतिक और प्रशासनिक प्राथमिकताओं के आधार पर शिक्षा के विकास में योगदान दिया। बाबर से औरंगजेब तक, प्रत्येक शासक ने शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए अलग-अलग दृष्टिकोण अपनाए, जिसने धार्मिक, लौकिक और सांस्कृतिक शिक्षा को समृद्ध किया।

बाबर (1526-1530 ई.) बाबर, मुगल वंश का संस्थापक, एक विद्वान और साहित्य प्रेमी शासक था। हालांकि उसका शासनकाल संक्षिप्त और युद्ध-प्रधान था, फिर भी उसने शिक्षा के क्षेत्र में कुछ प्रारंभिक योगदान दिए। बाबर स्वयं एक कवि और लेखक था। उसकी आत्मकथा बाबरनामा (तुर्की भाषा में) तत्कालीन इतिहास और संस्कृति का महत्वपूर्ण दस्तावेज है। इसने फारसी और तुर्की साहित्य के अध्ययन को प्रोत्साहित किया। बाबर ने मकतबों और धार्मिक शिक्षा को प्रोत्साहन दिया, जो इस्लामी शिक्षा की नींव रखने में सहायक था। उसने दिल्ली और आगरा में कुछ मकतबों को संरक्षण प्रदान किया। बाबर का शासनकाल युद्धों और साम्राज्य स्थापना में व्यस्त रहा, इसलिए शिक्षा पर उसका योगदान सीमित रहा। फिर भी, उसने फारसी भाषा और साहित्य को दरबारी संस्कृति का हिस्सा बनाया, जो बाद के शासकों के लिए आधार बना।<sup>11</sup>

हुमायूँ का शासनकाल अस्थिरता से भरा था, जिसके कारण शिक्षा में उसका योगदान अपेक्षाकृत कम रहा। फिर भी, उसने कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाए। हुमायूँ को पुस्तकों और विद्वानों से प्रेम था। उसने अपने दरबार में फारसी और अरबी विद्वानों को संरक्षण दिया, जिसने इस्लामी शिक्षा को बढ़ावा दिया। हुमायूँ को ज्योतिष और खगोलशास्त्र में गहरी रुचि थी। उसने खगोलशास्त्रियों को प्रोत्साहित किया और इस क्षेत्र में अध्ययन को बढ़ावा दिया। हुमायूँ के शासनकाल में शेरशाह सूरी के साथ युद्ध और निर्वासन के कारण शिक्षा पर व्यवस्थित ध्यान नहीं दिया जा सका।<sup>12</sup>

अकबर मुगल शासकों में सबसे उदार और दूरदर्शी शासक था, जिसने शिक्षा के क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान दिया। उसकी नीतियों ने हिंदू-मुस्लिम समन्वय और सांस्कृतिक समृद्धि को बढ़ावा दिया। अकबर ने इस्लामी शिक्षा के लिए मदरसों और हिंदू शिक्षा के लिए पाठशालाओं को समर्थन दिया। फतेहपुर सीकरी में एक प्रसिद्ध मदरसा स्थापित किया गया, जहां इस्लामी और लौकिक विषयों का अध्ययन होता था। अकबर ने मक्तबखाना (अनुवाद केंद्र) की स्थापना की, जहां संस्कृत, अरबी, और अन्य भाषाओं के ग्रंथों का फारसी में अनुवाद हुआ। उदाहरण के लिए महाभारत का फारसी अनुवाद (रज्मनामा)। रामायण, अथर्ववेद, और पंचतंत्र

जैसे ग्रंथों का अनुवाद। यह कार्य हिंदू और मुस्लिम विद्वानों के बीच सांस्कृतिक समन्वय का प्रतीक था। अकबर ने फतेहपुर सीकरी में इबादतखाना (धार्मिक चर्चा केंद्र) स्थापित किया, जहां विभिन्न धर्मों (इस्लाम, हिंदू, जैन, सिख, ईसाई) के विद्वानों के बीच वाद-विवाद आयोजित किए गए। इससे बौद्धिक और धार्मिक शिक्षा को बढ़ावा मिला। अकबर ने फारसी को प्रशासनिक भाषा के रूप में मजबूत किया, जिसने फारसी साहित्य और लेखन कला (इंशा) की शिक्षा को प्रोत्साहित किया। साथ ही, उसने संस्कृत विद्वानों को भी संरक्षण दिया, जैसे बनारस के पंडितों को। अकबर ने चित्रकला, संगीत, और खगोलशास्त्र को प्रोत्साहन दिया। तानसेन जैसे संगीतज्ञ और अबुल फजल जैसे विद्वानों को उसके दरबार में सम्मान मिला। उदार नीतियों के कारण अकबर की सुलह-ए-कुल (सार्वभौमिक सहिष्णुता) नीति ने शिक्षा में समन्वयवादी दृष्टिकोण को बढ़ावा दिया। उसने सभी धर्मों और समुदायों की शिक्षा को समान रूप से प्रोत्साहित किया।<sup>13</sup>

जहांगीर ने अपने पिता अकबर की उदार नीतियों को कुछ हद तक जारी रखा और शिक्षा के साथ-साथ कला और साहित्य को बढ़ावा दिया। जहांगीर ने फारसी साहित्य और मुगल चित्रकला को प्रोत्साहन दिया। उसका दरबार विद्वानों और कलाकारों से भरा था, जिसने साहित्यिक और सांस्कृतिक शिक्षा को समृद्ध किया। अपने दरबार में पुस्तकालयों को बढ़ावा दिया, जहां फारसी और अरबी ग्रंथों का संग्रह किया गया। यह विद्वानों और छात्रों के लिए उपयोगी था। खगोलशास्त्र में रुचि थी, और उसने इस क्षेत्र में अध्ययन को प्रोत्साहित किया। जहांगीर का ध्यान मुख्य रूप से कला और विलासिता पर था, जिसके कारण शिक्षा में व्यवस्थित विकास सीमित रहा। फिर भी, उसने अकबर की नीतियों को बनाए रखा।<sup>14</sup>

शाहजहां का शासनकाल कला, वास्तुकला और साहित्य का स्वर्णकाल माना जाता है, जिसका प्रभाव शिक्षा पर भी पड़ा। शाहजहां ने दिल्ली और आगरा में कई मदरसों को वित्तीय सहायता प्रदान की, जहां इस्लामी शिक्षा और फारसी साहित्य पढ़ाया जाता था। फारसी साहित्य और सुलेख: शाहजहां ने फारसी कविता और सुलेख को प्रोत्साहित किया। उसके दरबार में सुलेखक और कवि सम्मानित थे, जिसने प्रशासनिक शिक्षा को बढ़ावा दिया। वास्तुकला और तकनीकी शिक्षा के तहत ताजमहल जैसी वास्तुशिल्प कृतियों के निर्माण के लिए गणित, ज्यामिति और इंजीनियरिंग की शिक्षा को प्रोत्साहन मिला। शाहजहां का ध्यान मुख्य रूप से वास्तुकला और दरबारी संस्कृति पर था, जिसके कारण शिक्षा का व्यापक प्रसार सीमित रहा।<sup>15</sup>

औरंगजेब एक रूढ़िवादी शासक था, जिसने इस्लामी शिक्षा को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया। इस्लामी शिक्षा को प्राथमिकता दी। औरंगजेब ने मदरसे की स्थापना और संरक्षण पर विशेष ध्यान दिया। उसने दिल्ली, लखनऊ और औरंगाबाद में कई नए मदरसों को वित्तीय सहायता प्रदान की। फिकह और हदीस का अध्ययन के तहत औरंगजेब ने इस्लामी कानून (फिकह) और हदीस के अध्ययन को बढ़ावा दिया। उसने स्वयं फतवा-ए-आलमगीरी (इस्लामी कानून का संग्रह) को संकलित करवाया, जो शिक्षा और कानूनी प्रशिक्षण के लिए महत्वपूर्ण था। फारसी और अरबी भाषा की शिक्षा को प्रोत्साहित किया, जो प्रशासन और धार्मिक विद्या के लिए आवश्यक थी। औरंगजेब की रूढ़िवादी नीतियों के कारण हिंदू शिक्षा और सांस्कृतिक समन्वय को कम प्रोत्साहन मिला। उसने संस्कृत और अन्य गैर-इस्लामी शिक्षा को नजरअंदाज किया, जिससे शिक्षा का दायरा सीमित हुआ।

मुगल शासक औरंगजेब के बाद मुगल साम्राज्य कमजोर हो गया, और शिक्षा में शासकीय योगदान भी कम हुआ। फिर भी, कुछ बाद के शासकों, जैसे बहादुर शाह जफर, ने साहित्य और कविता को प्रोत्साहित

किया। उर्दू भाषा का विकास इस काल में हुआ, जो शिक्षा और साहित्य का एक नया आयाम बना। मुगल शासकों के योगदान की विशेषताएं सांस्कृतिक समन्वय अकबर जैसे शासकों ने हिंदू और इस्लामी शिक्षा के बीच समन्वय को बढ़ावा दिया, जिसने भारतीय संस्कृति को समृद्ध किया। फारसी को प्रशासनिक और साहित्यिक भाषा के रूप में स्थापित करने में मुगल शासकों का योगदान महत्वपूर्ण था। मुगल शासकों ने शिक्षा संस्थानों को वित्तीय और प्रशासनिक सहायता प्रदान की। चित्रकला, संगीत, खगोलशास्त्र और यूनानी चिकित्सा को प्रोत्साहन मिला, जो शिक्षा का हिस्सा बने। शिक्षा मुख्य रूप से उच्च वर्गों और पुरुषों तक सीमित थी। निम्न वर्गों और महिलाओं को शिक्षा के अवसर कम मिले। औरंगजेब जैसे शासकों की रूढ़िवादी नीतियों ने सांस्कृतिक समन्वय को सीमित किया। आधुनिक वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा का विकास सीमित रहा, क्योंकि शिक्षा मुख्य रूप से धार्मिक और प्रशासनिक थी।<sup>16</sup>

मुगल शासकों ने शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया, जो धार्मिक, लौकिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में परिलक्षित हुआ। अकबर का समन्वयवादी दृष्टिकोण और औरंगजेब की इस्लामी शिक्षा पर जोर ने शिक्षा पद्धति को विभिन्न दिशाओं में ले गया। बाबर और हुमायूं ने प्रारंभिक नींव रखी, जबकि जहांगीर और शाहजहां ने कला और साहित्य के माध्यम से शिक्षा को समृद्ध किया। हालांकि, सामाजिक और लैंगिक असमानताओं ने शिक्षा की पहुंच को सीमित रखा। मुगलकालीन शिक्षा भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण पड़ाव थी, जिसने औपनिवेशिक काल में शिक्षा के विकास की नींव रखी।

#### संदर्भ:

1. चंद्रा, सतीश. (2007). *मध्यकालीन भारत का इतिहास*. नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान.
2. आलम, मुजफ्फर, & सुब्रह्मण्यम, संजय. (2010). *मुगल साम्राज्य*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
3. अली, एम. अथर. (2006). *मुगल इंडिया: स्टडीज इन पॉलिटी, आइडियाज, सोसाइटी, एंड कल्चर*. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
4. चंद्रा, सतीश. (2007). *मध्यकालीन भारत का इतिहास: दिल्ली सल्तनत से मुगलों तक*. नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान.
5. आलम, मुजफ्फर, & सुब्रह्मण्यम, संजय. (2010). *मुगल साम्राज्य*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
6. शर्मा, राम शरण. (2005). *भारत का इतिहास*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
7. सक्सेना, आर. के. (2008). *मध्यकालीन भारत: एक सामाजिक और सांस्कृतिक अध्ययन*. नई दिल्ली: विश्वविद्यालय प्रकाशन.
8. कुलश्रेष्ठ, इंदु. (2010). *भारत का इतिहास और संस्कृति*. नई दिल्ली: विश्वविद्यालय प्रकाशन.
9. सिंह, उपेंद्र. (2010). *प्राचीन और मध्यकालीन भारत का इतिहास*. नई दिल्ली: पेंगुइन.
10. रिजवी, सैयद अतहर अब्बास. (2002). *मुगलकाल में धार्मिक और बौद्धिक इतिहास*. दिल्ली: मुनशीराम मनोहरलाल.
11. चौहान, बी. आर. (2006). *मध्यकालीन भारत में शिक्षा और संस्कृति*. नई दिल्ली: अनामिका प्रकाशन.
12. पांडे, राम गोपाल. (2009). *मुगल साम्राज्य: एक सांस्कृतिक अध्ययन*. नई दिल्ली: साहित्य अकादेमी.
13. वर्मा, एच. सी. (2012). *मध्यकालीन भारत में सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन*. नई दिल्ली: विश्व पुस्तक प्रकाशन.
14. जैन, एम. पी. (2004). *भारत का सांस्कृतिक इतिहास*. नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट.
15. यादव, बी. एस. (2004). *मध्यकालीन भारत का सामाजिक इतिहास*. नई दिल्ली: अनामिका प्रकाशन.
16. सिंह, के. एन. (2006). *मुगलकाल में शिक्षा और प्रशासन*. नई दिल्ली: विश्व पुस्तक प्रकाशन.

## मुगलकालीन भारत में वस्त्र निर्माण की प्रक्रियाएं: एक अध्ययन

डॉ. अंकिता सिंह\*

aakashranjan099@gmail.com

### सारांश

मुगलकाल (1526-1857ई.) भारतीय इतिहास में कला, संस्कृति, और अर्थव्यवस्था के लिए स्वर्णिम युग माना जाता है। इस काल में वस्त्र उद्योग न केवल आर्थिक समृद्धि का प्रतीक था, बल्कि भारतीय शिल्पकला की उत्कृष्टता का भी द्योतक था। मुगलकालीन भारत के वस्त्र विश्व भर में अपनी बारीक कारीगरी, रंगों की विविधता, और डिजाइनों की भव्यता के लिए प्रसिद्ध थे। यह शोध आलेख मुगलकालीन वस्त्र निर्माण की प्रक्रियाओं, तकनीकों, सामाजिक-आर्थिक महत्व, और वैश्विक व्यापार में उनकी भूमिका का विश्लेषण करता है। इस अध्ययन का उद्देश्य वस्त्र निर्माण की तकनीकी प्रक्रियाओं को समझना और उनके सांस्कृतिक महत्व को रेखांकित करना है।

**मुख्य शब्द :** मुगलकाल, वस्त्र उद्योग, कताई, बुनाई, रंगाई, छपाई, कढ़ाई, मलमल, चरखा

मुगलकाल से पहले भारत में वस्त्र उद्योग पहले से ही विकसित था, लेकिन मुगलों ने इसे संगठित और वैश्विक स्तर पर ले जाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। बाबर से लेकर औरंगजेब तक, मुगल बादशाहों ने वस्त्र कला को संरक्षण प्रदान किया।<sup>1</sup> उनके दरबार में “खानकाह” (कारखाने) स्थापित किए गए, जहां उच्च गुणवत्ता वाले वस्त्र तैयार किए जाते थे। ढाका की मलमल, बनारस का जरी-काम, और गुजरात की छोट (छापा हुआ कपड़ा) विश्व प्रसिद्ध थे।<sup>2</sup> यूरोपीय व्यापारियों, जैसे पुर्तगालियों, डच, और अंग्रेजों ने भारतीय वस्त्रों की मांग को और बढ़ाया। इस काल में वस्त्र न केवल उपयोगिता की वस्तु थे, बल्कि राजनयिक उपहार और सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रतीक भी थे।

मुगलकालीन वस्त्र निर्माण में मुख्य रूप से सूती, रेशम, और ऊन का उपयोग होता था। सूती वस्त्र बंगाल, गुजरात, और दक्षिण भारत के क्षेत्रों से उच्च गुणवत्ता वाला कपास प्राप्त किया जाता था। ढाका की मलमल इतनी महीन थी कि इसे “बाफ्त हवा”<sup>3</sup> (हवा में बुना हुआ) कहा जाता था। कश्मीर, बंगाल, और असम से रेशम प्राप्त होता था। रेशम के धागों को रंगने और बुनने की तकनीक में भारतीय कारीगर निपुण थे। कश्मीर और पंजाब से पश्मीना और शाल जैसे ऊनी वस्त्रों के लिए कच्चा माल लिया जाता था।<sup>4</sup>

कपास की खेती और रेशम उत्पादन में स्थानीय किसानों और कारीगरों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। कच्चे माल को तैयार करने के लिए धुनाई, कताई, और रंगाई जैसी प्रक्रियाएं गांवों और छोटे कस्बों में की जाती थीं।<sup>5</sup>

\*एम.ए., पी-एच. डी., विश्वविद्यालय इतिहास विभाग, तिलकामाँझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

मुगलकालीन वस्त्र निर्माण में कई जटिल प्रक्रियाएं शामिल थीं, जो निम्नलिखित हैं:

### कताई:

कताई वस्त्र निर्माण की प्रारंभिक प्रक्रिया थी। कपास और रेशम को चरखे (तकली) की सहायता से बारीक धागों में बदला जाता था। मुगलकाल में चरखा सामान्य घरों में भी प्रचलित था, और महिलाएं इसमें महत्वपूर्ण योगदान देती थीं। ढाका की मलमल के लिए विशेष रूप से महीन धागे काते जाते थे, जो विश्व में बेजोड़ थे।<sup>6</sup>

पहले सूत तकली पर ही काता जाता था। वस्त्र-उद्योग से संबंधित तकनीकी साहित्य की शुरु से यह मान्यता रही है कि चरखे का जन्म भारत में हुआ और इसका समय 500 ई. पू. बताया गया है दूसरी ओर प्राचीन ग्रंथों में इसकी अनुपस्थिति और यूरोप में इसके देश से पदार्पण पर भी विचार किया गया। 1280 ई. से 1298 ई. के लगभग (स्पायर्स) में वस्त्र विक्रेता संघ के नियम बनाया कि चरखे पर कते सूत से नाव खींचने वाली रस्सी नहीं बनायी जाएगी। एवेविली में खरखे पर कते सूत का प्रयोग निषिद्ध था, क्योंकि उसके धागे की मजबूती पर संदेह था। इससे साफ पता चलता है कि उस समय यूरोप के वस्त्र-उद्योग में चरखा नया-नया ही आया था। इसके भारत से यूरोप पहुंचने में इतनी देर क्यों लगी, उसकी जानकारी आवश्यक है। लिनहाइट ने खरखे के इतिहास का नए सिरे से अध्ययन करके चौंका देने वाली खोज की कि प्राचीन भारत में इसकी उपस्थिति का कोई लिखित प्रमाण नहीं है। अतः उनका मत है कि चरखा का जन्मस्थान पश्चिमी यूरोप को ही माना जाना चाहिए।<sup>7</sup>

### बुनाई:

बुनाई के लिए हथकरघा (Handloom) का उपयोग होता था। मुगलकाल में हथकरघा तकनीक अत्यंत उन्नत थी। कारीगर जटिल पैटर्न जैसे जामदानी, बूटीदार, और जरी-काम वाले वस्त्र तैयार करते थे। बनारस में सोने-चांदी के तारों (जरी) से बुनाई की जाती थी, जो शाही वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध थी। बुनाई में दो प्रकार के करघे उपयोग किए जाते थे-सादा करघा: सूती और साधारण रेशमी वस्त्रों के लिए। जटिल करघा: जामदानी और ब्रोकेड जैसे जटिल डिजाइनों के लिए।<sup>8</sup>

बुनाई करने के पहले धागे को पानी में डुबोया जाता था। उसके बाद उसकी रोल बनाई जाती थी। धागे को दो भागों में बाँट दिया जाता था। उन धागों में से प्रचुर मात्रा से लेकर 'बाने' और बाकी को 'ताने' के रूप में प्रयोग किया जाता था। ताने के धागे को तीन दिनों तक पानी में डुबोकर रखा जाता था, जिसका पानी दिन में दो बार बदला जाता था। चौथे दिन सरकंडे के टुकड़े से बने चक्के पर उसे लपेट दिया जाता था तथा उसके बाद रील बना लिया जाता था। जिस लकड़ी पर चक्का आरोपित रहता था, उसे अंगूठे के बीच दबाकर रखा जाता था तथा रील को घुमाया जाता था। सुविधाजनक आकार में लच्छे बनाकर पानी में डुबो दिया जाता था। उसे दो डण्डों के बीच ऐंठा जाता था। उसके बाद उसे धूप में सूखने के लिए रखा जाता था। बाद में लकड़ी के डंडे से लच्छी को अलग करके उसे बारीक चारकोल पाउडर तथा कालिख के घोल में डुबोया जाता था। दो दिनों तक धागों को घोल में रखने के बाद उसे फिर एक रात साफ पानी में डुबोकर रखा जाता था। पुनः दूसरे चौड़े लकड़ी के तख्ते पर पसारा जाता था।<sup>9</sup> पुनः उसे हाथ से पानी में भात तथा महीन चूने के घोल में डालकर रगड़ा जाता था। भात का प्रयोग स्टार्च के रूप में किया जाता था। उसके बाद उसे धूप में सुखाया जाता था। ताने के धागे को तीन शेड में बाँट लिया जाता था- बारीक धागे को दाहिने हाथ की ओर, उससे कम बारीक धागे को बाएं हाथ की ओर तथा सादा मलमल को बीच में।

### रंगाई:

रंगाई की प्रक्रिया में प्राकृतिक रंगों का उपयोग होता था। नील (इंडिगो), हल्दी, मजीठ, और केसर जैसे प्राकृतिक रंगों से कपड़े रंगे जाते थे। गुजरात और राजस्थान में बंधेज (टाई-एंड-डाई) तकनीक प्रचलित थी। रंगाई के लिए कारीगरों को रंगों के रासायनिक गुणों की गहरी समझ थी।<sup>10</sup>

कपड़ों की रंगाई के लिए पिछली सदी तक केवल प्राकृतिक रंगों का ही प्रयोग होता है तथा भारत दुनिया भर में अपनी प्राकृतिक रंगों के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध रहा है। रंग वनस्पति, खनिज तथा कृमियों से बनाये जाते थे। हर सिंगार, टेसू (पलाश या ढाक) और नील के पौधों, पेड़ों के छालों और कई तरह की जड़ी-बूटियों को पकाकर रंग तैयार किए जाते थे।<sup>11</sup> पेड़ों पर लगने वाले छोटे-छोटे लाल रंग के कीड़ों से जो लाह निकलती है, उससे लाल रंग बनाया जाता था। कलप और चमक के लिए भैंस का दूध तथा कई तरह की लेई लगायी जाती थी। रंगों की टिकाऊपन के लिए जड़ी-बूटियों के अर्क डाले जाते थे।<sup>12</sup> सूती वस्त्रों की रंगाई में प्राचीनकाल से ही 'मजीठ' का व्यापक प्रयोग होता रहा है। यह मजीठ वृक्ष की जड़ों से निकाला जाता था। दिलचस्प बात तो यह है कि जर्मन विक्रेता भारतीय रंगरेजों को अपने जिस कृत्रिम लाल रंग एल्जिरिन का प्रलोभन देते थे, उसके प्राकृतिक रूप 'मजीठ' से भारतीय सदियों पहले से ही परिचित थे।<sup>13</sup>

### छपाई:

छींट (छापा हुआ कपड़ा) के लिए ब्लॉक प्रिंटिंग की तकनीक का उपयोग होता था। लकड़ी के ब्लॉकों पर नक्काशी करके उनमें रंग लगाया जाता था और फिर कपड़े पर छापा जाता था। गुजरात और राजस्थान इस कला के केंद्र थे।<sup>14</sup>

भारत में रंगाई के बाद छपाई का उद्योग भी काफी उन्नत था। यहाँ 16वीं एवं 17वीं सदी में छींट बहुत प्रसिद्ध था। छींट शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'चित्र' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ रंग-बिरंगा बिंदु लगाना है। पुर्तगाली भाषा में इसे 'चिता' मराठी में 'चीते' तथा हिंदी में 'छींट', फ्रांसीसी भाषा में 'चीटे' कहते हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यह भारतीय मूल भाषा का ही रूपान्तर है। लेखक हॉबसन-जॉबसन का कहना है कि 'चीटे' शब्द निश्चित रूप से भारतीय मूल शब्द है यह शब्द पुर्तगालियों के भारत में आगमन से ही पुराना है। भारत में बनी भिन्न-भिन्न आकारों और प्रकारों की होती थी, जो छपाई और सूक्ष्मता की वजह से बहुत ही विशिष्ट हुआ करते थे।

लाहौर की छींट तथा सस्ती होती थी तथा एक थान की कीमत 16 से 30 रुपये तक थी। सिरेज की बनी छींट की कीमत 20 से 60 रुपये प्रति धान के लगभग थी। बुरहानपुर चटक छींट के निर्माण के लिए प्रसिद्ध था। रूमाल भी उस कपड़े से बनते थे। बुरहानपुर तथा मछलीपट्टनम के अलावा छींट के निर्माण के लिए 17वीं सदी में आगरा, अहमदाबाद, बड़ौदा, सिंधपुर, धरमगाँव, कैंबे, ढाका तथा लाहौर प्रसिद्ध थे।

### कढ़ाई और सजावट:

मुगलकाल में कढ़ाई की कला अपने चरम पर थी। चिकनकारी, जरदोजी, और फुलकारी जैसी तकनीकों से वस्त्रों को सजाया जाता था। सोने-चांदी के तारों और मोतियों का उपयोग शाही वस्त्रों में होता था।

अबुल फजल के अनुसार काला तथा सफेदरंग मौलिक रंग माने जाते थे। जब सफेद रंग काले रंग से अधिक मात्रा में मिलाया जाता है, तो उसमें पीला रंग तैयार होता है। जब काला और सफेद बराबर-बराबर मात्रा में मिलाए जाते हैं, तो लाल रंग बनता है, काला रंग अधिक मात्रा में मिलाने से नीला मिला हुआ हरा बनता है। उसी तरह अन्य रंग भी दोनों रंगों को विभिन्न मात्रा में मिलाकर बनाए जा सकते हैं। सफेद रंग शरीर को ठंडा रखता है तथा काला रंग गर्मी प्रदान करता है।

उस समय वस्त्रों को मुख्य रूप से लाल, पीले, हरे, नीले, काले आदि रंगों में रंगा जाता था। लाल तथा उसके अन्य शेडों में रंगने के लिए मुख्य रूप से कुसुम का ही प्रयोग किया जाता था। ढाका का कुसुम सर्वश्रेष्ठ होता था। यह रंग शुभ माना जाता था तथा हिंदुओं में शादी के समय व्यवहार किया जाता था। इसके अन्य शेड गुलाबी, गाढ़ा गुलाबी, प्याजी आदि थे।

वस्त्र उद्योग मुगलकालीन अर्थव्यवस्था का एक प्रमुख हिस्सा था। यह उद्योग लाखों लोगों को रोजगार प्रदान करता था, जिसमें कारीगर, किसान, बुनकर, रंगरेज, और व्यापारी शामिल थे। सामाजिक संरचना: बुनकर और कारीगर समाज में महत्वपूर्ण स्थान रखते थे, हालांकि उनकी सामाजिक स्थिति मध्यम वर्ग की थी।<sup>15</sup> मुगल दरबार और अमीरों की मांग ने कारीगरों को विशेष सम्मान दिलाया। आर्थिक योगदान के तहत वस्त्र निर्यात भारत की अर्थव्यवस्था का आधार था। यूरोपीय व्यापारिक कंपनियां, जैसे ईस्ट इंडिया कंपनी, भारतीय वस्त्रों का बड़े पैमाने पर व्यापार करती थीं। ढाका की मलमल और गुजरात की छींट यूरोप, मध्य पूर्व, और दक्षिण-पूर्व एशिया में लोकप्रिय थीं। महिलाओं की भूमिका के रूप में कताई और कढ़ाई में महिलाओं की महत्वपूर्ण भागीदारी थी, जो ग्रामीण अर्थव्यवस्था को मजबूत करती थी।<sup>16</sup>

मुगलकालीन वस्त्र वैश्विक व्यापार का एक महत्वपूर्ण हिस्सा थे। यूरोपीय व्यापारियों ने भारतीय वस्त्रों को “कैलिको” और “मस्लिन” के नाम से यूरोप में लोकप्रिय बनाया।<sup>17</sup> ढाका की मलमल और बनारस के ब्रोकेड की मांग विश्व भर में थी। मुगल बादशाहों ने वस्त्रों को राजनयिक उपहार के रूप में भी उपयोग किया, जिससे भारत की सांस्कृतिक छवि मजबूत हुई। इस व्यापार ने भारत को विश्व व्यापार में एक प्रमुख शक्ति बनाया।<sup>18</sup>

## निष्कर्ष

मुगलकालीन भारत में वस्त्र निर्माण की प्रक्रियाएं तकनीकी कौशल, सांस्कृतिक समृद्धि, और आर्थिक शक्ति का प्रतीक थीं। कताई, बुनाई, रंगाई, और कढ़ाई जैसी प्रक्रियाओं ने भारतीय वस्त्रों को विश्व प्रसिद्ध बनाया। यह उद्योग न केवल आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से भी भारतीय समाज को एकजुट करता था। आज भी, मुगलकालीन वस्त्र कला की कई तकनीकें, जैसे चिकनकारी और बनारसी साड़ियां, भारतीय शिल्पकला की धरोहर के रूप में जीवित हैं। इस काल की वस्त्र निर्माण प्रक्रियाएं आधुनिक भारत के लिए एक प्रेरणा हैं, जो पारंपरिक शिल्प को संरक्षित करने और नवाचार के साथ जोड़ने की आवश्यकता को दर्शाती हैं।

**संदर्भ:**

1. मजुमदार, रामचंद्र. (1951). *द हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ इंडियन पीपुल* (भाग-1). बम्बई. पृ. 185.
2. हबीब, इरफान (सं.). (1981). *मध्यकालीन भारत*. नई दिल्ली, बम्बई: मैकमिलन इंडिया लिमिटेड. पृ. 16.
3. ग्रियरसन, जॉर्ज एब्राहम. (1926). *बिहार पेजेन्ट लाइफ* (दूसरा संस्करण). बिहार एवं उड़ीसा. पृ. 63.
4. ग्रियरसन, जॉर्ज एब्राहम. (1926). *बिहार पेजेन्ट लाइफ*. बिहार एवं उड़ीसा. पृ. 66.
5. ग्रियरसन, जॉर्ज एब्राहम. (1926). *बिहार पेजेन्ट लाइफ*. बिहार एवं उड़ीसा. पृ. 98.
6. बृजभूषण, जमीला. (1958). *द कस्ट्यूम्स एण्ड टेक्सटाइल्स ऑफ इंडिया*. बम्बई: डी. वी. तारापोरेवाला संस एण्ड कंपनी प्रा. लि. पृ. 65.
7. ग्रियरसन, जॉर्ज एब्राहम. (1926). *बिहार पेजेन्ट लाइफ*. बिहार एवं उड़ीसा. पृ. 68-69.
8. बृजभूषण, जमीला. (1958). *द कस्ट्यूम्स एण्ड टेक्सटाइल्स ऑफ इंडिया*. बम्बई: डी. वी. तारापोरेवाला संस एण्ड कंपनी प्रा. लि. पृ. 65-66.
9. ग्रियरसन, जॉर्ज एब्राहम. (1926). *बिहार पेजेन्ट लाइफ*. बिहार एवं उड़ीसा. पृ. 69-70.
10. बृजभूषण, जमीला. (1958). *द कस्ट्यूम्स एण्ड टेक्सटाइल्स ऑफ इंडिया*. बम्बई: डी. वी. तारापोरेवाला संस एण्ड कंपनी प्रा. लि. पृ. 69.
11. ओझा, पी. एन. (प्रकाशन वर्ष अनुपलब्ध). *मुगलकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति*. पृ. 133-134.
12. मजुमदार, रामचंद्र. (1974). *द मुगल इम्पायर*. बम्बई: विद्या भवन. पृ. 717.
13. ग्रियरसन, जॉर्ज एब्राहम. (1926). *बिहार पेजेन्ट लाइफ*. बिहार एवं उड़ीसा. पृ. 99.
14. बृजभूषण, जमीला. (1958). *द कस्ट्यूम्स एण्ड टेक्सटाइल्स ऑफ इंडिया*. बम्बई: डी. वी. तारापोरेवाला संस एण्ड कंपनी प्रा. लि. पृ. 60.
15. हदी, सईद मुहम्मद. (1896). *अ मोनोग्राफ ऑफ डाइज एण्ड डाईग इन नार्थ वेस्टर्न प्रोविन्सेज एण्ड अवध*. इलाहाबाद: गवर्नमेंट प्रेस. पृ. 4.
16. ग्रियरसन, जॉर्ज एब्राहम. (1926). *बिहार पेजेन्ट लाइफ*. बिहार एवं उड़ीसा. पृ. 102.
17. सुभाषिणी. (प्रकाशन वर्ष अनुपलब्ध). *भारत की हस्त शिल्पकला*. दिल्ली: आत्माराम एण्ड संस. पृ. 73.
18. मूले, गुगणाकर. (1986, मार्च 23). होली की तरंग और रंगों की दुनिया. *नवभारत टाइम्स, रविवाता*.

## संघर्ष, संवैधानिक चेतना और स्त्री अस्मिता

मीना कुमारी रजक\*

rajak1987meena@gmail.com

### प्रस्तावना

भारत का संविधान केवल एक कानूनी ग्रंथ नहीं है, बल्कि यह हमारे लोकतंत्र की आत्मा है। यह वह महान दस्तावेज है जो प्रत्येक नागरिक को स्वतंत्रता, समानता, न्याय और बंधुत्व का अधिकार प्रदान करता है। संविधान के मूल तत्व यह सुनिश्चित करते हैं कि कोई भी व्यक्ति जाति, धर्म, लिंग या वर्ग के आधार पर भेदभाव का शिकार न हो। विशेषकर दलितों और स्त्रियों के लिए यह संविधान संजीवनी सिद्ध हुआ है, क्योंकि इसने उन्हें न केवल शिक्षा और अवसर का अधिकार दिया, बल्कि आत्मसम्मान के साथ जीने की गारंटी भी दी। बाबा साहेब डॉ. भीमराव आंबेडकर ने संविधान के माध्यम से यह सुनिश्चित किया कि समाज के सबसे वंचित और शोषित वर्ग भी अपने अधिकारों को प्राप्त कर सकें और न्यायपूर्ण समाज की स्थापना संभव हो सके (आंबेडकर, भारत का संविधान: उद्देश्य और दर्शन, पृ. 45)।

### मुख्य आलेख

जीवन मनुष्य को केवल सुख के आयामों से नहीं मापता, बल्कि उसके संघर्षों और चुनौतियों की कसौटी पर भी कसता है। व्यक्तिगत जीवन इसी कसौटी का उदाहरण है, जहाँ संघर्ष ने न केवल दृढ़ बनाया, बल्कि संवैधानिक चेतना की शक्ति को आत्मसात करने का अवसर भी प्रदान किया। वर्ष 2019 जीवन का एक स्वर्णिम अध्याय लेकर आया, जब महाविद्यालय के हिंदी विभाग में सहायक प्राध्यापक के रूप में कार्यभार ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह क्षण केवल एक पेशागत उपलब्धि भर नहीं था, बल्कि जीवन का वह ऐतिहासिक मोड़ था, जहाँ शिक्षा-जगत से जुड़ने का सपना साकार हुआ। यह नियुक्ति रोजगार का साधन नहीं, बल्कि समाज को दिशा देने और आने वाली पीढ़ियों में चेतना का संचार करने का पवित्र दायित्व था। एक दलित स्त्री के रूप में इस उपलब्धि का महत्व और भी गहन था। यह न केवल व्यक्तिगत आत्म-सम्मान का क्षण था, बल्कि पूरे समुदाय की आकांक्षाओं की पूर्ति और सामाजिक न्याय की दिशा में एक ठोस कदम था। जब कोई हाशिए पर खड़ा व्यक्ति अपनी मेहनत और प्रतिभा के बल पर आगे बढ़ता है, तो उसकी जीत केवल उसकी निजी नहीं होती, बल्कि पूरे समाज की सामूहिक विजय होती है।

परंतु इस राह की कठिनाइयाँ भी कम नहीं रहीं। नियुक्ति के शुरुआती दिनों में संस्थागत प्रक्रियाओं और प्रशासनिक व्यवस्थाओं की जटिलताओं से परिचय कम था। इसी अनुभवहीनता का लाभ उठाकर कुछ शक्तियों ने मानसिक और आर्थिक उत्पीड़न का शिकार बनाया। पद, गरिमा और आत्मविश्वास को चोट पहुँचाने का प्रयास किया गया। यह पीड़ा केवल व्यक्तिगत जीवन तक सीमित नहीं रही, बल्कि उस गहरी सामाजिक सच्चाई का दर्पण भी बनी, जिसमें आज भी दलित स्त्रियाँ दोहरे संकट से जूझ रही हैं। एक ओर स्त्री होने के कारण पितृसत्ता के विविध दबाव और नियंत्रण का सामना करना पड़ता है, तो दूसरी ओर दलित होने

\* सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, पूर्णियाँ महिला महाविद्यालय, पूर्णियाँ I

के कारण जातिगत पूर्वाग्रह, भेदभाव और संकीर्ण मानसिकता का बोझ भी उठाना पड़ता है। यह दोहरी मार उन्हें शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्तर पर लगातार परखती रहती है। जैसा कि टाकभौर अपने 'दलित स्त्री विमर्श' में लिखते हैं—“दलित स्त्री की नियति दोहरे शोषण से मुक्त नहीं हो पाती, वह पितृसत्ता और जाति दोनों की जकड़नों में कैद है।” (पृ. 82) यह कथन मेरे अनुभवों का सजीव प्रतिरूप प्रतीत होता है। फिर भी इन संघर्षों के बीच संवैधानिक चेतना ने मुझे संबल दिया। भारतीय संविधान ने हमें समानता, गरिमा और न्याय का अधिकार प्रदान किया है। यह वही चेतना है जिसने मुझे मानसिक उत्पीड़न और अन्याय का सामना करते हुए हार न मानने की प्रेरणा दी। मेरे अनुभव इस सत्य की पुष्टि करते हैं कि संघर्ष केवल बाधा नहीं, बल्कि आत्मबल और जागृति का स्रोत भी होता है। यद्यपि परिस्थितियाँ प्रतिकूल थीं, परंतु मेरे भीतर संवैधानिक चेतना का उजाला था। भारतीय संविधान ने हमें समानता, गरिमा और न्याय का जो अधिकार प्रदान किया है, वही मेरी शक्ति और आत्मबल का स्रोत बना।

- अनुच्छेद 14 ने मुझे यह विश्वास दिलाया कि कानून की दृष्टि में सभी समान हैं।
- अनुच्छेद 15(1) और 15(2) ने यह आश्वासन दिया कि जाति और लिंग के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव अस्वीकार्य है।
- अनुच्छेद 17 ने अस्पृश्यता और जातिगत अपमान की जड़ को असंवैधानिक ठहराया।
- वहीं अनुच्छेद 21 ने मुझे यह अधिकार दिया कि मैं गरिमा और सम्मान के साथ जीवन जी सकूँ।

इन संवैधानिक प्रावधानों ने न केवल मुझे उत्पीड़न का सामना करने का साहस दिया, बल्कि यह विश्वास भी जगाया कि सत्य और न्याय की राह में संघर्ष अंततः विजय की ओर ही ले जाता है। जब मैंने विश्वविद्यालय प्रशासन से अपनी समस्या साझा की, तो मुझे उम्मीद थी कि मुझे न्याय मिलेगा। लेकिन समाधान की जगह मेरे ही विरुद्ध जाँच समिति गठित कर दी गई। मुझे झूठा साबित करने की कोशिशों की गईं और मेरे आत्मसम्मान को कुचला गया। यह दौर मेरे जीवन का सबसे कठिन समय था। परंतु मैंने हार नहीं मानी, क्योंकि मुझे विश्वास था कि संविधान मेरे साथ है। संविधान मेरे लिए ढाल भी बना और हथियार भी। यद्यपि परिस्थितियाँ प्रतिकूल थीं, परंतु मेरे भीतर संवैधानिक चेतना का उजाला था। भारतीय संविधान ने हमें समानता, गरिमा और न्याय का जो अधिकार प्रदान किया है, वही मेरी शक्ति और आत्मबल का स्रोत बना। यह जीत केवल मेरी नहीं थी। यह उन सभी दलित स्त्रियों की जीत थी जो भेदभाव और अन्याय के बावजूद शिक्षा और आत्मसम्मान की राह पर अडिग हैं। इस अनुभव ने मुझे यह विश्वास दिलाया कि सत्ता चाहे कितनी भी प्रबल क्यों न हो, यदि वह अन्याय करती है तो संविधान की शक्ति उसे परास्त कर सकती है।

यदि स्त्री विमर्श और दलित विमर्श की दृष्टि से इस अनुभव को देखें, तो यह स्पष्ट होता है कि दलित स्त्रियों की लड़ाई सबसे कठिन है। उन्हें पितृसत्तात्मक मानसिकता और जातिगत भेदभाव दोनों का सामना करना पड़ता है। यही कारण है कि उनका संघर्ष व्यक्तिगत न होकर सामाजिक और ऐतिहासिक भी है। डॉ. सुशीला टाकभौर, कौशल पंवार और बबीता राही जैसी लेखिकाओं ने अपने साहित्य में इसी दोहरी पीड़ा को व्यक्त किया है। उन्होंने दिखाया है कि दलित स्त्रियाँ केवल सामाजिक न्याय की मांग नहीं करतीं, बल्कि अपनी अस्मिता और आत्मसम्मान के लिए भी निरंतर संघर्ष करती हैं (पंवार, स्त्री अस्मिता और दलित साहित्य, पृ. 66)।

मेरे जीवन का अनुभव इस विमर्श की पुष्टि करता है। शिक्षा के क्षेत्र में काम करते हुए भी मुझे बार-बार यह सिद्ध करना पड़ा कि मैं किसी से कमतर नहीं हूँ, लेकिन यही चुनौतियाँ मेरे आत्मबल को और मजबूत करती गईं। शिक्षा ही वह साधन है जो जाति और लिंग की बेड़ियों को तोड़ सकती है। यही कारण है कि आज मैं पूरी निष्ठा और समर्पण के साथ शिक्षा-जगत में योगदान दे रही हूँ और आने वाली पीढ़ियों को यह संदेश देना चाहती हूँ कि संघर्ष से कभी पीछे नहीं हटना चाहिए। इतिहास साक्षी है कि दलित और स्त्रियों की मुक्ति का मार्ग सदैव शिक्षा और संवैधानिक चेतना से होकर गुजरता है। महात्मा ज्योतिबा फुले और सावित्रीबाई फुले ने शिक्षा के माध्यम से दलितों और स्त्रियों को सशक्त बनाने का काम किया। फुले ने गुलामगिरी (1873) में यह प्रतिपादित किया कि “जातिगत भेदभाव केवल सामाजिक बुराई नहीं, बल्कि एक गहरी मानसिक गुलामी है जिसे शिक्षा ही दूर कर सकती है” (फुले, गुलामगिरी, पृ. 102)। इसी परंपरा को बाबा साहेब आंबेडकर ने आगे बढ़ाया और शिक्षा को सबसे बड़ा हथियार बताया। दलित साहित्य में भी यह स्वर स्पष्ट रूप से उपस्थित है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा जूठन इस बात का प्रमाण है कि किस तरह जातिगत अपमान और सामाजिक बहिष्कार ने दलित समुदाय को लगातार पीड़ा दी है (वाल्मीकि, जूठन, पृ. 57)। लेकिन साथ ही यह भी दिखाती है कि शिक्षा और संवैधानिक चेतना से किस प्रकार एक व्यक्ति अपने जीवन को बदल सकता है। अनुभव भी यही बताते हैं कि जब समाज और संस्थाएँ न्याय देने से पीछे हट जाती हैं, तब संविधान ही सबसे बड़ा सहारा होता है। अन्याय और उत्पीड़न कितने भी बड़े क्यों न हों, वे किसी दलित स्त्री को कमजोर नहीं कर सकते। संविधान की शक्ति हमेशा उसके साथ खड़ी होती है। जैसा कि स्वयं महसूस किया—

“यह जुल्म की सत्ता अपनी ताकत से किसी दलित महिला को कमजोर मत समझना।

जब संविधान के पन्ने खुलेंगे, तो पूरा समाज तुम्हारे विरुद्ध खड़ा होगा।

न पैरवी काम आएगी, न जुल्म की कलम – सब राख होकर रह जाएँगे।”

लोकतंत्र का असली अर्थ केवल चुनाव तक सीमित नहीं है। इसका असली अर्थ है—हर नागरिक को समान अधिकार और सम्मान देना। यही कारण है कि हमें अपने कर्म को केवल समाज के कल्याण और न्याय की रक्षा के लिए समर्पित करना चाहिए। जातिगत भेदभाव और स्त्री के प्रति अन्याय केवल समाज को अंधकार की ओर ले जाते हैं, जबकि संविधान हमें समानता और भाईचारे के उजाले की ओर बुलाता है।

प्रमंडल आयुक्त के आदेश के उपरांत भी लाभार्थी को उसकी वैधानिक राशि से वंचित रखना केवल प्रशासनिक लापरवाही नहीं, बल्कि एक सुनियोजित साजिश थी। तीन माह तक भुगतान को लेकर टालमटोल और गुमराह करने की नीति अपनाई गई। संविधान के अनुच्छेद 14 (समानता का अधिकार) एवं अनुच्छेद 21 (जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार) के स्पष्ट उल्लंघन के साथ-साथ अनुच्छेद 46 (दलितों व पिछड़े वर्गों के हितों की रक्षा का दायित्व) की भी अवमानना की गई।

जब लाभार्थी ने बार-बार न्याय की गुहार लगाई, तो अंततः ठोस तथ्यों और सबूतों के आधार पर शिक्षा प्रधान को पत्र भेजा गया। उसके उपरांत विश्वविद्यालय और महाविद्यालय को आदेश जारी हुए, किंतु प्रधानाचार्या डॉ. सिन्हा ने जानबूझकर माननीय आयुक्त को गुमराह किया। उन्होंने यह झूठा बयान दिया कि जिला शिक्षा पदाधिकारी को पत्र भेजा गया था किंतु अभियंता उपलब्ध न होने के कारण भुगतान संभव नहीं हुआ। आरटीआई अधिनियम, 2005 की धारा 6 एवं 7 के अंतर्गत सूचना माँगने पर स्पष्ट हो गया कि ऐसा कोई पत्र कभी भी जिला शिक्षा पदाधिकारी पूर्णिया को भेजा ही नहीं गया था। यह लिखित उत्तर प्रशासनिक तंत्र में चल रही झूठ और साजिश का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस तरह का आचरण न केवल **भारतीय दंड संहिता (IPC)**

की धारा 167 (सरकारी कर्मचारी द्वारा जानबूझकर गलत अभिलेख तैयार करना) और धारा 420 (धोखाधड़ी) के अंतर्गत अपराध है, बल्कि यह अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 की धारा 3(1)(x) के अंतर्गत भी दंडनीय है, क्योंकि दलित प्राध्यापक को जातिगत आधार पर मानसिक एवं आर्थिक उत्पीड़न का शिकार बनाया गया। लंबी प्रतीक्षा और संघर्ष के बाद भुक्तान तो हुआ, किंतु यह न्याय की आंशिक जीत थी। असल प्रश्न यह है कि क्या प्रशासनिक पद का दुरुपयोग करके किसी नागरिक को उसके संवैधानिक अधिकार से वंचित किया जा सकता है? यह प्रकरण स्पष्ट करता है कि जब तक आरटीआई और संविधान की शक्ति का प्रयोग न किया जाए, तब तक व्यवस्था सच्चाई को दबाने का प्रयास करती रहती है। यह संघर्ष केवल व्यक्तिगत हित की लड़ाई नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय और प्रशासनिक पारदर्शिता की रक्षा का प्रतीक है। यदि ऐसे कृत्यों पर कठोर कार्रवाई नहीं हुई तो यह अन्य अधिकारियों को भी झूठ और साजिश का रास्ता अपनाने के लिए प्रोत्साहित करेगा। इसलिए कानून और संविधान के समक्ष यह आवश्यक है कि दोषियों पर कड़ी अनुशासनात्मक और दंडात्मक कार्रवाई हो।

### निष्कर्ष

यह संघर्ष केवल कहानी नहीं है, बल्कि भारतीय लोकतंत्र की शक्ति और संविधान की जीवंत मिसाल है। यह इस बात का प्रमाण है कि यदि हम अपने अधिकारों के लिए खड़े हों, तो कोई अन्याय स्थायी नहीं रह सकता। यह जीत संविधान की जीत है, स्त्री अस्मिता की जीत है और दलित चेतना की जीत है। यह अनुभव आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा है कि सत्य और संविधान के सहारे कोई भी बाधा पार की जा सकती है। हमें शिक्षा, समानता और न्याय की मशाल हमेशा जलाए रखनी होगी। यही संवैधानिक चेतना का सच्चा अर्थ है और यही लोकतंत्र की सबसे बड़ी पहचान। यह संविधान के अनुच्छेद 14, 21 और 46 का उल्लंघन है तथा IPC की धारा 167, 420 और एससी/एसटी अत्याचार निवारण अधिनियम, 1989 की धारा 3(1)(x) के अंतर्गत अपराध की श्रेणी में आता है। यह संघर्ष प्रशासनिक पारदर्शिता और सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए एक मिसाल है।

### संदर्भ :

1. आंबेडकर, भीमराव रामजी. *भारत का संविधान: उद्देश्य और दर्शन*. नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1950, पृ. 45.
2. टाकभौरै, सुशीला. *दलित स्त्री विमर्श*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2008, पृ. 82.
3. पंवार, कौशल. *स्त्री अस्मिता और दलित साहित्य*. भोपाल : राधाकृष्ण प्रकाशन, 2014, पृ. 66.
4. ओमप्रकाश वाल्मीकि. *जूठन*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1997, पृ. 57.
5. भारतीय संविधान (हिंदी अनुवाद). *भारत सरकार प्रकाशन विभाग*, नई दिल्ली, 2019, पृ. 123.
6. फुले, ज्योतिबा. *गुलामगिरी*. पुणे : सत्यशोधक समाज, 1873, पृ. 102.
7. आंबेडकर, भीमराव रामजी. *जाति का विनाश*. मुंबई : पॉपुलर प्रकाशन, 1936, पृ. 89.
8. भारतीय संविधान: अनुच्छेद 14, 21 एवं 46.
9. भारतीय दंड संहिता: धारा 167 एवं 420.
10. एससी/एसटी अत्याचार निवारण अधिनियम, 1989: धारा 3(1)(x).

## मानव मस्तिष्क एवं कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) : चुनौतियां एवं समीक्षा

डॉ. विजय नारायण तिवारी\*  
vijay1974tiwari@gmail.com

### प्रस्तावना -

मानव मस्तिष्क एवं ए. आई की चुनौतियों को जानने के लिए सर्वप्रथम हम मानव मस्तिष्क एवं ए. आई दोनों को क्रमशः अलग-अलग संरचना, कार्य एवं विशेषताओं के आधार पर समझेंगे तत्पश्चात् मानव मस्तिष्क एवं ए. आई की परस्पर समीक्षा एवं विश्लेषण करेंगे।

मानव मस्तिष्क - सबसे पहले हम मानव मस्तिष्क की संरचना, कार्य एवं विशेषताओं को समझेंगे -

मानव मस्तिष्क एक अत्यंत जटिल, शक्तिशाली और रहस्यमयी अंग है, जो न केवल हमारी शारीरिक गतिविधियों को नियंत्रित करता है, बल्कि सोच, संज्ञान, स्मृति, भावना और रचनात्मकता जैसे बौद्धिक कार्यों का भी संचालन करता है। इसके विभिन्न भाग मिलकर हमारे जीवन और व्यक्तित्व की दिशा तय करते हैं।

**मस्तिष्क की संरचना** - मानव मस्तिष्क लगभग 1.36 किलोग्राम (3 पाउंड) वजन का, दिमागी खोपड़ी के अंदर स्थित एक स्फटिकजल (ग्लेटिन्युस) रचना है। वैज्ञानिक दृष्टि से, इसे तीन मुख्य भागों में विभाजित किया जाता है

1. अग्र मस्तिष्क (फोरब्रेन)
2. मध्य मस्तिष्क (मिडब्रेन)
3. पश्च मस्तिष्क (हिंडब्रेन)

इनमें से अग्र मस्तिष्क में प्रमस्तिष्क (सेरेब्रम) और डाइएनसेफलॉन शामिल हैं, जबकि पश्च मस्तिष्क में मेडुला, पोन्स और अनुमस्तिष्क (सेरेबेलम) होते हैं। प्रमस्तिष्क के दो गोलें होते हैं, जिन्हें उत्तरी और दक्षिणी गोलार्ध कहा जाता है, जो आपस में कॉर्पस कैलोसम नामक संरचना से जुड़े रहते हैं।

**न्यूरोन्स एवं सूचना प्रसंस्करण** - मस्तिष्क का मूल क्रियात्मक घटक तंत्रिका कोशिका या न्यूरोन है। मानव मस्तिष्क में लगभग 86 अरब न्यूरोन्स होते हैं, जिनमें विद्युत एवं रासायनिक संकेतों का संचार होता है। न्यूरोन्स के संजाल (नेटवर्क) का जाल पूरे मस्तिष्क में फैला होता है, जो सूचनाओं का आदान-प्रदान त्वरित गति से संभव करता है। दो न्यूरोन्स के बीच संपर्क बिंदु को सिनैप्स कहते हैं, जहां रासायनिक संदेशवाहक पदार्थ (न्यूरोट्रांसमीटर) सूचना का संचार करते हैं।

### मस्तिष्क के प्रमुख भाग एवं कार्य -

**प्रमस्तिष्क सेरेब्रम** - शरीर का सबसे बड़ा हिस्सा है और सोच, स्मृति, निर्णय, बोली, कल्पना इत्यादि के लिए जिम्मेदार होता है। सतही भाग को सेरेब्रल कॉर्टेक्स कहते हैं, जिसमें अनेक क्रियात्मक क्षेत्र होते हैं - जैसे दृश्य

---

\*असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षा संकाय, संत तुलसीदास पी. जी. कालेज, कादीपुर, सुलतानपुर

क्षेत्र (आकिपिअल लोब), श्रव्य क्षेत्र (टेम्पोरल लोब), संवेदी क्षेत्र (पार्शियल लोब) और मोटर क्षेत्र (फ्रॉन्टल लोब)।

**ब्रेन स्टेम :** इसमें मिडब्रेन, पोन्स और मेडुला ऑबॉन्गेटा होते हैं। ब्रेन स्टेम स्वचालित कार्य जैसे श्वास, हृदय गति, रक्तचाप, नींद-जागृत, पाचन आदि का संचालन करता है।

**अनुमस्तिष्क (सेरेबेलम) -** यह शरीर की मांसपेशी टोन, संतुलन और तालमेल बनाए रखने में सहायक है।

**लिम्बिक सिस्टम -** इसमें हाइपोथैलेमस, थैलेमस, हिप्पोकैम्पस, एमिगडाला आदि आते हैं। भावनाएँ, प्रेरणा, स्मृति निर्माण, सीखने तथा भावनात्मक प्रतिक्रियाओं का संचालन इसी प्रणाली द्वारा होता है।

### **मस्तिष्क और संचार प्रक्रिया -**

हर बाहरी या आंतरिक उत्तेजना सबसे पहले संवेदी अंग (जैसे आंख, कान, त्वचा) अनुभव करते हैं। तंत्रिकाओं में न्यूरोन्स इलेक्ट्रिकल सिग्नल के रूप में यह सूचना मस्तिष्क तक पहुंचाते हैं: वहां विश्लेषण, तुलना और आवश्यकता अनुसार प्रतिक्रिया निर्धारित कर संबंधित अंगों को संचालन का आदेश भेजा जाता है।

### **शारीरिक कार्यों का नियंत्रण -**

मस्तिष्क स्वैच्छिक और अनैच्छिक दोनों प्रकार के क्रियाकलापों को संचालित करता है। स्वैच्छिक क्रियाओं, जैसे चलना, बोलना, लिखना, सोचने आदि के लिए प्रमस्तिष्क जिम्मेदार है। अनैच्छिक क्रियाओं, जैसे दिल की धड़कन, श्वास, पाचन, पसीना, तापमान बुद्धिमत्ता आदि का संचालन ब्रेन स्टेम एवं हाइपोथैलेमस करते हैं।

### **सोच, स्मृति, भावनाएँ व सीखना -**

मनुष्य की सोच, समझ, स्मरण और भाषा जैसी उच्च कोटि की बौद्धिक क्षमता का केंद्र भी यही अंग है।

**स्मृति निर्माण-** हिप्पोकैम्पस नए अनुभवों को दीर्घकालीन स्मृति में रूपांतरित करता है।

**भावनाएँ-** लिम्बिक सिस्टम हमारे भय, क्रोध, हर्ष आदि को उत्पन्न और नियंत्रित करता है।

**सीखना और निर्णय क्षमता-** सेरेब्रल कॉर्टेक्स की जटिल क्रियाएं विभिन्न प्रकार के अनुभवों एवं ज्ञान को एकत्र और संयोजित करती हैं, जिससे नई स्थितियों के लिए तर्क और निर्णय संभव होते हैं।

### **मस्तिष्क की ऊर्जा आवश्यकताएं -**

हालाँकि मस्तिष्क शरीर के कुल वजन का केवल 2 प्रतिशत है, परंतु यह शरीर से प्राप्त ऑक्सीजन एवं ग्लूकोज का 20 प्रतिशत से अधिक उपयोग करता है। इसकी ऊर्जावान सक्रियता और जटिल कार्यशैली के लिए लगातार रक्त प्रवाह और पोषक तत्वों की आवश्यकता होती है।

### **तकनीकी एवं चिकित्सा क्षेत्र में प्रगति -**

आधुनिक तकनीक ने मस्तिष्क की क्रियाविधि की जाँच और समझ को सरल एवं वैज्ञानिक बनाया है। आज मस्तिष्क के रोगों, चोटों, मानसिक विकारों की पहचान और इलाज पहले की अपेक्षा कहीं अधिक संभव और असरदार बन गई है।

### मस्तिष्क की रक्षा और महत्व -

मस्तिष्क के चारों ओर खोपड़ी, तथा विशेष झिल्लियाँ होती हैं, जो इसे बाहरी चोट से बचाती हैं। रक्त-मस्तिष्क बाधा नामक व्यवस्था रक्त में मौजूद हानिकारक तत्वों के मस्तिष्क में प्रवेश को नियंत्रित करती है। स्वस्थ जीवनशैली, संतुलित आहार, पर्याप्त नींद, मानसिक सक्रियता और योग-मेडिटेशन मस्तिष्क को स्वस्थ रखने के लिए अत्यंत आवश्यक हैं।

अतः मानव मस्तिष्क प्रकृति की एक अनूठी देन है, जिसकी अत्याधिक जटिलता और क्षमताएँ विज्ञान के लिए भी चुनौती बनी हुई हैं। यही वह अंग है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व, बुद्धिमत्ता, सामाजिकता, विचारशीलता और भावनाओं का निर्धारण एवं संचालन करता है। मस्तिष्क के कार्यों को समझना हर युग में वैज्ञानिकों के लिए उत्सुकता व शोध का विषय रहा है, और भविष्य में इसके रहस्य उजागर करना मानवता का मार्गदर्शक बनेगा। मानव ने अपनी बुद्धि एवं मस्तिष्क से ही आज कृत्रिम बुद्धिमत्ता - आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस ए आई का निर्माण कर स्वयं को चुनौती देने का प्रयास किया है।

### कृत्रिम बुद्धिमत्ता - ए आई

मानव मस्तिष्क की संरचना, कार्य एवं विशेषताओं को समझने के पश्चात् अब हम मानव निर्मित ए आई की संरचना, कार्य एवं विशेषताओं को समझने का प्रयास करेंगे -

एआई (कृत्रिम बुद्धिमत्ता) की संरचना, कार्य और विशेषताएँ एक व्यापक, गहन विषय है जो तकनीकी, व्यावहारिक, सामाजिक और व्यावसायिक पहलुओं को समेटता है। कृत्रिम बुद्धिमत्ता का विकास कंप्यूटर साइंस, गणित, सांख्यिकी, न्यूरोसाइंस आदि की संयुक्त उन्नति से हुआ है।

### एआई की परिभाषा और मूल विचार -

कृत्रिम बुद्धिमत्ता (एआई) वह क्षेत्र है जिसमें कंप्यूटर या मशीनें मानव-समान बौद्धिक कार्य जैसे कि सीखना, तर्क करना, समस्या हल करना, धारणा, निर्णय लेना आदि करती हैं। एआई की संरचना संगठित तथा अनुशासित तरीके से तय की जाती है ताकि मशीनें अपने वातावरण के अनुसार कार्य करना सीख सकें और निर्णय ले सकें।

**एआई की संरचना (Architecture) -** एआई की संरचना में मुख्यतः चार स्तर होते हैं-

1. ज्ञान प्रतिनिधित्व (Knowledge Representation) - मशीन को किसी विषय, ऑब्जेक्ट, नियम, तर्क, और संबंधों की जानकारी देना। जैसे- expert systems] semantic networks या फ्रेम्स।
2. भाषा संसाधन (Natural Language Processing) - मनुष्यों की तरह भाषाई (शब्दों, वाक्यों) इनपुट को समझना और उस पर प्रतिक्रिया देना।
3. सीखने की प्रणाली (Learning System) डेटा से सीखना - मशीन लर्निंग, डीप लर्निंग, रिइन्फोर्समेंट लर्निंग आदि।
4. तर्क और निर्णय प्रणाली (Reasoning and DecisionSystem Learning) - पूर्व जानकारी का विश्लेषण कर निर्णय लेना या समस्या का हल सुझाना।

एआई के हार्डवेयर आर्किटेक्चर में तेज प्रोसेसर, मेमोरी, स्टोरेज, सेंसर, कैमरा, माइक्रोफोन, और नेटवर्क मोड्यूल शामिल होते हैं।

### मुख्य कार्य (Functions) -

**डेटा विश्लेषण एवं पैटर्न पहचान** - एआई बड़े डेटा सेट से जटिल पैटर्न और ट्रेंड्स खोजकर परिणाम प्रस्तुत करता है - यह वैज्ञानिक शोध, मेडिकल इमेजिंग, फाइनेंस आदि में उपयोगी है।

**सीखना (Learning)** - मशीनें अनुभव या नए डाटा से लगातार सीखती रहती हैं, अपने मॉडल अपडेट करती हैं और व्यवहार सुधारती हैं।

**प्राकृतिक भाषा समझ** - एनएलपी के जरिए मानव भाषा (बोलचाल/लिखित) को समझकर, उत्तर देना, अनुवाद, टेक्स्ट समरी आदि कर सकती है।

**तर्क एवं निर्णय** - मशीनें ज्ञान और नियमों का इस्तेमाल कर सही निर्णय या सुझाव देती है। जैसे expert systems-

**स्वचालन (Automation)** - मानव द्वारा किए जाने वाले दोहराए जाने वाले काम स्वचालित करना।  
उदाहरण: मैन्युफैक्चरिंग में रोबोट्स।

**वास्तविक समय निर्णय** - तेज डेटा प्रोसेसिंग और त्वरित निर्णय ऐप्लिकेशन्स जैसे ड्राइवर-लेस कार, ऑटो-पायलट सिस्टम आदि में उपयोगी।

### विशेषताएँ (Characteristics) -

न्यूनतम त्रुटि और अधिक शुद्धता: एआई आधारित सिस्टम में त्रुटियों (error) की संभावना बहुत कम होती है, और परिणाम अधिक सटीक होते हैं।

तेज गणना एवं उच्च दक्षता - बड़ी मात्रा में डेटा का तेजी से विश्लेषण और गणना संभव।

संज्ञानात्मक शक्ति व अनुभव की कमी - इनमें मानवीमानवीय भावनाएँ या अनुभव नहीं होते, बल्कि निर्देशित प्रोग्रामिंग के अनुसार ही कार्य करते हैं।

समस्या समाधान की क्षमता - तकनीकी, आर्थिक और वृत्ति-संबंधी समस्याओं को हल करने की क्षमता।

सीखने (Learning Ability) - समय के साथ बेहतर और अधिक सक्षम बनने की शक्ति जैसे मशीन लर्निंग, डीप लर्निंग आदि।

निर्णय क्षमता (Decision Making) - बहुत तीव्र और प्रभावशाली निर्णय लेने की शक्ति।

प्लानिंग एवं प्लान निष्पादन - जटिल योजनाएँ बनाना और उन्हें कारगर रूप से लागू करना।

संचार हेतु सक्षम - मानव जनित भाषाओं वाली संचार व्यवस्था।

दोहराव और बोरिंग कार्यों का निष्कासन - मशीनें नीरस, खतरनाक और दोहराए जाने वाले कार्यों में मानव की आवश्यकता कम कर देती हैं।

मल्टी-डोमेन एप्लीकेशन- चिकित्सा, शिक्षा, रक्षा, व्यापार, प्रशासन, मनोरंजन, यातायात, कृषि, साइबर सुरक्षा आदि हर जगह उपयोग।

### संरचनात्मक प्रकार -

एआई को उनकी क्षमताओं के अनुसार विभिन्न श्रेणियों में बांटा जाता है-

रिएक्टिव मशीन (Reactive Machines): केवल वर्तमान इनपुट पर आधारित निर्णय, पृष्ठ स्मृति नहीं।

सीमित स्मृति (Limited Memory): सीमित अनुभव या डेटा से सीखना: अधिकतर वर्तमान मशीन लर्निंग सिस्टम्स इसी श्रेणी में।

थेओरी ऑफ माइंड (Theory of Mind): सामाजिक और भावनात्मक संकेत समझने में सक्षम, अभी विकास की अवस्था में।

सेल्फ-अवेयर (Self Aware): पूरी तरह चेतन, आत्म-जागरूक: मौजूदा तकनीक से परे।

### सैद्धांतिक आयाम -

न्यूरल नेटवर्क्स - इंसानी मस्तिष्क की तंत्रिका कोशिकाओं जैसी नेटवर्किंग: घनी कनेक्टिविटी और लेयर आधारित सीखने की प्रक्रिया।

जीनेटिक एल्गोरिदम- समाधान की बहुविकल्पीय खोज के लिए।

न्यूरो-फजी सिस्टम - अनिश्चितता और अस्पष्टता के साथ निर्णय लेने के लिए।

### अनुप्रयोग क्षेत्र-

चिकित्सा - रोग पहचान, इलाज योजना, मेडिकल इमेज एनालिसिस, दवा अनुसंधान, मरीज डेटा विश्लेषण आदि।

वित्त - ऑटोमेटेड ट्रेडिंग, धोखाधड़ी पहचान, निवेश प्रबंधन, पर्सनल फाइनेंस।

वाहन में - सेल्फ-ड्राइविंग गाड़ियाँ, ऑटो-पायलट, ड्राइवर असिस्ट फीचर।

औद्योगिक रोबोटिक्स - विनिर्माण, असेंबली लाइन, खतरनाक कार्यों में पूर्ण स्वचालन।

शिक्षा - व्यक्तिगत ट्यूटोरिंग, छात्रों की कमजोरियों के आधार पर कंटेंट एडजस्टमेंट, एडमिनिस्ट्रेटिव ऑटोमेशन।

ग्राहक सेवा - चैटबॉट्स, ऑटो-रेस्पॉन्डर्स, ऑनलाइन सहायकों के रूप में।

मीडिया-मनोरंजन - सिफारिश सिस्टम, ऑडियो-वीडियो एनालिसिस गाने व कहानियाँ जनरेट करना।

### लाभ और सीमाएँ -

लाभ - त्रुटिरूपता कम, उत्पादकता अधिक।

काम तीव्र गति से सम्पादित करना।

जोखिम/खतरनाक कार्यों में इंसानों की जरूरत कम करना।

बड़े डाटा सेट में से नये पैटर्न की खोज।

### सीमाएँ एवं जोखिम -

नैतिक सवाल - निर्णय/स्वचालन के कारण भेदभाव या पक्षपाती निष्कर्ष।

बेरोजगारी - दोहराव वाले कार्यों की आवश्यकता कम होना।

मानवीय अनुभूति/भावनाओं की कमी।

साइबर-सुरक्षा के खतरे।

### भविष्य की संभावनाएँ और विकास -

आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। व्यक्तिगत मेडिसिन, स्मार्ट सिटीज, ऑटोनोमस सिस्टम, सस्टेनेबल एग्रीकल्चर आदि क्षेत्रों में। रिसर्च और व्यावसायिक प्रयोग दोनों लगातार बढ़ रहे हैं।

अतः कृत्रिम बुद्धिमत्ता की संरचना, कार्य और विशेषताएँ विज्ञान, तकनीकी तथा सामाजिक दृष्टि से अत्यंत समृद्ध और गतिशील क्षेत्र है। आने वाले दशकों में एआई मानव जीवन के हर क्षेत्र में अभिन्न भूमिका निभाएगी, इसलिए इसका गहन अध्ययन, विवेचना और जिम्मेदार उपयोग अनिवार्य होगा।

### मानव मस्तिष्क एवं ए.आई. की चुनौतियों की समीक्षा -

जैसा कि पूर्व में हमने मानव मस्तिष्क एवं कृत्रिम बुद्धिमत्ता ए.आई. को अलग - अलग रूप में अध्ययन कर लेने के पश्चात् अब इनकी संरचना, कार्य एवं विशेषताओं के आधार पर समीक्षा करेंगे -

मानव सभ्यता के विकास में बुद्धिमत्ता की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। मानव मस्तिष्क ने न केवल व्यक्तित्व, संस्कृति और ज्ञान का निर्माण किया बल्कि विज्ञान, तकनीक और कला को भी दिशा दी। इक्कीसवीं सदी में मानव ने अपने ही मस्तिष्क की कार्यप्रणाली एवं सोचने की क्षमता के आधार पर कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence – ए.आई.) का निर्माण किया। यह तकनीक आज आधुनिक समाज के हर क्षेत्र पर प्रभाव डाल रही है कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग, परिवहन, सेना, मीडिया, यहाँ तक कि व्यक्तिगत जीवन तक।

फिर भी, जब हम मानव मस्तिष्क और ए.आई. की तुलना करते हैं तो कई प्रश्न उभरते हैं - क्या ए.आई. वास्तव में मानव मस्तिष्क जैसी लचीलापन, सृजनशीलता और भावनात्मक गहराई प्राप्त कर पाएगी? क्या ए.आई. केवल गणनाओं और आंकड़ों तक सीमित एक यांत्रिक प्रणाली है, या वह मानव की तरह सीखने, समझने और अनुभव करने की क्षमता विकसित कर सकती है? इन प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए आवश्यक है कि हम मस्तिष्क और ए.आई. दोनों की संरचना, कार्य और विशेषताओं का विश्लेषण करें और उनके बीच उपस्थित चुनौतियों को देखें।

### मस्तिष्क और ए.आई. की विशेषताएँ -

मस्तिष्क - लचीला, आत्मचेतन, रचनात्मक, भावनाशील, अपूर्ण जानकारी में भी निर्णय लेने में सक्षम।

ए.आई. - तीव्र गति, गणनात्मक दक्षता, डेटा पर आधारित परिणाम, परंतु सीमित प्रसंगानुसार समझा

### चुनौतियाँ -

1. संरचनात्मक चुनौतियाँ - मस्तिष्क जैविक है, जबकि ए.आई. एक इलेक्ट्रॉनिक संरचना। मस्तिष्क में समानांतर और जटिल नेटवर्क है, ए.आई. अभी भी पूर्ण स्तर पर इसकी नकल नहीं कर पाती।
2. कार्यगत चुनौतियाँ - मस्तिष्क भावनाओं और नैतिकता पर आधारित निर्णय ले सकता है, जबकि ए.आई. आंकड़ों और तथ्यों में सीमित है। मस्तिष्क रचनात्मक और अमूर्त सोच सकता है, ए.आई. इन क्षेत्रों में अभी प्राथमिक स्तर पर है।
3. विशेषताओं से संबंधित चुनौतियाँ - मस्तिष्क आत्मज्ञान और चेतना रखता है, ए.आई. में आत्मचेतना का अभाव। मस्तिष्क समाज और संस्कृति से आकार लेता है, ए.आई. केवल प्रशिक्षित डेटा पर निर्भर।

### नैतिक और सामाजिक चुनौतियाँ -

गोपनीयता का संकट - ए.आई. द्वारा डेटा संग्रहण से व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर खतरा।

रोजगार - स्वचालन के चलते पारंपरिक नौकरियों का संकट।

पक्षपात (Bias) - ए.आई. अपने डेटा में मौजूद सामाजिक पूर्वाग्रहों को दोहरा सकता है।

सुरक्षा - स्वायत्त हथियार और साइबर हमलों की संभावना।

मानव-ए.आई. संबंध - क्या ए.आई. मनुष्य की जगह ले सकता है या सहयोगी होगा कृ यह प्रश्न खुला है।

### मानव मस्तिष्क बनाम ए.आई. - तुलनात्मक दृष्टि

आयाम	मानव मस्तिष्क	कृत्रिम बुद्धिमत्ता
संरचना	जैविक, न्यूरॉन्स और सिनैप्स पर आधारित	इलेक्ट्रॉनिक सर्किट और एल्गोरिथ्म पर आधारित
ऊर्जा खपत	लगभग 20 वाट	बड़े ए.आई. मॉडल हजारों वाट तक खपत करते हैं
सीखने की विधि	अनुभवात्मक, सामाजिक, भावनात्मक	डेटा और एल्गोरिथ्म आधारित
सृजनात्मकता	अत्यधिक उच्च	सीमित और सीखी हुई
नैतिकता व चेतना	विद्यमान	अनुपस्थित
गति	अपेक्षाकृत धीमी गणना	अति तीव्र डेटा प्रोसेसिंग
सामान्यता (Generality)	बहुउद्देशीय बुद्धिमत्ता	क्षेत्र-विशेष (Narrow AI)

### भविष्य की दिशा -

मानव मस्तिष्क और ए.आई. दोनों की तुलना करते हुए स्पष्ट होता है कि दोनों की शक्तियाँ और कमजोरियाँ अलग-अलग हैं। आने वाले दशकों में ए.आई. को मानव-समर्थक तकनीक (Human&Centric AI) के

रूप में विकसित करना आवश्यक है, ताकि यह मानव की क्षमताओं का विस्तार करे, न कि उनका प्रतिस्थापन। साथ ही, तंत्रिका विज्ञान (Neuroscience) और ए.आई. के बीच अंतःविषय अनुसंधान से हम न तो केवल मस्तिष्क के रहस्यों को समझ पाएंगे बल्कि अधिक नैतिक और प्रभावशाली ए.आई. का निर्माण कर सकेंगे।

### उपसंहार -

मानव मस्तिष्क और कृत्रिम बुद्धिमत्ता के बीच सबसे बड़ी चुनौती यही है कि जहाँ मस्तिष्क अनुभव, भावनाओं और चेतना पर आधारित संपूर्ण जीवन जीता है, वहीं ए.आई. केवल डेटा-आधारित यांत्रिक प्रक्रिया है। ए.आई. का भविष्य इस बात पर निर्भर करेगा कि हम इसे किस प्रकार मानव मूल्यों, नैतिकता और जिम्मेदारी के साथ प्रयोग में लाते हैं। अतः मानव मस्तिष्क एवं ए.आई. की समानताओं और विभिन्नताओं को पहचानना ही हमें उनके चुनौतियों से निपटने का सही मार्ग दिखाएगा।

### संदर्भ :-

1. पेनफील्ड, वाइल्डर: मानव मस्तिष्क की संरचना और कार्यप्रणाली पर क्लासिक ग्रंथ
2. डैनियल काह्लमैन: निर्णय लेने की प्रक्रिया और मस्तिष्क की कार्यशैली पर महत्वपूर्ण पुस्तक।
3. रे कुर्ज्वेल: कृत्रिम बुद्धिमत्ता और मानव भविष्य पर विस्तृत विश्लेषण।
4. निक ब्रोस्ट्रॉम: ए आइ के संभावित खतरों और नैतिक चुनौतियों पर।
5. युवाल नोआ हरारी: ए आइ युग में मानव सभ्यता के संभावित भविष्य का विवेचन।
6. पीटर रस्सेल: सामूहिक चेतना और मशीन बुद्धिमत्ता पर विचार।
7. रॉजर पेनरोज: चेतना और कृत्रिम बुद्धिमत्ता के दार्शनिक प्रश्नों पर चर्चा।

### भारत-विशेष संदर्भ

1. नीति आयोग. (2018). *भारत सरकार का ए.आई. रोडमैप*. भारत सरकार.
2. इलेक्ट्रॉनिक्स और सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय. (2020). *वार्षिक रिपोर्ट*. भारत सरकार.
3. विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग. (2024). *भारत सरकार की वेबसाइट*. प्राप्त किया गया <https://dst.gov.in> से

### ऑनलाइन स्रोत और रिपोर्ट्स

1. विश्व आर्थिक मंच: ए आइ और रोजगार पर नवीनतम आँकड़े।
2. ए आइ विकास और सामाजिक प्रभाव पर विश्लेषणात्मक लेख।
3. वैश्विक ए आइ प्रगति पर वार्षिक रिपोर्ट।

### समाचार पत्र और पत्रिकाएँ -

1. ए आइ एवं न्यूरोसाइंस से जुड़े नवीनतम शोध।
2. ए आइ का अर्थव्यवस्था और प्रबंधन पर प्रभाव।

## नागार्जुन के प्रतिनिधि उपन्यासों की पात्र योजना

फरहत नवी\*

### सारांश :

हिंदी का कथा साहित्य बेजोड़ है। इस की अनेक विधाएँ पर्याप्त समृद्ध हैं। इनमें आधुनिक काल के उपन्यास भी ऐसी ही एक विधा है, जिसका विकास तीव्र गति से हुआ और निरंतर हो रहा है। हिंदी के अनेक कथाकारों ने आधुनिक समाज की विविध समस्याओं से जुड़े कथ्यों और शिल्प के उपन्यासों का सृजन किया है। इस रूप में नागार्जुन कथाकार प्रेमचंद के सच्चे उत्तराधिकारी हैं। नागार्जुन ने दस के लगभग उपन्यास लिखे हैं। इन उपन्यासों में नायकों (प्रमुख पात्रों) के चरित्र के विविध रूप मिलते हैं। यह भी एक सर्वमान्य तथ्य के उनके सभी उपन्यास यथार्थवादी हैं, जिनके सभी पात्रों का चरित्र जीवंत रूप में सामने आता है। उनके सभी उपन्यासों के मुख्य पात्र सजीव और क्रियाशील हैं, जो जीवसन् के बहुरूप संघर्ष की अभिव्यक्ति करते हैं।

### बीज शब्द :

कथा साहित्य, उपन्यास, पात्र, नायक, पात्रों का चरित्र चित्रण, कथा भाषा, गद्य और काव्य।

### विवेचन

माना जाता है कि उपन्यास मानव जीवन की समग्र झांकी प्रस्तुत करता है। नागार्जुन कथाकार मुन्शी प्रेमचन्द की परम्परा के वास्तविक उत्तराधिकारी उपन्यासकार हैं। इन्होंने अपने उपन्यासों में शहरी जीवन की तुलना में ग्रामीण जीवन का विविधतापूर्ण चित्रांकन अधिक किया है। उन्हें पढ़ते हुए प्रतीत होता है कि इनके उपन्यासों का दुःख दर्द हमारा दुःख-दर्द है। इन्होंने समाज की ज्वलन्त समस्याओं को बड़े ही प्रभावी ढंग से चित्रित किया है। यद्यपि इनके सभी उपन्यास विशिष्ट हैं लेकिन उनमें से 'बलचनमा', 'वरुण के बेटे', 'बाबा बटेसरनाथ', 'रतिनाथ की चाची' तथा 'अभिनन्दन' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

### नागार्जुन के उपन्यासों में प्रमुख पात्र

कथा-साहित्य का पूरा ताना-बाना मुख्य पात्र (नायक या नायिका) के इर्द-गिर्द बुना जाता है। वे उपन्यास का हीरो या आदर्श पात्र होते हैं। उनके चारित्रिक गुण हमें प्रभावित करते हैं। वे विकट सामाजिक समस्याओं का हल सहजता से कर देते हैं। नागार्जुन के उपन्यासों के केन्द्रीय पात्र इस प्रकार हैं -

#### 1. छोटे मालिक उर्फ सोहन बाबू (बलचनमा)

छोटे मालिक सोहनबाबू उपन्यास के एक केन्द्रीय पात्र है। वह एक जमींदार है। 'छोटे मालिक रंगीली तबियत के आदमी थे। चालीस पार कर चुके थे। मोँछ-दाढ़ी साफ। लाल-गुलाबी और गोल मटोल चेहरा, ऐसा खूबसूरत लगता था कि क्या हूँ। सिर के बाल कारी-भुजंग थे, घुँघराले। चुटिया अलग से नहीं थी। शहर की हवा खाये हुए थे। बी.ए. तक पढ़कर छोड़ दिया था। पहले कुछ साल सुपौल में मास्ट्री करते रहे। बाद में राँची हजारीबाग की तरफ किसी राजा के यहाँ मैनेजरी हाथ लगी। जब तक वहाँ रहे, पौ-बारह कटी। इधर दो-तीन महीने से घर बैठे थे। मलिकाइन थी नहीं, मन उदास था।' (बलचनमा. पृ. 52)।

\* शोधार्थी हिंदी-विभाग, जे.एस.विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद (फिरोज़ाबाद) उ.प्र.

“अपनी पहली उमर में खेले-कूदे हुए थे मालिक। ऐसे मौकों पर गुमसुम खड़ी या ना-ना कहती बीसियों की उन्होंने कलाई पकड़ी थी।” (बलचनमा-54) माँ के साथ आयी तरूणी रेबनी को देखकर छोटे मालिक का मन हिलोरे लेने लगा और रेबनी को अपनी वासना का शिकार बनाने का फैसला किया। “पंखा झलने के बहाने मालिक ने रेबनी को अपने पास बिठाया और अठन्नी देकर उसे प्रलोभन में लेने का प्रयास किया लेकिन उसने अस्वीकार कर दिया। मालिक ने मौका देख झट से रेबनी की कलाई पकड़ ली। हाथ झटक कर फुरती से रेबनी दो कदम पीछे हो गई, किसी न सिर पर सूप भर आग डाल दी है। पंखी हाथ से छूट गयी थी। चीख के बदले हल्की हाय सुनकर मालिक ने इसे नाटक समझा और पलंग से उठ कर आगे बढ़े।” (बलचनमा. पृ. 54) रेबनी वहाँ से भाग गयी, असफल रहने पर पुनः प्रयास किया। मालिक अपनी धुन में मस्त था। उस राक्षस ने तय कर लिया था कि आज इस छोकड़ी को अछूती न छोड़ूँगा। कामिनी ओर कंचन के पीछे किसी का मन जब खिंचता है तो उस पर सौ बोटल का नशा चढ़ जाता है। छोटे मालिक भी अपना होश-हवास खो बैठा था।

बलचनमा कहता है “मालिक ने रेबनी को जबरन जमीन पर गिरा दिया और खुद उसके बदन पर काबू पाने की कोशिश करने लगे। पन्द्रह साल की असहाय लड़की अपनी समूची ताकत बटोर कर उस पस्त हालत में भी मुकाबला करने लगी। कुत्ते बिल्ली की लड़ाई कभी तुमने देखी है भैया ? वही हाल था। मेरी बहनने हार नहीं मानी। उसने मालिक की कलाई पर इतने जोर से दाँत गड़गड़ दिए कि सुसर अचेत हो गये और रेबनी बिजली की फुर्ती से उठकर भाग आई।” (बलचनमा. पृ. 56)

छोटे मालिक जर्मीदार हैं, व जर्मीदारी के पोषक हैं। गरीबों को ऊँचे सूद पर पैसा देना, न लौटाने पर उनकी मीन जायदाद हड़प लेना। गरीबों की बहू बेटियों को अपनी वासना का शिकार बनाना इनका मुख्य उद्देश्य है। शोषण व अत्याचार करते हैं।

## 2. बलचनमा (बलचनमा)

इस उपन्यास का केन्द्रीय पात्र ‘बलचनमा’ है। वह कृषकों में पनपती जर्मीदार विरोधी चेतना का वाहक एवं प्रतिनिधि पात्र है। इसमें बलचनमा की कथा मुख्य है और अन्य कथाएँ बलचनमा के इर्द-गिर्द चक्कर काटती हैं। उपन्यास का नायक ‘बलचनमा’ जब चौदह साल का था तब आम चुराने के कारण मालिक द्वारा की गई पिटाई में उसके पिता की मृत्यु हो गई। परिवार में उसकी माँ, दादी और छोटी बहन रेबनी थी। वह छोटी मालिकान के यहाँ भैंस चराने का काम करता है। वहाँ उसे सूखा या बासी पकवान, सड़ा आम तथा फटे दूध का बदबूदार छेना, जूठन की बची कड़वी तरकारी, बदबूदार दही आदि चीजें खाने के लिए मिलती थी। तथा मालिकाइन कहती थी, कि ऐसी अच्छी चीज तैरे बाप-दादे ने भी नहीं खाई होगी। इसके साथ ही उसे, मलिकाइन के द्वारा दी गई गालियाँ भी सुननी पड़ती थी। “गालियाँ सुनकर पहले दो चार दिन तो मुझे थोड़ी बहुत तकलीफ हुई पर बाद में कान खूब पक्के हो गये। मुझे सीखना पड़ा। एक बार दोपहर को घास लाने में जरा देर हो गई तो मलिकाइन हुहुआ उठीं-मर क्यों गया ? बड़े नबाब के नाती हुए हैं। कहीं बैठकर बाप के साथ कौड़ी खेल रहा होगा और देर हो गई तो घास नहीं मिलती है, खुरपी मोथी है, बैट ढीली पड़ गया था...पचास बहाने बनाता है। कलमुँहा ! इतना बक चुकने के बाद भी उसे संतोष न हुआ तो झाड़ू उठा लाई और मेरी पीठ पर कई बार झटपट बरसा दियो। मैं तिलमिला कर वहीं बैठ गया। बाप-बाप कर उठा।” (बलचनमा. पृ. 44)।

मझले मालिक की निगाह उनके उन थोड़े से खेतों पर थी। उसमें मडुवा उपजाकर तीन-चार महीने का खर्च निकालते थे। मालिक ने बलचनमा की दादी और माँ बुलाकर जमीन का प्रस्ताव रखा। मालिक दो के बदले चार कट्टा जमीन देने को तैयार हो गए। दादी ने विरोध किया। आखिर जबरदस्ती माँ को तैयार किया गया। मालिक ने जमीन छीन ली। बदले में कुछ भी नहीं मिला।

बलचनमा सत्रह-अट्ठारह वर्ष की आयु में मालकिन के भतीजा फूलबाबू के साथ पटना गया। पटना में जाकर उसने परिवर्तित स्थिति को महसूस किया। फूलबाबू ने उसके ढंग से बाल कटवाये और निकर व बांड की कमीज दिला दी। उस समय स्वराज्य का जमाना था। कांग्रेसी लोग नमक बना-बनाकर जेल में जा रहे थे। नमक आन्दोलन में जब फूलबाबू शामिल रहे और लौटने पर गाँधीवादी पद्धति से जीवन बिताने लगे तब उन्हें नौकर की आवश्यकता न रही तो बलचनमा घर लौट आया। अब उनकी बुद्धि विकसित हो गई थी।

एक रोज माँ के साथ रेबनी भी मालिक के घर पर आटा पीसने गयी थी। मालिक वहाँ उसके साथ बलात्कार करना चाहता है। रेबनी मालिक की वासना का शिकार बनने से बच जाती है। वह येन केन प्रकारेण अपनी रक्षा करती है। मालिक चिड़कर बलचनमा की माँ की पिटाई करता है। परन्तु वह भी अपनी बेटी के शील की रक्षा करती है। बलचनमा मालिकों के अत्याचार के खिलाफ जीवन पर्यन्त लड़ने की सौगन्ध खाता है।

### 3. जयकिशोर (रतिनाथ की चाची)

उपन्यास में जयकिशोर, एक ऐसा पात्र है, जिसकी पूरी कथा इसके इर्द-गिर्द घूमती है और कथानक को आगे बढ़ाता है। यह मानसिक रूप से सन्तुलित व्यक्ति है। रतिनाथ की चाची अर्थात् गौरी का भाई है। उपन्यास में जयकिशोर डालटनगंज के जिला स्कूल में हैड पण्डित है, और अपनेबाल बच्चे और पत्नी समेत बाहर ही रहता है। जयकिशोर बहुत ही सभ्य, सुशील और संयमी है। “बहनाई की मृत्यु के बाद जयकिशोर ने चाहाकि गौरी हमेशा के लिए तरकुलवा ही रह जाए, मगर गौरी का यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं हुआ। यह दूसरी बात है, कि इस समय बेचारी एक विचित्र परिस्थिति में पड़ गई है, मगर यों गौरी की प्रकृति में स्वाभिमान का मात्रा कूट-कूट कर भरी हुई है।” (रतिनाथ की चाची. पृ. 25) गौरी का भाई जयकिशोर जब गाँव आता है, तो उसे अपनी बहिन के गर्भधारण करने तथा उसके द्वारा की गयी भ्रूण हत्या के बारे में सभी बातों का पता लग जाता है। किन्तु वह इस बात को विधवा की मानवीय कमजोरी समझकर अपनी बहिन गौरी से घृणा नहीं करता है। वह वैधव्य जीवन की परेशानियों को समझता है।

जयकिशोर में संस्कारित गुण है, उसकी विधवा माँ ने जयकिशोर को पर्याप्त मुसीबतों का सामना करते हुए पाल-पोसकर, पढ़ा-लिखाकर बड़ा किया। जयकिशोर की जो सामाजिक प्रतिष्ठा है, उसमें माँ का बहुत बड़ा योगदान है। मोतीहारी जाने से पहले की तैयारी में उसकी माँ की ममता का तरल स्वरूप छलक-छलक पड़ता है। दूसरी तरफ जयकिशोर के हृदय में अपनी माँ के प्रति पूर्ण समर्पण भाव है, अपार श्रद्धा है। उसे अपनी माँ पर बड़ा अभिमान है। वह मुक्त स्वर से अपनी माँ की प्रशंसा करते हुए कहता है-“ऐसी माँ और किसकी होगी ? कभी किसी काम के लिए मुझे नहीं कहा। मैं राजकुमार की तरह रह रहा हूँ। हाथ से कदाचित ही एक तिनका भी उठाना पड़ा हो और जयकिशोर बाबू का ऐसा कहना अनर्गल नहीं था।” (रतिनाथ की चाची. पृ. 61) जयकिशोर के सम्बन्ध सहज और शालीन है और कहीं भी कटुता और तनाव दृष्टव्य नहीं है।

#### 4. रतिनाथ (रतिनाथ की चाची)

उपन्यास में रतिनाथ एक मुख्य पात्र है। उपन्यास की पूरी कथा रतिनाथ तथा गोरी (रतिनाथ की चाची) के इर्द-गिर्द घूमती है। रतिनाथ के पिता जयनाथ है। मातृहीन रतिनाथ के लिए चाची ही माँ-बाप सब कुछ है। उसे जीवन में सिर्फ चाची से ही प्रेम मिलता है। उसकी माँ की मृत्यु के उपरान्त चाची ने ही देखभाल की है। रतिनाथ चाची के लिए जान तक देने के लिए तत्पर रहता है। जब रतिनाथ की चाची (गौरी), जयनाथ की कामवासना के शिकार से गर्भवती हो जाती है। रतिनाथ अपनी चाची की आलोचना व बुराई बिलकुल पसन्द नहीं करता है। विपत्ति के अथाह समुद्र में गोते खा रही चाची के लिए रतिनाथ ही आँसू बहाता है। चारों ओर से तिरस्कृत चाची जब भूखे पेट ही सो जाना चाहती है। तो रतिनाथ सत्याग्रह करता, हुआ पूँछता है “ऐसी क्या बात है, चाची कि तुमने खाना पीना छोड़ रखा है ? अच्छा नहीं खाना है, न खाओ। मगर कल मैं भी नहीं खाऊँगा।” (रतिनाथ की चाची. पृ. 8) अन्ततः रतिनाथ के सत्याग्रह के सामने चाची को झुकना पड़ता है। इस कथन में रतिनाथ का चाची के प्रति असीम प्रेम झलकता है। रतिनाथ का रोम-रोम चाची के प्रति कृतज्ञ है। यदि वह किसी के मुँह से चाची की शिकायत सुनता तो गुस्से के मारे उसके नथुने फड़कने लगते। चाची के प्रति उसकी श्रद्धा बढ़ती रही और दिन ब दिन चाची उसे देवता तुल्य लगने लगी।

चाची प्रतिक्षण रतिनाथ की भलाई के लिए तत्पर रहती है। जयनाथ जब उसके विवाह के बारे में कहता है, तब चाची विरोध करती हुई कहती, “इस तरह मैं तुम्हें रति का गला नहीं काटने दूँगी। तुम्हारा वह खिलौना मात्र है। परन्तु मेरा ? मेरा वह कलेजा है। उसके साथ खिलवाड़ मत करो।” (रतिनाथ की चाची. पृ. 95) चाची की मातृ हृदय रतिनाथ के लिए सदैव गंगा की धाराजैसा बहता जाता है। अपने पुत्र उमानाथ से भी अधिक चाची रतिनाथ से प्रेम करती है और वह अपना अन्तिम संस्कार रतिनाथ से ही कराना चाहती है। “हाँ, रतिनाथ ही अपने हाथ से मेरा अंतिम संस्कार करेगा। वह मेरा मानस पुत्र है। चाची का चिन्तन चक्र चलने लगा रती ने कुछ ही दिन पहले कहा था। चाची, नहीं माँ कैसी हुआ करती है, मगर मेरे लिए तो तुम्ही माँ हो, हो न चाची ?” (रतिनाथ की चाची. पृ. 143) बीमार चाची के बारे में वह सोचता है कि मैं, बीमार हो जाऊँ मगर चाची स्वस्थ हो जाये। चाची पर उसकी अपार निष्ठा का ही परिचायक है। चाची की मृत्यु के बाद शंभकरपुर उसके लिए शमशान बन गया। रतिनाथ ने चाची के कथनानुसार उसका अन्तिम संस्कार किया और चाची जी की अस्थियों को काशी के मणिकर्णिकाघाट का घाट पर गंगाजी में कंपित हाथों तथा आद्र हाथों से प्रवाहित किया। अस्थि विसर्जन के बाद में यह प्रश्न उठ रहा था कि ‘अमावस्या की उस रात को वह कौन था चाची ? एक घनी और अँधेरी छाया तुम्हारे बिस्तर की तरफ बढ़ आयी वह क्या थी चाची ? सदा के लिए तुम्हारे सिर पर कलंक का टीका लग गया , वह कौन था चाची ? शील और शालीनता की प्रति में ! तुमने क्यों उस धूर्त का नाम नहीं बतला दिया ?’ (रतिनाथ की चाची. पृ. 15)

#### 5. माहेश्वर (नयी पौध)

उपन्यास में माहेश्वर एक मुख्य पात्र है। वह जागरूक युवक है। माहे, गाँव के नवयुवकों का समूह ‘बमपाटी’ का सक्रिय कार्यकर्ता है। यह बाल विवाह तथा अनमेल विवाह का विरोधी है। “माहे ने मजबूती से कहा-मैं जाने के लिए नहीं आया हूँ, पंडित बाबा, आपसे तो मैंने कुछ कहा भी नहीं है-आग तो लगा दी कहेगा क्या ! माहे ने दूल्हे के भांजे को सम्बोधित किया-आप तो, सुना है पढ़े लिखे हैं। क्यों न अपने मामा को समझाते हैं? साठ साल की उमर, पाँच-पाँच जवान बेटों के बाप.....छी-छी-छी-छी?” (नई पौध. पृ. 51)

माहेश्वर एक जागरूक युवा पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है। यह समाज में व्याप्त सनातन रूढ़ियों का विरोध करता है।

### 6. राजा रेवतीरंजन प्रसाद सिंह (अभिनन्दन)

अभिनन्दन में एक मुख्य पात्र है। वह साहित्य प्रेमी है और मालागढ़ स्टेट के मालिक है। आदिवासी जीवन और शिकार के बारे में दो तीन पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं। वह रंगीन मिजाज के व्यक्ति है। “ब्रिटिश अमलदारी में ‘राजभक्त’ (लॉयल) होने के कारण अधिकारियों के लिए प्रीतिपात्र भी थे और आदरास्पद भी। 1857 के बाद खुश होकर अंग्रेजों ने आपके परदादा को परगना मालागढ़ की जमींदारी सौंप दी थी।” (अभिनन्दन. पृ. 21)

राजा साहब ने ब्रिटिश कम्पनी से चीनी का एक कारखाना खरीदा। स्वाधीनता के बाद चीनी-मिलों के मजदूर संगठित होने लगे तो राजा साहब ने स्वयं फैक्ट्री का फाटक राष्ट्रीय का फाटक राष्ट्रीय मजदूर कांग्रेस वालों के लिए खोल देना और मजदूरों की मांग को ठंडे बस्ते में डाल देना, दो मजदूर नेताओं को आपके कर्मचारियों ने हमेशा के लिए गायब कर देना। इसमें इनका कूट कौशल ही झलकता है। “जमींदार न रहने पर भी राजा साहब हजारों बीघा जमीन के मालिक है। बड़े नगरों में आपके बीसियों मकान है। मकानों के भाड़े से लगभग पचास हजार रुपये प्रति वर्ष आते हैं। चार ट्रैक्टर, दस ट्रक बिजली के तीन जनरेटर, एक सिनेमाघर, दो मार्केट, बन्दूक पिस्तौल की एक बड़ी दुकान राजा साहब की मिल्कियत में और भी बहुतेरी चीजें शुमार है।” (अभिनन्दन. पृ. 22)

### 7. बाबा बटेसरनाथ (बाबा बटेसरनाथ)

इस उपन्यास में ‘बाबा बटेसरनाथ’ एक ऐसा पात्र है कि उपन्यास की सम्पूर्ण कथा इन्हीं के इर्द-गिर्द घूमती है। इसमें एक सौ तीन वर्ष के वटवृक्ष के मानवीकरण के माध्यम से सर्वहारा वर्ग की जागृति, संगठन और संघर्ष की कहानी का वर्णन है। इसमें रूपउली गाँव की चार पीढ़ियों की कथा इस उपन्यास में चित्रित है। बाबा बटेसरनाथ अपने जन्म से लेकर मरण पूर्व दस पन्द्रह दिन तक की व्यक्तिगत अनुभूतियों का वर्णन करते हैं।

इस उपन्यास में नागार्जुन ने वटवृक्ष के माध्यम से पीढ़ी दर-पीढ़ी में जमींदारों द्वारा निर्धन जनता पर किये जा रहे अत्याचारों व शोषण की कथा प्रस्तुत करते हुए अंग्रेजों के आंतक व अत्याचार के विरुद्ध होने वाले स्वतन्त्रता संग्राम का उदाहरण देते हुए जनता को अन्याय के विरुद्ध का संदेश दिया है। बाबा बटेसरनाथ ने महाजनी शोषण का अत्यन्त दर्दनाक किस्सा सुनाया है। शत्रुमर्दन राय के पिता महाजन के तीन रुपये सूद पर लेते हैं। कर्ज न चुका पाने के कारण सूद-दर-सूद पीकर रकम मोटी हो गयी और उसे न चुका सकने के कारण उसे बर्बर दण्ड दिया जाता है, उसकी प्रार्थना पर बिल्कुल भी नहीं गौर किया जाता है।

अकाल की भीषण घटनाओं का बाबा को जानकारी थी। बाबा ने यह घटना सुनाई भूखे चरवाहे आकर बरगद बाबा की डालों पर खड़े रहते और कच्ची दुधवी फनियों चबाया करते। भयंकर भूख ने लोगों की अंतड़ियों का रस सोख लिया था। इसके बाद उन्होंने टूसों पर हाथ साफा करना शुरू कर दिया। उनके पत्तों में, डालों में, टूसों में, कच्ची फलियों में लासा की थोड़ी बहुत मात्रा होती है। इस लासा के कारण बेचारों की जीभ और तालू अधिक देर तक चालू नहीं रह पाते थे-“नागार्जुन ने मिथिला के जन-जीवन पर पड़ी अकाल की छाया का बड़ा ही हृदय विदारक चित्र प्रस्तुत किया है तो दूसरी ओर दैवीय प्रकोपों ने तो जैसे उसकी कमर ही तोड़ कर रख दी है और बाढ़ जैसी दैवीय आपत्तियों ने किसानों के आर्थिक संकट में वृद्धि की है। ये दैवीय

आपदायें जनशक्ति और धनशक्ति दोनों का ही नाश करती है।” (डा. बाबूराम गुप्त, उपन्यासकार नागार्जुन. पृ. 139)

बाबा बटेसरनाथ जो इस उपन्यास का नायक है। वह एक व्यक्ति न होकर एक पुराना छतनार वट-वृक्ष है। जिसे सृजनात्मक कल्पना द्वारा जीवन्त व्यक्तित्व प्रदान कर दिया गया है। वह वृक्ष ध्वनित होकर अपनी कहानी सुनाता है। इसके माध्यम से गाँव के सामाजिक आर्थिक राजनीतिक संघर्षों, उसके उत्थान पतन को बेहद जीवन्त तरीके से वर्णित किया है। कथा कहने के तरीके की आत्मीयता तथा प्रत्यक्षता से मानों सजीव हो उठा है। “उसकी प्रथायें-परम्परायें, अंध-श्रद्धा, उपासना-पद्धति, पशुबलि आदि के तरीके सब हमारे सामने प्रत्यक्ष हो उठते हैं। इन्हीं सब नैसर्गिक निरूपणों के बीच लेखक ने कांग्रेसी शासन की व्यंग्यात्मक आलोचना का भी अवसर निकाल लिया है।” महेन्द्र चतुर्वेदी हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण-पृष्ठ 209)

### निष्कर्ष :

बाबा के रूप में साहित्यकार नागार्जुन जनकवि के रूप में लोकप्रिय तो हैं ही, कथा-साहित्य के भी सशक्त हस्ताक्षर हैं। उन्होंने साहित्य की परम्परागत शैली में अपनी रचना धर्मिता का भी निर्वाह किया है और आधुनिक भारतीय समाज की आवश्यकता के अनुरूप उसकी पीड़ा और व्यथा की आवाज को व्यापक साहित्य प्रेमियों के लिए उपलब्ध कराया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने कथा साहित्य को नयी कथाभाषा के माध्यम के रूप में अपनाया है। उनका सारा का सारा साहित्य इस गतिशील सामाजिक विकास के साथ-साथ उसकी विडम्बनाओं को नये रूप प्रस्तुत करता है। उनका साहित्यिक अवदान अप्रतिम है।

साहित्य प्रेमी अवगत है कि नागार्जुन ने 11 उपन्यास लिखे हैं। उनके उपन्यासों के सभी पात्र आसपास के परिवेश से चुने गये हैं। ये सभी पात्र इसीलिए जीवन्त हैं। घटनाएँ भी आसपास के सामाजिक जीवन में घटी हुई हैं। जिस से उनमें विश्वसनीयता बनी रहती है। विभिन्न पात्रों के साथ पाठक सहज भाव से बहता चला जाता है। इस गति के बीच कई ऐसी स्थितियाँ भी आती जाती रहती हैं जो पाठकों के मन को द्रवित कर देती हैं। नागार्जुन के उपन्यास “बाबा बटेसरनाथ” में नायक का चरित्र इसी रूप में रचा गया है, जो ग्राम्य आम जन का जीवन्त प्रतीक है। उन्होंने एक नई कथाभाषा सृजित की है। जिसमें सामाजिक चेतना समाहित है। आम भाषा ने उनके पात्रों में जान डाल दी है। यही कारण है कि नागार्जुन अपने समय के अत्यन्त लोकप्रिय कथाकार हैं।

### संदर्भ

गुप्त, गणपति चंद्र. (1975). हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास. विनोद पुस्तक भण्डार.

चतुर्वेदी, महेन्द्र. (2009). हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण. नई दिल्ली: लिपि प्रकाशन.

नागार्जुन. (1957). बाबा बटेसरनाथ तथा अन्य उपन्यास. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.

वर्म, रामप्रकाश. (2000). नागार्जुन की उपन्यास कला. दिल्ली: लिपि प्रकाशन.

सिंह, कल्पना. (2000). नागार्जुन का उपन्यास शिल्प. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.

सिंह, कुँवरपाल. (1973). हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.

## शौर्य और संचार का जीवंत दस्तावेज बुंदेली लोक गाथाएं

गौरव चौहान\*

chouhangourav00@gmail.com

### शोध सारांश :

किसी आदर्श नायक के जीवन से सम्बन्धित वह कथा जो लोक कंठ में ही उत्पन्न और विकसित, मौखिक रूप से प्रचलित हो तथा जिसमें अकृत्रिम सहज रस प्रवाह एवं लोक तथा मानवीय तत्वों का समावेश हो- लोकगाथा कही जाएगी। बुंदेलखंड में प्राचलित लोकगाथाओं में समाज के शौर्य, आदर्श तथा दमित भावनाओं की स्वछंद अभिव्यक्ति हुई है। बुंदेली लोकगाथाओं में द्रुत गति, शब्द विन्यास की सादगी, मर्मस्पर्शी, प्राकृतिक तथा आदिम मनोरगों की अभिव्यक्ति रचनात्मक ढंग से हुई है। प्रभावी चरित्र-चित्रण एवं कृत्रिमताओं का सर्वथा अभाव बुंदेली लोकगाथाओं के अनिवार्य तत्व हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में शौर्य और संचार का जीवंत दस्तावेज बुंदेली लोकगाथाओं का पारंपरिक संचार के दृष्टिकोण से अध्ययन किया गया है।

**संकेत शब्द :** संचार, लोकगाथाएं, बुंदेलखंड, सांस्कृतिक संचार, पारंपरिक संचार

### प्रस्तावना :

सांस्कृतिक संचार की परंपरा के विषय में जानने और समझने में वाचिक परंपरा से आधारभूत सहायता मिलती है और यह वाचिक परंपरा लोक में प्रचलित लोकनाट्यों, लोकगीतों और लोक गाथाओं के माध्यम से परिलक्षित होती है। संचार के इन कलारूपों में मानव मन का इतिहास अंकित है इनमें बड़ी सहजता, सरलता, मृदुता से समाज में स्थापित सामाजिक मूल्यों, धार्मिक एवं वैचारिक मान्यताओं को सुन्दरतम ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। भारतीय जनमानस में प्रचलित लोकगाथाएं सांस्कृतिक संचार का सशक्त माध्यम है यह सांस्कृतिक एवं सामाजिक अभिव्यक्ति हैं। भारतीय लोक कला, संस्कृति एवं साहित्य के गंभीर अध्येताओं के अनुसार- “लोक गाथाएं मौखिक इतिहास का महत्वपूर्ण श्रोत होते हुए भी अब तक उपेक्षित हैं भारत के लोक जीवन में लगभग तीन हजार से ऊपर लोक गाथाएँ प्रचलित हैं। इनमें से लगभग दो सौ लोक गाथाएँ प्रेमाख्यानक हैं और कुछ इतने ही भक्तिपरक। शेष गाथाओं में गोचर संस्कृति की जिजीविषा तथा थान और बथान के लिए संघर्ष, सामंती अत्याचार के प्रति मुखरता से प्रतिरोध है।”<sup>1</sup> अगर हम लोकगाथा शब्द की व्याख्या करें तो “अंग्रेजी में लोकगाथा के लिए ‘बैलेड’ शब्द प्रयुक्त होता है। बैलेड की व्युत्पत्ति लेटिन के ‘बैलारे’ शब्द से मानी जाती है, जिसका अर्थ है नाचना, अर्थात् वह गीत जो नाच/नृत्य के साथ गाया जाता है उसे लोकगाथा कहते हैं। पर, भारतीय लोकगाथा के संदर्भ में यह परिभाषा सटीक और अर्थक्षेपक नहीं है। यहाँ गीत के साथ नृत्य नहीं, कथा होती है। किसी आदर्श नायक के जीवन से संबंधित वह कथा जो लोक कंठ में ही उत्पन्न और विकसित, मौखिक रूप से प्रचलित हो तथा जिसमें अकृत्रिम सहज रस प्रवाह एवं लोक तथा मानवीय तत्वों का समावेश हो- लोकगाथा कही जाएगी अथवा लोकगाथा मौखिक परंपरा में प्रचलित वह कथा- गीत है, जिसमें समुदाय या समाज के शौर्य, आदर्श तथा दमित भावनाओं की स्वछंद अभिव्यक्ति हुई है। अधिकांश विद्वानों ने लोक लोकगाथा की विशेषताओं का निर्धारण पूर्वाग्रह पूर्ण किया है, यथा : अलंकृत शैली का भाव, इतिहास की संदिग्धता आदि। जबकि लोक विम्ब, प्रतीक तथा छंदों की बानगी लोक गाथाओं

\* शोधार्थी, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र.

की अन्यन्य विशेषताएँ हैं। कुछ गाथाएँ तो केवल ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित हैं, और शेष मौखिक अथवा लोक इतिहास का महत्वपूर्ण श्रोत है।<sup>2</sup> बुंदेलखंड की लोकगाथा कला शैली काफी समृद्ध है। भारत के प्रमुख राज्य उत्तर प्रदेश के दक्षिण में 07 जनपद और मध्य प्रदेश के उत्तर में 13 जनपद में लगभग डेढ़ लाख वर्ग किलोमीटर में फैले क्षेत्र को बुंदेलखण्ड नाम से जाना जाता है जहाँ की वर्तमान आबादी लगभग 03 करोड़ से ज्यादा है। शौर्य और श्रृंगार की धरती बुंदेलखण्ड की लोक कला, संस्कृति एवं लोक परम्पराएँ सबसे अनूठी हैं। यहाँ बोली जाने वाली मधुर बोली बुंदेली है। बुंदेली लोकगाथाओं में मानव मूल्यों तथा मानव जीवन के उन सभी तत्वों का समावेश है जो आज भी सामाजिक, सांस्कृतिक विमर्श के आधारभूत तत्व हैं एवं जो मनुष्य की उपस्थिति एवं प्रासंगिकता को निर्धारित करते हैं। बुंदेली लोक गाथाएं लोक जीवन के साथ-साथ सांस्कृतिक संचार का अभिन्न अंग है जिसमें लोकरस की अभिव्यक्ति होती है।

### बुंदेलखंड में लोक गाथाओं का स्वरूप :

बुंदेली लोकगाथाएं शौर्य और संचार का जीवंत दस्तावेज है शायद इसलिए बुंदेलखंड में लोक गाथाओं का स्वरूप एवं उद्देश्य लोकरंजन के साथ-साथ लोक शिक्षण करना रहा है। बुंदेलखंड में बुंदेली का प्रचलन है जो पश्चिमी हिन्दी की एक प्रमुख बोली है।<sup>3</sup> बुंदेली मध्य प्रदेश के ग्वालियर, मुरैना, भिड़, शिवपुरी, छतरपुर, टीकमगढ़, दमोह, गुना, विदिशा, सागर, रायसेन, भोपाल (आंशिक), होशंगाबाद, नरसिंहपुर, जबलपुर (कटनी तहसील को छोड़कर), बैतूल, छिदवाड़ा और सिवनी जिलों में तथा उत्तर प्रदेश के हमीरपुर, जालौन, झांसी और ललितपुर जिलों में बोली जाती है। आल्हा और हरदौल बुंदेलखंड क्षेत्र की सबसे लोकप्रिय गाथाएं हैं।<sup>3</sup> “विद्वानों के अनुसार बुंदेलखंड की प्रत्येक गाथा किसी न किसी लोक कवि के रचना है जो अपनी लोक रचनात्मक अभिव्यक्ति एवं अनुभूति के कारण व्यापक लोक समाज के बीच पहुँच कर लोक गाथा बन गई। “कालान्तर में लोककवि का नाम लुप्त होने की वजह से वह “अनाम” हो गई अथवा हो जाती है। यदि कवि की “छाप” रहती है अथवा वह रचना किसी कवि के हस्तलिखित संग्रह में मिल जाती है, तो उसके रचयिता की पहचान हो जाती है। “सनाम” हो जाने पर भी वह लोक गाथा ही रहती है। शर्त यह है कि वह लोकमुख में हो। लोकमुख में रहना लोक द्वारा ग्रहण करने पर निर्भर है और यह एक अलग प्रक्रिया है। इसमें कथा और कथावस्तु की प्रासंगिकता ही विशेष स्थान रखती है। दूसरा स्थान किसी चरित्र का चित्रण है, जिसके व्यक्तित्व में लोक के लिए आकर्षक रहता है। इसके बाद कुछ गौण तत्व होते हैं, जैसे- भाषा, लोकधुन, प्रचार के साधन, गायकी में रुचि, लोक आस्था आदि, जिनमें से कोई एक कभी-कभी इतना प्रभावपूर्ण होता है कि केवल उसी के बल पर कोई रचना लोक-गाथा के पद पर आसीन हो जाती है।<sup>4</sup>” जैसे ओरछा नरेश के भाई हरदौल से जुड़ी हुई बुंदेली लोकगाथा।

### बुंदेलखंड की प्रमुख लोक गाथाएं :

बुंदेली लोक मानस बुंदेलखंड में प्रचलित लोक गाथाओं की भावुकता को समझता है और उसे एक दायरा प्रदान करता है शायद इसलिए यहाँ की लोक गाथाएं धार्मिक कट्टरता, संप्रदाय, किसी खास दर्शन, विचारधारा, आग्रह एवं पक्षपात से मुक्त है और यही कारण है कि बुंदेलखंड में प्रचलित लोक गाथाएं लोक सामान्य की वैचारिकता को ग्रहण करते हुए वर्तमान में अतीत की झांकी प्रस्तुत करती हैं जैसे तो बुंदेलखंड में कई लोक गाथाएं प्रचलित हैं परंतु यहाँ हम प्रमुख दो बुंदेली लोकगाथाओं पर चर्चा करेंगे पहली शौर्य और साहस की प्रतीक आल्हा की गाथा और दूसरी इतिहास से निकलकर देवत्व की यात्रा करने वाले हरदौल की गाथा।

**आल्हा लोकगाथा :**

“बारह बरस लै कूकर जीएं और तेरह लै जीए सियार, बरस अठारह छत्री जीएं आगे जीवन कौ धिक्कार” आल्हा की यह पंक्तियाँ आज भी बुंदेलखंड में दोहराई जाती हैं। आल्हा लोकगाथा बुंदेलखंड के लोगों के बीच काफी प्रचलित है। आल्हा में अनेक वीरगाथाएं हैं। विद्वानों के अनुसार “आल्हा 11 वीं से 13वीं शताब्दी के भारत को चित्रित करता है। “आल्हा में 52 लड़ाइयों का वर्णन है। इसमें ऐतिहासिक चरित्रों को एक अनूठे ढंग से उठाया गया है। बनाफर क्षत्रिय राजपूतों के अंतर्गत उच्च श्रेणी के क्षत्रिय नहीं माने जाते। आल्हा में ही कहा गया है कि “ ओछी जाति बनाफर केरि”। आल्हा काव्य के परंपरागत वृत्त के अनुसार बनाफरों के चार सामंतों-देशराज (दसराज), वत्सराज (बछराज), रहमल और टोडर, बक्सर, कालिंजर के राजा के दरबार में आए। ये कुछ समय वहीं ठहर गए। इसी बीच मांडवगढ़ के राजा जंभी के पुत्र करिंद्र ने नौलखा हार पाने के लिए महोबा पर चढ़ाई कर दी। इस विपदा में बनाफर बंधुओं ने तालन सैयद के साथ प्राणों की बाजी लगाकर करिंद्र को भगा दिया। इसके बाद ये वहीं रहने लगे। बाद में दसराज के पुत्र आल्हा और ऊदल हुए। बछराज के मलखान और मुलखान तथा रहमल के देवा और टोडर नामक पुत्र हुए। समरूत आल्हाखंड में इन्हीं की वीरगाथाओं को बखाना गया है। आल्हा गाथा की कथावस्तु का इस प्रकार विन्यास किया गया है- 1. संयोगिता स्वयंवर, 2. महोबे का प्रथम युद्ध, 3. आल्हा का मांडोगढ़ से युद्ध, 4. नैनागढ़ का युद्ध और आल्हा का विवाह, 5. मलखान का विवाह और कोट कसौंदी की लड़ाई, 6. बौरोगढ़ की लड़ाई व चन्द्रावली की विदा, 7. ब्रह्मानंद चंदेल का पृथ्वीराज की पुत्री बेला से विवाह और दिल्ली का युद्ध, 8. नरवगढ़ की लड़ाई और ऊदल का विवाह, 9. इंदल हरण तथा चित्रलेखा का विवाह, 10. आल्हा का निर्वासन, 11. लक्ष्मण सिंह (लाखनसिंह) का विवाह और बंदी की लड़ाई, 12. जयचंद के अधीन राज्यों से कर वसूली के विविध युद्ध, 13. कीर्तिसागर (महाबे) पर भुजरियों की दूसरी लड़ाई, 14. महोबे पर पृथ्वीराज की चढ़ाई और कन्नौज से आल्हा व लाखनसिंह का सहायतार्थ आना, 16. बेला के गौने की लड़ाई, 16. बेला का ब्रह्मानंद से मिलन और ताहिर वध, 17. चंदन बगिया का युद्ध, 18. बेला के सती होते समय का युद्ध।<sup>5</sup> “आल्हा में विभिन्न युद्धों के माध्यम से राजभक्ति, स्वामिभक्ति और आल्हा तथा ऊदल की शौर्यगाथा का चित्रण किया गया है।

लोकसाहित्य से जुड़े विद्वानों के अनुसार आल्हा गाथा का मूल पाठ कवि जागनिक द्वारा प्रस्तुत ‘आल्हाखंड’ में था, जो अब उपलब्ध नहीं है। हिंदी साहित्य का इतिहास के लेखक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जगनिक का समय सं. 1230 माना है। वे कालिंजर के राजा परमाल के यहां भाट थे। मौखिक परंपरा से प्राप्त आल्हा को उत्तर भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न रूपों में गाया जाता है। मूल पाठ उपलब्ध न होने से क्षेपक अंशों का निर्धारण करना कठिन है। आल्हा गाथा वीर रस प्रधान है। किंतु अन्य रसों, जैसे वात्सल्य, शृंगार, शांत आदि का सुंदर परिपाक हुआ है। जागनिक ने आल्हा में जिस मात्रिक छंद (16+ 15 मात्राएं) का प्रयोग किया है, उस छंद का ही नाम आल्हा छंद पड़ गया। इसको वीरछंद भी कहा जाता है और मात्रिक सवैया भी। साथ ही इस गाथा में ऐतिहासिकता के साथ कल्पना का प्रयोग भी भरपूर हुआ है। कथातत्व में तत्कालीन कथा-काव्य की काव्य शैली का पूर्ण निर्वाह किया गया है। इसमें शुकसंदेश, रूपश्रवण से पूर्वानुराग, दूत द्वारा प्रेमपत्र प्रकरण, नायिका द्वारा देवीपूजन करने जाने पर नायक द्वारा हरण, युद्ध, विवाह, तंत्र प्रयोग, रूप बदलना, स्वप्न में देवदर्शन, भविष्य कथन आदि ऐसे तथ्य हैं जो कथा-काव्य शैली को पुष्ट करते हैं। विद्वानों के अनुसार आल्हा में कुछ बातें ऐसी हैं जो इतिहास से मेल नहीं खातीं, जैसे पृथ्वीराज के सात पुत्र होना, उसके पुत्र का

नाम ताहिर होना, पृथ्वीराज की कन्या बेला के विवाह की कल्पना, आदि। वीरता, साहस और शौर्य से भरपूर यह लोक गाथा आज भी बुंदेलखंड में अलग-अलग अवसरों पर गई जाती है।

### लोक देवता हरदौल की गाथा :

लोकगाथाएं और जीवन साथ-साथ चलते हैं जीवन की घोषणा के लिए गाथाएं चाहिए और गाथाओं की रचना के लिए भरा पूरा जीवन। लोक जीवन में कई नायक ऐसे होते हैं जो सदानीरा नदियों की तरह लोक के मानस में सतत प्रवाहमान रहते हैं ऐसे ही एक नायक की गाथा बुंदेलखंड के लोक समाज में प्रचलित है यह गाथा ओरछा नरेश के भाई हरदौल से जुड़ी हुई है। इसकी कथा सिर्फ इतनी सी है कि “हरदौल अपनी भाभी के प्रति वैसा ही आदर रखते हैं जैसे लक्ष्मण जी सीता जी के प्रति मर्यादा का आचरण करते हैं। पर कान भरने पर राजा तो अपने भाई पर ही सन्देह करने लगते हैं और आज्ञा देते हैं कि यदि हरदौल का मन साफ है तो वे अपनी भाभी के हाथों बनाया हुआ विषाक्त भोजन ग्रहण करें। भाभी भोजन पकाती हैं और हरदौल उसे प्रसाद रूप से ग्रहण कर अमरता के मार्ग पर चल पड़ते हैं। अभी लगभग साढ़े तीन सौ साल ही बीते हैं। बुन्देलखण्ड के गाँवों में हरदौल के चबूतरे बन गये हैं। दूल्हा-दुल्हन विवाह के बाद हरदौल का आशीर्वाद लेने उनके चबूतरों पर जाते हैं।” स्त्रियाँ गीत गाती हैं - ‘नजरियों के सामने तुम हरदम लाला रैयो, जैसी प्रीत करी भौजी से, ऊँसई सबै निभैयो।’ हरदौल की गाथा संक्षेप में इस प्रकार है “बुंदेलखंड में एक नगर है-ओरछा। यहां राजा वीर सिंह का राज्य था। उनके राज्य में प्रजा बड़ी सुखी थी। राजा के दो बेटे थे। बड़े का नाम जुझारसिंह और छोटे का नाम हरदौल। उनकी एक बेटी भी श्री जिगका नाम कंजावती था। इसका विवाह दतिया में हुआ था। राजा वीर सिंह के बाद जुझार सिंह गद्दी पर बैठा। उसका विवाह तो हो गया, परंतु हरदौल ब्रह्मचारी ही रहे। अपनी भाभी को वे अपनी माता के समान मानते थे। लोकगाथा में यह भाव देखिए- हरदौल ब्रह्मचारी था जी, दयाल था जी, प्यारे थे वे अपने भ्राता के, अपनी भौजी को माने हरदम माता रे। एक बार दिल्ली के राजा शाहजहां का फरमान आया, तो जुझारसिंह को जाने की तैयारी करनी पड़ी। जाते समय वे रानी के पास आए। उन्हें यह कह कर अपनी तलवार सौंप गए कि यदि कोई जरूरत आ पड़ी तो काम आएगी। जुझारसिंह के रवाना होते ही पड़ोसी पठान ओरछा आ पहुंचा। वह शाहजहां का सेनापति था। उसकी इच्छा थी कि मौके का लाभ उठाकर ओरछा को लूट लिया जाए। हरदौल ने भाभी को सब स्थिति बताते हुए भैया की तलवार तथा युद्ध की अनुमति मांगी। भाभी ने कहा, “तुम अकेले कैसे लड़ोगे? अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है, युद्ध में तुम्हें कैसे भेज दूं?” इस पर हरदौल ने कहा, “यदि मैं युद्ध में नहीं जाऊंगा, तो सब मुझे कायर समझेंगे और फिर यह तो बुंदेलों का अपमान होगा।” रानी ने अंततः हरदौल को टीका कर तलवार सौंप दी और आशीर्वाद दिया। हरदौल वीरतापूर्वक लड़ा और विजयी हुआ। जुझार सिंह को जब यह समाचार मिला, तो वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें अपने भाई की बहादुरी पर गर्व होना स्वाभाविक ही था। उधर दिल्ली के दरबार में दूसरा ही षड्यंत्र रचा जा रहा था। शाहजहां को उसके लोगों ने सूचना दी कि हरदौल बेहद बहादुरी से लड़ा और उन्हें शिकस्त खानी पड़ी। यह भी कहा गया कि वही हमारे मार्ग का कांटा है। सबने मिलकर तय किया कि इस कांटे को निकालने के लिए एक चाल चली जाए। चाल यह थी कि किसी भी प्रकार जुझारसिंह के मन में हरदौल के प्रति संदेह भर दिया जाए। शाहजहां को सलाह पसंद आई। उन्होंने दूत भेज कर तुरंत जुझारसिंह को बुला भेजा। दिल्ली पहुंचने पर शाहजहां ने जुझारसिंह को बताया, “मैंने एक बात सुनी है जिसे तुम्हें बता देना आवश्यक समझकर ही मैंने तुम्हें यहां बुला भेजा है। तुम सावधान रहना। तुम्हारे ही महलों में तुम्हारी हत्या के षड्यंत्र चल रहे हैं। तुम्हारी पत्नी और हरदौल के सम्बंध पवित्र नहीं हैं। तुम्हें आगाह करना मैंने अपना फर्ज समझा। इसीलिए सब बता दिया।” जुझारसिंह

चिल्ला उठा “नहीं, नहीं, यह झूठ है। मेरा भाई ब्रह्मचारी है और अपनी भाभी को तो वह माता के समान मानता है।” शहशाह ने कहा, “यदि तुम्हारी ही बात सच है, तो बताओ कि वह तुम्हारी तलवार रोज सिरहाने रखकर क्यों सोता है?” जुझार ने कहा, “यदि तुम्हारी बात सच निकली, तो मैं उसे जहर दे दूंगा।” जुझार अपने मन में यह विष-बीज लेकर ओरछा लौट आए। महलों में आते ही वे रानी के कक्ष में गए और आदेश दिया “छप्पन व्यंजन बनाओ और हरदौल के लिए उसमें जहर मिला दो।” रानी चौंकी- “यह क्या सुझा? हरदौल जैसे भाई को विष? क्या गलती है उसकी? नहीं, आप ऐसा नहीं कर सकते।” इस पर क्रोधित जुझार ने सब कुछ कह डाला, यह भी कि “मैं समझता हूँ तुम उसे जहर क्यों नहीं देना चाहतीं?” ऐसा आरोप सुनकर रानी बेचारी रो पड़ी। उसने इतना ही कहा- “हरदौल जैसे भाई पर शक करके आप अच्छा नहीं कर रहे हैं।” क्रोध में अंधे जुझार ने हरदौल का पक्ष लेने पर रानी को बहुत उल्टा-सीधा कहा और लौट गए। उनके जाने के बाद रानी बड़ी व्याकुल हो उठी। बेटे जैसे निर्दोष, बीर, गुणी देवर को कैसे जहर दे? कैसे बचाए? यदि बचाती है तो पतिव्रत धर्म जाता है। जहर यदि देती है तो एक पाप की भागी बनती है। क्या करे, क्या न करे! अंततः उसने जी कड़ा करके भोजन बनाने के निर्देश दे दिए और हरदौल को निमंत्रण भेज दिया। हरदौल जब भोजन को आए, तो उन्होंने देखा- भाभी का चेहरा पीला पड़ा हुआ है। जब वे कौर तोड़ने लगे तो रानी रो उठी। हरदौल ने कौर वापस रख दिया और पूछा- “भाभी! बताओ तुम्हें क्या तकलीफ है? किसने दुख दिया? क्यों परेशान हो ? जब तक मुझे कारण नहीं बताओगी, मैं भोजन नहीं करूंगा।” मजबूर होकर रानी ने सारी बात कह दी। सुनकर हरदौल बहुत दुखी हुए। उन्होंने कहा- “भाभी, तब तो मैं यह भोजन अवश्य करूंगा। आप मेरे लिए दुख न करें।” हरदौल ने भोजन किया। कुछ ही देर में उनके शरीर में विष फैलने लगा और वे शीघ्र ही भगवान को प्यारे हो गए। हरदौल की अंत्येष्टि आदि क्रियाओं से जुझारसिंह निपटे ही थे कि उनकी बहन जावती आ पहुंची। उनकी बेटा का विवाह था। भात मांगने आई थीं। जब उन्हें सब हाल मालूम हुआ, तो वह अपने को मुश्किल से संभाल सकीं। कुंजा ने जुझार से कह दिया- “तुम कैसे भाई हो, जिसने अपने वीर और गुणी भाई को नाहक जहर दिलवा दिया।” इस पर क्रोधित होकर जुझार ने कहा- “जा, अगर तुझे उसका इतना ख्याल है तो उसी के पास जा और उसी से भात मांगा।” यह सुनकर कुंजावती तुरंत वहां से निकल गई और रोती-रोती हरदौल के थान (स्मारक) पर जा पहुंची। कहने लगी- “मैं अब कैसे बेटा का विवाह कर पाऊंगी? कौन चीकट लाएगा? मुझे दर्शन दो, वरना मैं डूब मरूंगी।” तब आवाज आई “बहन ! तू रो मत। मैं भात लेके दतिया आऊंगा।” यह वचन लेकर कुंजावती दतिया लौट गई। नगर के एक सेठ को सपने में लाला हरदौल ने दर्शन दिए कि बहन की पुत्री की शादी में लावलशकर सहित दतिया पहुंचना है। समय आने पर सेठ गाड़ियों में सामान लदबाकर दतिया पहुंचा। सामान देख बहन बहुत रोई कि कौन भात पहनाएगा? तब हरदौल ने दिव्य देह धारण कर बहन से भेंट की और चीकट पहनाया। बराती जब खाना खाने बैठे तो हरदौल ने वहां पूरी परस कराई। बस परोस करते उनके हाथ दिखते थे, बाकी देह दिखाई नहीं देती थी। जब वे दूल्हे के आगे परोस रहे थे, तो दूल्हे ने उनके हाथ पकड़ लिए और कहा कि दर्शन पाए बगैर वह भोजन नहीं लेगा। भूखा ही लौट जाएगा। हरदौल ने उन्हें अपनी लाचारी बतलाई। लेकिन दूल्हे ने तो ठान ली थी कि दर्शन करना ही है। कुंजावती को पता चला, तो वह बिलख उठी “भैया! मेरी बिटिया कुंआरी रह जाएगी। इन्हें दर्शन दे दो।” तब हरदौल ने सबको दर्शन दिए। यह बुंदेलखंड की प्रमुख लोकगाथा है, यद्यपि यह अन्य क्षेत्रों में भी गाई जाती है। इस गाथा का महत्व इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि आज भी रामलीला, रासलीला की तर्ज पर ‘हरदौल लीला’ भी विभिन्न धार्मिक एवं सांस्कृतिक अवसरों पर अभिनीत की जाती है। सांस्कृतिक संचार के दृष्टिकोण से हरदौल की गाथा बुंदेली लोक जीवन में इस तरह रच-बस गई है जैसे मनुष्य के मन में ईश्वर बसता है।

### निष्कर्ष :

बुंदेलखंड की लोकगाथाएं लोक आदर्श का प्रतिनिधित्व करती हैं। कदाचित इसीलिए जनप्रियतां बुंदेलखंड की लोकगाथाओं के जीवित रहने का प्रथम विनियोग है। बुंदेलखंड में लोकगाथाएं जनसंपत्ति है। त्याग, बलिदान, प्रेम, वचन-निर्वाह आदि ऐसी भावनाएं हैं जिनसे व्यक्ति मात्र उद्वेलित होता है और इन उदात्त भावनाओं के आश्रय व्यक्तियों को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। बुंदेली लोकगाथाओं ने सामान्यतः इन्हीं भावनाओं को प्रश्रय दिया गया है। उदाहण के रूप में व्याह संस्कार के पहले आज भी गाँव के लोग हरदौल के चबूतरे पर न्यौता 'रखने जाते हैं और उनसे कहते हैं- 'लाला हरदौल विनती मान लइयो हो, भूल-चूक चरन तरेँ दाव लइयो हो।' हरदौल ने जिस तरह मृत्यु का वरण किया था, उनके प्राण छोड़ते ही मृत्यु उन्हें इतिहास से बाहर ले आयी। वे देह छोड़ते ही देवत्व की राह पर चल पड़े। बुंदेलखंड में उन्हें लोक देवता की प्रतिष्ठा मिली। उनका गुणगान आज भी विभिन्न अवसरों पर छोटे-छोटे आख्यान परक गीतों में किया जाता है। वहीं दूसरी ओर आल्हा गाथा में विभिन्न युद्धों के माध्यम से राजभक्ति, स्वामी भक्ति एवं शौर्यगाथा का जीवंत चित्रण है।

### संदर्भ

<sup>1</sup> भारती, ओमप्रकाश. (2021). लोकगाथाओं की सामाजिक पृष्ठभूमि: संदर्भ बिहार की लोकगाथाएँ. बिलासपुर: मड़ई पत्रिका राउत नाच महोत्सव समिति, पृ.सं. 203-204

<sup>2</sup> वही

<sup>3</sup> सक्सेना, राम प्रकाश (1994). मध्यभारत के लोकगाथा गीत. दिल्ली : प्रकाशन विभाग. पृ. 02

<sup>4</sup> <https://bundeliijhalak.com/bundeli-lok-gathayen/>

<sup>5</sup> सक्सेना, राम प्रकाश (1994). मध्यभारत के लोकगाथा गीत. दिल्ली : प्रकाशन विभाग. पृ. 161

<sup>6</sup> शुक्ल, ध्रुव (2010). मध्यप्रदेश में लोक आख्यान. भोपाल: जनसंपर्क संचालनालय मध्यप्रदेश

<sup>7</sup> सक्सेना, राम प्रकाश (1994). मध्यभारत के लोकगाथा गीत. दिल्ली : प्रकाशन विभाग. पृ. 166

### अन्य संदर्भ

दुबे, आरती (2017). बुंदेली. दिल्ली : साहित्य अकादमी

सक्सेना, रामप्रकाश (1994). मध्यभारत के लोकगाथा गीत. दिल्ली : प्रकाशन विभाग भारत सरकार

मोहम्मद, शरीफ. (संपादित) (1999). मध्य प्रदेश का लोक संगीत, भोपाल : मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी

सिंह, शरद.(2015). बुंदेली लोककथाएं. दिल्ली : साहित्य अकादमी

दुबे, श्यामाचरण (2010). मानव और संस्कृति. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन

बुन्देलखण्ड भूभाग का संक्षिप्त परिचय (Brief introduction of Bundelkhand) | Bundelkhand Research Portal

बुन्देली साहित्य में लोक कथाएं | Garbhanal

Bundeli Lok-gathayen बुन्देली लोक-गाथायें - Bundelii Jhalak

बुंदेलखंड की लोक संस्कृति का इतिहास - लोकाचार (Lokaachaar) | Bundelkhand Research Portal

बुंदेलखण्ड का लोक कलाएं भारतीय धरोहर (bhariyadharohar.com)

## अरुंधति रॉय के उपन्यासों में अस्मिता विमर्श

साक्षी कुमारी\*

sakshi.15111993@gmail.com

### प्रस्तावना

भारतीय अंग्रेजी साहित्य का विकास सांस्कृतिक, भाषिक और वैचारिक प्रक्रिया का परिणाम रहा है, जिसमें औपनिवेशिक प्रभावों और स्वतंत्र भारत की सामाजिक-राजनीतिक स्थितियाँ दोनों की झलक स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। विशेषकर उत्तर-औपनिवेशिक समय में अस्मिता (Identity) विमर्श एक केंद्रीय विषयवस्तु बनकर उभरा है, अस्मिता केवल व्यक्ति की पहचान नहीं, बल्कि उसमें अंतर्निहित वर्ग, जाति, धर्म, लिंग, भाषा, यौनिकता और क्षेत्रीय संदर्भों में भी परिभाषित होती है। इस दृष्टि से अरुंधति रॉय का साहित्य अस्मिता विमर्श के कई आयामों का विश्लेषण करता है।

### बीज शब्द :

अरुंधति रॉय अस्मिता, बहु अस्मिता, लैंगिक अस्मिता, सांस्कृतिक अस्मिता, हाशिये का समाज

अरुंधति रॉय ने अपनी रचनाओं के माध्यम से भारतीय समाज में उपेक्षित, हाशिए पर खड़े कर दिए गए तथा उत्पीड़ित समुदायों की आवाज़ को न केवल अभिव्यक्त किया है, बल्कि उन्हें साहित्यिक विमर्श के केंद्र में भी रखा है। उनका लेखन केवल साहित्यिक कृति तक सीमित नहीं, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक हस्तक्षेप भी है।

अरुंधति रॉय का जन्म 1961 में शिलॉन्ग (मेघालय) में हुआ। उनका पूरा नाम सुज़ाना अरुंधति रॉय है। उनकी शिक्षा दिल्ली और केरल में हुई तथा उन्होंने वास्तुकला में अपनी शिक्षा प्राप्त की। वे एक लेखक, निबंधकार, राजनीतिक कार्यकर्ता और पर्यावरणविद् के रूप में जानी जाती हैं। उन्होंने विश्वप्रसिद्ध उपन्यास *The God of Small Things* (1997) से ख्याति प्राप्त की, जिसे बुकर पुरस्कार से सम्मानित किया गया। दो दशकों के अंतराल के बाद 2017 में उनका दूसरा उपन्यास *The Ministry of Utmost Happiness* प्रकाशित हुआ, जिसने साहित्यिक जगत में उनकी बहुस्तरीय चिंतनशीलता को पुनः स्थापित किया है।

### अस्मिता विमर्श: एक सैद्धांतिक पृष्ठभूमि

अस्मिता विमर्श, साहित्यिक आलोचना का एक ऐसा क्षेत्र है, जो मुख्यतः उत्तर-औपनिवेशिक, नारीवादी, दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक आदि हाशिये पर खड़े वर्ग के साहित्य के भीतर से विकसित हुआ है। यह विमर्श व्यक्ति और समाज की पहचान, अस्तित्व, उसके सामाजिक बहिष्करण और प्रतिरोध के विभिन्न पहलुओं को समझने का प्रयास करता है। गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक का प्रसिद्ध प्रश्न “Can the Subaltern Speak?” अस्मिता विमर्श की जटिलता को उजागर करता है। जब हाशिए पर खड़े समुदायों को स्वयं बोलने की शक्ति नहीं मिलती, तो उनका प्रतिनिधित्व कौन करेगा? यह प्रश्न अरुंधति रॉय के लेखन में केन्द्रीय स्थान रखता है।

\* शोधार्थी, पीएच.डी (हिन्दी), जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली

अस्मिता विमर्श समकालीन साहित्यिक और सांस्कृतिक आलोचना का केंद्र बिन्दु बन चुका है, जिसका संबंध व्यक्ति, समुदाय और सत्ता के बीच संबंधों की जटिलता को उजागर करने से है। यह विमर्श उस अस्मिता की बात करता है जिसे इतिहास, समाज और संस्कृति के मुख्य विमर्शों में उपेक्षित, दबा हुआ या प्रतिनिधित्व से वंचित रखा गया। अस्मिता केवल आत्म-परिभाषा के प्रश्न तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक स्वीकार्यता, सांस्कृतिक अभिव्यक्ति और राजनीतिक अस्तित्व से गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। इस विमर्श की जड़ें मुख्य रूप से उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांत, नारीवाद, दलित अध्ययन, जाति विमर्श, नस्लीय भेदभाव, लैंगिक तौर पर तिरस्कृत वर्ग की पीड़ा और सबाल्टर्न अध्ययन (Subaltern Studies) जैसे बौद्धिक आंदोलनों से जुड़ी हुई हैं। यह साहित्यिक आलोचना को केवल सौंदर्यशास्त्रीय दायरे में सीमित नहीं रखता, बल्कि साहित्य को सामाजिक यथार्थ का प्रतिबिंब और हस्तक्षेप के एक औजार के रूप में प्रयोग करता है।

### बहु-अस्मिता (Intersectionality)

समकालीन अस्मिता विमर्श में इंटरसेक्शनलिटी (बहु-अस्मिता या अंतर्संयोजिता) एक महत्वपूर्ण अवधारणा है, जिसका प्रस्ताव किम्बर्ले क्रेंशॉ ने दिया था। उनका इससे तात्पर्य है कि व्यक्ति की पहचान एक से अधिक सामाजिक श्रेणियों—जैसे जाति, लिंग, धर्म, वर्ग, यौनिकता—के अंतःक्रियात्मक प्रभाव से निर्मित होती है। यह सैद्धांतिक अवधारणा यह समझने में सहायक है कि व्यक्ति की सामाजिक पहचान केवल एकल (single) श्रेणी तक सीमित नहीं है, बल्कि वे कई सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक परतों से निर्मित होती हैं। इन अस्मिताओं का परस्पर संयोग व्यक्ति के अनुभवों को गहराई और जटिलता प्रदान करता है—विशेषकर तब जब वह सामाजिक बहिष्कार और शोषण का शिकार होता है। यह अवधारणा उस सीमित सोच की भी आलोचना करती है जो अस्मिता को केवल एक ही घटक—जैसे केवल जाति, केवल लिंग, या केवल धर्म आदि—से परिभाषित करने का प्रयास करती है। इसके विपरीत, बहु-अस्मिता मानती है कि इन विभिन्न पहचानों का परस्पर प्रभाव व्यक्ति के जीवन अनुभव को आकार प्रदान करता है।

इस अवधारणा को सबसे पहले अमेरिकी नारीवादी और कानूनी विचारक किम्बर्ले क्रेंशॉ (Kimberlé Crenshaw) ने 1989 में प्रस्तुत किया। उन्होंने देखा कि अश्वेत महिलाओं को नस्ल और लिंग दोनों के आधार पर भेदभाव का सामना करना पड़ता है, लेकिन मुख्यधारा का नारीवाद (जो श्वेत महिलाओं पर केंद्रित था) केवल लिंग की बात करता था, और नस्लीय विमर्श केवल पुरुष अश्वेत अनुभवों की बात करता था। इस प्रकार, क्रेंशॉ ने इंटरसेक्शनलिटी को एक ऐसे विमर्श के रूप में प्रस्तुत किया जो यह स्पष्ट करता है कि किस प्रकार विभिन्न प्रकार की सामाजिक पहचान एक व्यक्ति के अनुभवों को आपस में जोड़कर कर विशेष किस्म के शोषण व दमन की स्थिति पैदा करती हैं।

### अरुंधति रॉय के उपन्यासों में अस्मिता विमर्श के विविध आयाम

#### जातीय अस्मिता (Caste Identity)

**The God of Small Things** में 'वेलुथा,' जो उपन्यास में एक 'पैरेवान' (दस्तकारी करने वाला दलित) है, जातिगत अस्मिता का सबसे सशक्त उदाहरण है। यद्यपि वह एक मनुष्य के तौर पर कुशल, संवेदनशील, और सहृदय व्यक्ति है, किन्तु उसका सामाजिक महत्व केवल उसकी जाति से निर्धारित होता है। वेलुथा एक ऐसा पात्र है जो अपने श्रम, प्रेम और आत्मा के स्तर पर पूरी तरह मनुष्य है, लेकिन समाज की नजरों में केवल एक "दलित शरीर मात्र" है।

वेलुथा और अम्मू के बीच का संबंध केवल एक प्रेम की गाथा नहीं है बल्कि यह उस सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध एक चुनौती है, जो किसी निम्न जाति के व्यक्ति को उच्च जाति की स्त्री से प्रेम करने का अधिकार नहीं देता। यह प्रेम, जो स्वाभाविक और गहरा है, अंततः समाज के 'Love Laws' के विरुद्ध चला जाता है—वे नियम जो तय करते हैं कि “कौन किससे प्रेम कर सकता है, और कितनी गहराई तक।” यह प्रेम दोनों के लिए सामाजिक तौर पर मृत्यु का कारण बनता है—वेलुथा की वास्तविक मृत्यु के रूप में, और अम्मू की सामाजिक व पारिवारिक बहिष्करण के रूप में। इस प्रकार रॉय यह स्पष्ट करती हैं कि जाति केवल सामाजिक श्रेतक मनुष्य को सीमित नहीं करता, बल्कि उसके खिलाफ जाने पर मनुष्य की परिणति दमन और मृत्यु की संरचना में होती है।

वेलुथा के विरुद्ध जो सामाजिक शोषण व हिंसा होती है, वह केवल सामाजिक पूर्वग्रह का परिणाम नहीं है, बल्कि उसमें राजनीतिक सत्ता, न्याय व्यवस्था, और पारिवारिक सत्ता संरचनाएँ भी जिम्मेदार हैं। पुलिस वेलुथा को निर्दोष होते हुए भी पकड़ती है और इतनी बुरी तरह पीटती है कि उसकी मृत्यु हो जाती है। यह वर्णन अरुंधति रॉय के साहित्य में जाति और राज्यसत्ता के परस्पर संबंध को उजागर करता है, जो शोषित व उत्पीड़ित के लिए न्याय के रास्ते बंद कर देता है।

अरुंधति रॉय जातीय अन्याय को केवल तथ्यों के रूप में नहीं, बल्कि भावनाओं के स्तर पर चित्रित करती हैं। उनके लेखन में पाठक केवल वेलुथा की त्रासदी से रूबरू नहीं होता बल्कि उसे अनुभव भी करता है। उपन्यास का सौंदर्यशास्त्र इस अस्मिता विमर्श को और गहरा बना देता है: “It didn't matter that the whole thing was a farce. It didn't matter that he was innocent. He was an Untouchable, and therefore, touchable by anyone, anytime.” यह वाक्य दलित अस्मिता की उस विडंबना को प्रकट करता है जिसमें “अछूत” का अर्थ है—हर प्रकार की हिंसा के लिए सबसे आसानी से दोषी माना जाने वाला।

### **The Ministry of Utmost Happiness में जाति और राजनीतिक पहचान**

यद्यपि The Ministry of Utmost Happiness उपन्यास में जाति उतनी प्रत्यक्ष नहीं है जितनी The God of Small Things में, फिर भी यहाँ जातीय पहचान और हाशिये के वर्ग के स्वर स्पष्ट हैं। कश्मीर संघर्ष, धार्मिक हिंसा, ट्रांसजेंडर अस्मिता के साथ-साथ यहाँ भी भारतीय समाज की वह संरचना दिखती है जो जन्म आधारित सामाजिक पदानुक्रम को बनाए रखती है।

तिलोत्मा, जो वंचित समुदायों और विद्रोही मानसिकता के साथ जुड़ी हुई है, अपने संबंधों, चुनावों और प्रेम में जातिगत सीमाओं को भी लांघती है। यद्यपि इस उपन्यास को सीधे तौर पर जाति पर ध्यान केंद्रित नहीं किया गया है, फिर भी उसका प्रभाव वर्चस्व की राजनीति के भीतर निहित है। जातीय अस्मिता अरुंधति रॉय के साहित्य में केवल एक सामाजिक आलोचना का मुद्दा नहीं है, बल्कि यह मानवीय संवेदना, सामाजिक न्याय, और सत्ता के प्रतिरोध का मूल स्वर बन जाती है। The God of Small Things में वेलुथा का पात्र हमें यह सोचने को बाध्य करता है कि जाति व्यवस्था केवल एक 'सामाजिक संरचना का स्वरूप मात्र नहीं, बल्कि एक शोषण व हिंसा से युक्त विचारधारा है, जो प्रेम, स्वतंत्रता और जीवन तक को निगल जाती है।

## 2. लैंगिक अस्मिता (Gender Identity)

अरुंधति रॉय की नारी पात्र पारंपरिक भूमिकाओं को नकारती हैं। *The God of Small Things* की अम्मू एक ऐसी स्त्री पात्र है जो अपने जीवन के निर्णय स्वयं लेती है। वह तलाकशुदा है, दो बच्चों की मां है और वेलुथा से प्रेम करती है—परिणामस्वरूप वह समाज द्वारा बहिष्कृत होती है।

*The Ministry of Utmost Happiness* की अंजुम एक ट्रांसजेंडर है, जिसे हिजड़ा समुदाय में जगह तो मिलती है पर सुरक्षा नहीं। उसकी लैंगिक अस्मिता उसे समाज से लगातार विलग करती रहती है। यह उपन्यास केवल यौनिक पहचान की बात नहीं करता, बल्कि यह प्रश्न भी उठाता है कि क्या अस्मिता किसी एक आयाम से परिभाषित की जा सकती है?

## 3. धार्मिक अस्मिता (Religious Identity)

*The Ministry of Utmost Happiness* में अंजुम का मुस्लिम होना उसे दोहरे बहिष्कार का शिकार बनाता है। गुजरात दंगों के दौरान उसकी धार्मिक अस्मिता उसे एकदम नग्न कर देती है। यह उपन्यास एक अल्पसंख्यक समुदाय के प्रति फैले भय, घृणा और असुरक्षा को बहुत संवेदनशीलता के साथ दर्शाता है। अंजुम का चरित्र यह दर्शाता है कि एक ही व्यक्ति को एक साथ कई प्रकार की पहचान को अपने अंदर सामान्य पड़ता है—वह मुस्लिम है, हिजड़ा है, महिला है और हाशिए पर खड़ी है।

## 4. राजनीतिक अस्मिता (Political Identity)

अरुंधति रॉय का साहित्य केवल सामाजिक ही नहीं, राजनीतिक चेतना से भी युक्त है। *The Ministry of Utmost Happiness* में मूसा, तिलोत्मा जैसे पात्र कश्मीर आंदोलन, माओवादी संघर्ष, आदिवासी प्रतिरोध से जुड़े हैं। ये पात्र सत्ता और प्रजनता के प्रतिरोध के बीच की दरार को उजागर करते हैं। रॉय यहाँ पर केवल किसी विचारधारा को प्रस्तुत नहीं करतीं, बल्कि अस्मिता और राजनीति के उस मिलंबिन्दु को दिखाती हैं जहाँ व्यक्ति की पहचान विद्रोह में बदल जाती है।

## 5. भाषिक और सांस्कृतिक अस्मिता

रॉय की लेखन शैली में भारतीयता गहराई से रची-बसी है। उनकी अंग्रेजी भाषा में मलयालम, हिंदी, उर्दू और क्षेत्रीय भाषाओं के शब्द घुले-मिले हैं। यह भाषिक सम्मिश्रण एक समावेशी सांस्कृतिक अस्मिता को प्रस्तुत करता है जो भारत की विविधता और बहुलता को प्रस्तुत करती है। अरुंधति रॉय की भाषा 'अंग्रेजी में भारतीय' होने का उदाहरण प्रस्तुत करती है, जो भारतीय अंग्रेजी साहित्य के भीतर अस्मिता की एक अन्य परत खोलती है।

## हाशिए के समाज की आवाज़

अरुंधति रॉय के पात्र—चाहे वे दलित हों, ट्रांसजेंडर हों, मुस्लिम हों या राजनीतिक विद्रोही—सभी हाशिए पर स्थित हैं। उनका साहित्य इन्हीं उपेक्षित समुदायों को केंद्र में लाकर अस्मिता को एक नए रूप में प्रस्तुत करता है। वे न केवल पीड़ित हैं, बल्कि शोषण के खिलाफ प्रतिरोध भी करते हैं।

अंजुम जब कब्रिस्तान में; जन्नत ख्वाबगाह' बनाती है, तो वह केवलतिरस्कृत लोगों को शरण ही नहीं देती बल्कि एक वैकल्पिक सामाजिक व्यवस्था की नींव भी रखती है। यह स्थान मृतकों का है, लेकिन जीवितों को आश्रय देता है—यह भारतीय लोकतंत्र की विफलता पर व्यंग्य है।

### उत्तर-औपनिवेशिकता और अस्मिता

अरुंधति रॉय का लेखन उत्तर-औपनिवेशिक चिंतन के अंतर्गत आता है। वे औपनिवेशिक व्यवस्थाओं और सत्ता-शब्दावलियों को चुनौती देती हैं। उनके पात्र उस “औपचारिक” इतिहास का हिस्सा नहीं हैं जो सत्ता द्वारा लिखा गया है, बल्कि वे हाशिये पर जीने को विवश इतिहास की जीती-जागती मिसालें हैं। उनके उपन्यासों में जो भारत दिखाई देता है, वह प्रायः सरकारी दस्तावेजों में वर्णित रूपों से भिन्न है—एक ऐसा भारत, जो दलित है, स्त्री है, मुस्लिम है, आदिवासी है—और बार-बार अस्मिता की खोज करता है।

### निष्कर्ष :

अरुंधति रॉय के उपन्यास भारतीय अंग्रेजी साहित्य में अस्मिता विमर्श का सशक्त उदाहरण हैं। उन्होंने न केवल हाशिए के समाज की कहानी बयान की है, बल्कि उनके भीतर की चेतना, संघर्ष और स्वाभिमान को साहित्यिक स्वरूप प्रदान किया है। उनका लेखन हमें यह सोचने के लिए बाध्य करता है कि क्या अस्मिता केवल जन्म से निर्धारित होती है या जीवन के अनुभवों और संघर्षों से निर्मित होती है।

उनके पात्र नायक नहीं होते, किन्तु उनके पत्रों के जीवन अनुभव सामाजिक व्यवस्था की परत खोलते हैं। अस्मिता उनके यहाँ केवल पहचान नहीं, प्रतिरोध भी है। अरुंधति रॉय का साहित्य उस गूंगी और बहरी व्यवस्था के खिलाफ एक प्रबल स्वर है, जो केवल बहुसंख्यकों की पहचान को मान्यता देती है।

### संदर्भ :-

- Loomba, Ania. (1998). *Colonialism/postcolonialism*. London, UK: Routledge.
- Nayar, Pramod K. (2010). *Contemporary literary and cultural theory: From structuralism to ecocriticism*. New Delhi, India: Pearson Longman.
- Omvedt, Gail. (1994). *Dalits and the democratic revolution: Dr. Ambedkar and the Dalit movement in colonial India*. New Delhi, India: Sage Publications.
- Rege, Sharmila. (2006). *Writing caste, writing gender: Reading Dalit women's testimonios*. New Delhi, India: Zubaan.
- Roy, Arundhati. (1997). *The god of small things*. New Delhi, India: India Ink.
- Roy, Arundhati. (2017). *The ministry of utmost happiness*. Gurgaon, India: Penguin Random House.
- Spivak, Gayatri Chakravorty. (1988). *Can the subaltern speak?* In Cary Nelson & Lawrence Grossberg (Eds.), *Marxism and the interpretation of culture* (pp. 271–313). Urbana, IL: University of Illinois Press.
- Tharu, Susie., & Lalita, K. (Eds.). (1991). *Women writing in India: 600 B.C. to the present*. New Delhi, India: Oxford University Press.

## परिवार : शिक्षा का सक्रिय व अनौपचारिक साधन

डॉ. रवेन्द्र राजपूत\*

ravendrarrajput@hotmail.com

### शोध सारांश

परिवार मानव का सबसे प्राचीनतम एक समूह है। प्रत्येक समाज में परिवार का स्वरूप पृथक होता है। परिवार का कार्य बालक का लालन, पालन, पोषण, संस्कृति का ज्ञान कराना है। शिक्षा के सभी औपचारिक साधनों में परिवार का प्रथम स्थान है। परिवार शब्द अंग्रेजी के *Family* (फैमिली) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। फैमिली शब्द की व्युत्पत्ति *Famulus* (फैमुलस) नामक शब्द से मानी जाती है जिसका अर्थ है 'सेवक'। यह परिवार का सरलतम रूप है। परिवार में माता-पिता, पति-पत्नी, बच्चे एवं नौकर को भी मान्यता दी जाती है। भारत में संयुक्त परिवार की भी प्रथा है। अतः "परिवार समाज की एक ऐसी इकाई या आधारभूत सामाजिक समूह है जिसमें पति पत्नी तथा उनके अविवाहित बच्चे व उनके साथ-साथ सम्बन्धी सम्मिलित रहते हैं जो उत्तरदायित्व तथा स्नेह की भावना से बंधे रहते हैं।"

### बीज शब्द-

प्राचीनतम, पृथक, पोषण, संस्कृति, व्युत्पत्ति, मान्यता, संयुक्त, आधारभूत, सम्मिलित, उत्तरदायित्व, स्नेह।

डॉ. मालती सारस्वत के अनुसार - "परिवार समाज की एक महत्वपूर्ण इकाई है। सामाजिक संगठनों में परिवार सबसे प्राचीन और प्रमुख संगठन है।"

क्लेयर ने कहा है - "परिवार से हम सम्बन्धों की वह व्यवस्था समझते हैं जो माता पिता और उनकी सन्तानों के बीच में पाई जाती हैं।"

**अतीत में परिवार के कार्य** - अतीत में परिवार का कार्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का ज्ञान प्राप्त कराना था।

धर्म - शिक्षा, संस्कार, संस्कृति की रक्षा करना।

अर्थ - धनार्जन, व्यापार या उद्योग व्यवसायी करण।

काम - प्रेम भावना, विवाह सन्तान आदि।

मोक्ष - धर्म अर्थ काम के साथ पूर्ण आनन्द जीवन का पूर्ण सुख ही मोक्ष है तथा इस परम सुख को त्याग में आनन्द पूर्वक बदलना ही मोक्ष माना जाता था।

**वर्तमान में परिवार के कार्य** - वर्तमान समय भौतिकवाद का है, समाज धर्म को छोड़कर सीधे काम में लिप्त है। परिवार के सदस्य इतने व्यस्त हैं कि वे बच्चे के किसी भी उत्तरदायित्व को स्वीकार करने के लिए तैयार ही नहीं है। वस्तुतः परिवार का कार्य बालक को हर तरह से सभी सुविधायें देने से है।

\* एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षक-शिक्षा विभाग, श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़

## बालक की शिक्षा में परिवार का महत्व (Importance of Family in the Education of the Child):-

(a) परिवार बालक की प्रथम पाठशाला है (Family is the first school of the child)- डॉ. राम शकल पाण्डेय कहते हैं - “परिवार बालक का सबसे पहला विद्यालय है, परिवार को सामाजिक संस्था, व्यक्तित्व की आधार शिला एवं प्रथम विद्यालय के रूप में मान्यता प्राप्त है।”

लॉरी ने लिखा है - “शैक्षिक इतिहास के सभी स्तरों पर परिवार, बालक की शिक्षा का प्रमुख साधन है।”

प्राचीन भारतीय मत - “प्राचीन परम्परा में माता पिता की अपने परिवार की व्यावसायिकी शिक्षा के साथ वेद, साहित्य, धर्म, न्याय, तर्क, वाणिज्य व्यवसाय आदि की शिक्षा देते थे।”

स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में - “घर बालक की शिक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व वहन करते हुए उसे पूर्ण जीवन के लिए तैयार करता है।”

व्यक्ति में भावी चरित्र व व्यक्तित्व की नींव शैशवावस्था में ही परिवार में पड़ जाती है। शिवाजी, विवेकानन्द, दयानन्द, सुभाष चन्द्र सभी में महानता का बीजारोपण परिवार में ही हुआ था। बालक में पड़ने वाले अच्छे बुरे गुण परिवार पर ही निर्भर करते हैं।

रेमन्ट ने परिवार के महत्व को इन शब्दों में लिखा है - “दो बालक क्यों न एक ही विद्यालय में पढ़ते हो, एक ही समान शिक्षकों से प्रभावित होते हों एक सा अध्ययन करते हों, फिर भी वे अपने सामान्य ज्ञान, रुचियों, भाषण, व्यवहार एवं नैतिकता में अपने घरों के कारण जहाँ से वे आते हैं पूर्णतया भिन्न होते हैं।” अतः स्पष्ट है कि परिवार ही बालक की प्रथम पाठशाला है।

बोगार्डस ने ठीक ही कहा है- “परिवार प्रथम मानव पाठशाला है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति की अनौपचारिक शिक्षा सामान्य रूप से प्रारम्भ होती है, बालक का बहुत ही महत्वपूर्ण समय परिवार में ही बीतता है।”

अतः घर (परिवार) इस प्रकार का विशेष स्थान है, जहाँ बालक में गुण उत्पन्न होते हैं, सहानुभूति एवं उदारता के गुणों का विकास होता है। बालक घर में ही सत्य असत्य, न्याय - अन्याय, स्वार्थ निस्वार्थ, आलस्य परिश्रम, कर्तव्य अकर्तव्य आदि तत्वों की शिक्षा प्राप्त करता है।”

बालक की शिक्षा में परिवार (घर) के महत्व के सम्बन्ध में शिक्षा शास्त्रियों के विचार-

1. रूसों - “आधुनिक सभ्यता में परिवार ही एक ऐसी संस्था है जो मूल रूप से प्राकृतिक हैं, परिवार ही बालक को सर्वोत्तम शिक्षा दे सकता है।”
2. पेस्टालॉजी - “घर ही शिक्षा का सर्वोत्तम स्थान और बालक का प्रथम विद्यालय है।”
3. हैण्डरसन - “बालक की शिक्षा उसके घर से आरम्भ होती है, जब वह अन्य व्यक्तियों के कार्यों को देखता है, उनका अनुसरण करता है, तब वह अनौपचारिक रूप से शिक्षित किया जाता है।”
4. कमेनियस - “परिवार माँ के घुटनों का विद्यालय है।”
5. रेमन्ट - “घर ही वह स्थान है, जहाँ वे महानगुण उत्पन्न होते हैं जिनकी सामान्य विशेषता महानुभूति है। घर में ही घनिष्ठ प्रेम की भावनाओं का विकास होता है। यहीं पर उदारता और अनुदारता, निःस्वार्थ और स्वार्थ,

न्याय और अन्याय, सत्य और असत्य, परिश्रम और आलस्य में अन्तर सीखता है। यहाँ उसमें इनमें से कुछ भी आदत पहले पड़ती है।”

6. मॉन्टेसरी - “विद्यालय बालकों के बचपन का घर है।”

7. फ्रॉवेल - “मातायें आदर्श अध्यापिकायें हैं और घर द्वारा दी जाने वाली अनौपचारिक शिक्षा सबसे अधिक प्रभावशाली व सामाजिक है।”

8. मैज़नी - “बालक नागरिकता का प्रथम पाठ माता के चुम्बन एवं पिता के संरक्षण के बीच सीखता है।”

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि परिवार बालक के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

### **परिवार के शैक्षिक प्रभाव या शैक्षणिक कार्य (Education influence of educational functions of family)**

बालक पर परिवार (घर) के प्रभावशाली व हानिकारक प्रभाव भी पड़ जाते हैं। माता पिता की नैतिक जिम्मेदारी है कि वे अपने शिशु में अच्छे गुणों का विकास करें जिससे कि वो सुयोग्य नागरिक बन सकें। परिवार के शैक्षिक प्रभाव निम्नवत हैं:-

1. सीखने का प्रथम स्थान:- परिवार को शिशु की प्रथम पाठशाला माना जाता है। शिशु, माता-पिता, चाचा, भाई-बहिन, दादा-दादी से प्रारम्भिक शिक्षा व्यवहार की प्राप्त करता है।

2. नैतिक एवं सामाजिक शिक्षा:- परिवार बालक को नैतिक, चारित्रिक शिक्षा का व्यावहारिक रूप से ज्ञानदेता है तथा बोलने चालने का ढंग व बड़ों से व्यवहार का ज्ञान भी देता है।

3. दूसरों से अनुकूलन - बालक घर में परस्पर एक दूसरे के साथ मिलकर रहता है। इस प्रकार वह भी सामंजस्य बना लेता है।

4. सामाजिक व्यवहार का आधार - बालक परिवार में सामाजिकता के विभिन्न रूपों को देखता है, आपस में मेल-जोल प्रेम व्यवहार को अपने जीवन में ढालने का प्रयास करता है।

5. मूल्यों व आदर्शों का विकास - परिवार में बालक के मूल्यों एवं आदर्शों का विकास होता है। स्नेह, प्रेम, सहानुभूति की भावना, क्षमा, दया परिश्रम आदि गुणों को वह परिवार से ही ग्रहण करता है।

6. आदतों का निर्माण - बालक सत् असत् दोनों प्रकार के गुणों व आदतों को परिवार से अनजाने में सीख लेता है। अतः बड़ों का यह उत्तरदायित्व है कि वे बालकों के समक्ष सद्व्यवहार ही करें।

7. पसन्दों व रुचियों का विकास - परिवार की जो रुचि होगी, बालक की भी वही पसन्दगी होगी। बालक परिवार की पसन्द को ही पसन्द करता है या मानता है।

8. मानसिक व भावात्मक प्रवृत्ति का निर्णय - परिवार का वातावरण बालक में मानसिक एवं भाषात्मक प्रवृत्ति का विकास करता है। डाक्टर के बालक में वातावरण का प्रभाव पड़ता है। उसमें मानसिक एवं भावनात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है।

9. वैयक्तिकता का विकास - डॉ. शालिगराम त्रिपाठी ने लिखा है:- “बालक की वैयक्तिकता का विकास परिवार में होता है। माता पिता एक आदर्श अभिभावक के रूप में अपने बालक को आदर्श एवं श्रेष्ठ वैयक्तिकता का व्यक्ति देखना चाहते हैं।”

10. प्रेम की शिक्षा:- वरमेश्वर त्यागी ने कहा है - “बालक को माता-पिता के अतिरिक्त अन्य लोग भी सौहार्दपूर्ण प्रेम प्रस्तुत करते हैं, इससे बालक में स्वयं ही प्रेम की प्रवृत्ति का विकास होता है। अतः बालक घर, परिवार, समाज, राष्ट्र से प्रेम करने लग जाता है।”

11. निःस्वार्थता की शिक्षा:- डॉ. श्रीमती आशातिवारी लिखती है - “बालक अपने परिवार व समाज में ये देखता है कि किस प्रकार से निस्वार्थ भावना के साथ उसकी चिन्ता की जाती है इसका प्रभाव बालक पर पड़ता है, परिणामतः वह निःस्वार्थता की शिक्षा से शिक्षित हो जाता है।”

12. सहयोग की शिक्षा:- घर परिवार के सदस्य किस तरह आपस में सहयोग करके एक सूत्र में बंधे रहते हैं यह बालक घर की कार्य प्रणाली से जानता है, माँ का गृह कार्य, पिता द्वारा धनार्जन, भाई-बहिनों का घर के काम में हाथ बटाँना, सहयोग करना आदि देखकर बालक में स्वतः ही सहयोग की भावना का विकास होता है।

13. परोपकार की शिक्षा - परिवार या समाज में बालक यह देखता है कि लोग बीमारों, अपाहिजों की सेवा कर रहे हैं तो उसे भी परोपकार करने की शिक्षा मिलती है। और वह यह शरीर परोपकार के लिए ही है की प्रेरणा पाकर सेवाधर्म निभाता है।

14. सहिष्णुता की शिक्षा- प्रत्येक परिवार में क्रोधी, नटखट एवं उग्र स्वभाव के साथ शान्त प्रकृति के लोग होते हैं। शान्त स्वभाव सहिष्णुता का प्रतीक है, बालक सहिष्णुता की शिक्षा यही से प्राप्त करता है।

15. आज्ञापालन व अनुशासन की शिक्षा - परिवार की बागडोर एक ही सदस्य के पास प्रधान रूप से होती है। घर के सभी सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करने के साथ अनुशासन भी मानते हैं। बालक इन्हीं से आज्ञा पालन व अनुशासन की शिक्षा ग्रहण करता है।

16. कर्तव्य पालन की शिक्षा - डॉ. भास्कर मिश्र कहते हैं - “घर में माता-पिता, भाई-बहिन एवं अन्य सभी सदस्य अपना-अपना कर्तव्य पालन करते हैं, उनकी इस प्रवृत्ति को देखकर बालक अनायास ही कर्तव्य पालन की शिक्षा या लेता है।”

17. व्यावहारिक शिक्षा- डॉ. श्रीधर वशिष्ठ के अनुसार - “परिवार में विभिन्न आयु वर्ग, जाति, धर्म, अतिथि, रिश्तेदार आदि कई तरह के सामाजिक लोग आते हैं, उनके साथ व्यवहार की प्रक्रिया को देखकर बालक व्यावहारिक रूप देकर व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करता है।”

**परिवार को शिक्षा का प्रभावशाली साधन बनाने के उपाय (Measures to make the family an effective Agency of Education)-** परिवार या घर को शिक्षा का महत्त्वपूर्ण साधन बनाने के लिए निम्नवत उपाय अपनाने चाहिए-

1. पैतृक प्रभाव - बालक पर वंश परम्परा का प्रभाव पड़ता है। यदि घर में अधिक शिक्षित लोग नहीं है तो इसको भी प्रभावशाली साधन बनाने के लिए परिवार के लोगों को शिक्षित करना आवश्यक होगा। परिवार के लोगों का प्रशिक्षण इस आधार पर दिया जा सकता है-

- i. पैतृकता के नियम
- ii. संतति विग्रह के साधन
- iii. पैतृक रोगों को रोकने की विधियाँ
- iv. प्रेम एवं जनन का महत्व

- v. बालक के विकास, स्वास्थ्य, रुचियों, अवधारणाओं आदि की शिक्षा
- vi. घरेलू मामलों की देखभाल
- vii. पारिवारिक विवादों के कारण
- viii. सहयोगी लोकतांत्रिक आदर्श

2. भौतिक वातावरण सम्बन्धी प्रभाव- बालक जिस भौतिक वातावरण में रह रहा है इसका प्रभाव बालक की शिक्षा पर पड़ता है। भौतिक वातावरण में व्यवस्थित, सुसज्जित सुसंगठित करके उसके मानसिक विकास के लिए उचित वातावरण तैयार किया जा सकता है।

3. सामाजिक वातावरण सम्बन्धी प्रभाव- पं. श्रीदत्त त्रिपाठी ने लिखा है - “बालक पर सामाजिक वातावरण का प्रभाव पड़ता है। बालक मानवीय शिक्षा के लिए समाज पर आश्रित रहता है। बालक पर घर (परिवार) की परिस्थितियाँ प्रभाव डालती है। ग्रामीण अंचलों की अपेक्षा नगर के बालकों को सामाजिक वातावरण के अवसर अधिक प्राप्त होते हैं। बालकों को स्वस्थ एवं आदर्श सामाजिक वातावरण से प्रभावित करना चाहिए।

4. मानसिक वातावरण सम्बन्धी प्रभाव- पं. श्री दत्त त्रिपाठी कहते हैं - “समाज व परिवार में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं समाचार पत्रों, लघु पुस्तकालय एवं वाचनालय की व्यवस्था करके बालक का मानसिक प्रभाव विकसित करना चाहिए। क्योंकि पुस्तकें मानव का मानसिक आहार हैं।”

5. सौन्दर्य वातावरण सम्बन्धी प्रभाव- प्रकृति ही सुन्दरता की उपासक है, बालक घर परिवार को एक सुन्दर स्वरूप में देखना पसन्द करता है। वास्तविकता तो यह है कि यदि आप ये इच्छा प्रस्तुत करें कि बालक सौन्दर्यात्मक पदार्थों की प्रशंसा करें तो उसको सुन्दर वस्तुओं से युक्त करना चाहिए। प्लेटो का कथन है- “यदि आप चाहते हैं कि बालक सुन्दर वस्तुओं की प्रशंसा और निर्माण करें तो इसके चारों ओर सुन्दर वस्तुएं प्रस्तुत कीजिये।”

#### **परिवार (घर) की शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Family Education) -**

1. शारीरिक विकास
2. मानसिक विकास
3. भावात्मक विकास
4. धार्मिक विकास
5. सांस्कृतिक एवं नैतिक विकास
6. व्यावसायिक विकास

#### **परिवार या गृह शिक्षा के सिद्धान्त (Principles of Home & Family Education)**

1. शारीरिक विकास का सिद्धान्त - बालक को समुचित आहार, व्यवहार, सन्तुलित भोजन, स्वच्छ एवं परिष्कृत वातावरण, शारीरिक विकास में सहयोग देते हैं।
2. मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त - बालक के विकास के लिए उसका मनोवैज्ञानिक महत्व है। बालक की रुचि, आदत, प्रवृत्ति बुद्धि एवं मानसिकता का ज्ञान अनिवार्य है।
3. क्रियाशीलता का सिद्धान्त - बालक स्वतः ही कुछ करना चाहता है। अतः उसे रचनात्मक कार्यों के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।
4. स्वतन्त्रता का सिद्धान्त - बालक के विकास के लिए स्वतन्त्र वातावरण आवश्यक है। बालकों को रुचि के अनुसार अध्ययनोमुख करना चाहिए।

5. बाल केन्द्रित शिक्षा का सिद्धान्त - शिक्षा बाल केन्द्रित व बालक की योग्यता, शक्ति एवं रुचि के अनुसार होनी चाहिए।
6. क्रीड़ा द्वारा शिक्षा सिद्धान्त - क्रीड़ा बालक की सामान्य प्रवृत्ति है। घर या परिवार में क्रीड़ा के माध्यम से शिक्षा दी जानी चाहिए। इससे शारीरिक, मानसिक विकास के साथ ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों भी विकास होता है।
7. सहानुभूति तथा निष्पक्ष व्यवहार का सिद्धान्त - डॉ. डी. पी. जोशी लिखते हैं - “बालक के साथ माता-पिता या परिवार के सदस्यों को सहानुभूति पूर्वक निष्पक्ष व्यवहार करना चाहिए किसी भी प्रकार का पक्षपात बालक में दोष पैदा कर सकता है।
8. अच्छी आदतों का निर्माण - डॉ. के. एल. जोशी ने लिखा है - “बालक के कार्यों में अच्छी आदतों का समावेश हो, व्यावहारिक जीवन में महत्व देना पड़ता है।

#### परिवार या गृह शिक्षा की विधियाँ (Methods of Home and Family Education):-

- |                         |                            |                          |
|-------------------------|----------------------------|--------------------------|
| 1. क्रीड़ा विधि         | 2. इन्द्रिय प्रशिक्षण विधि | 3. भाषा या भाषान्तर विधि |
| 4. संगीत एवं अभिनय विधि | 5. कथा विधि                | 6. करके सीखने की विधि    |
| 7. अभ्यास विधि          | 8. साहचर्य विधि            | 9. समवाय विधि            |
| 10. निर्देशन विधि       | 11. उत्तरदायित्व विधि      | 12. मनोवैज्ञानिक विधि    |
| 13. व्याख्यान विधि      | 14. संकेत विधि             |                          |

बालक घर या परिवार में साथ-साथ रहकर परिवारक संस्कृति, सभ्यता, आदर्श, परम्परा का प्रतीक बन जाता है। यही सम्पत्ति अपने भविष्य के वंशजों को अधिकार रूप में समर्पित कर देता है। अतः परिवार का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह पारिवारिक आदर्शों, मान्यताओं, परम्पराओं का आदर करें।

#### संदर्भ :-

1. पाठक, पी. डी. (2021). शिक्षा मनोविज्ञान. अग्रवाल पब्लिकेशंस.
2. लाल, रमन बिहारी (2009). शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त. मेरठ : रस्तोगी पब्लिकेशन.
3. सक्सेना, एन. आर. स्वरूप (2006). शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त. आर. लाल बुक डिपो
4. टण्डन, उमा एवं गुप्ता, अरूणा (2012). उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक. लखनऊ/इलाहाबाद : आलोक प्रकाशन.
5. पचौरी (पचैरी), आशुतोष (2011). शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त. दिल्ली : नवलोक प्रकाशन.

## हिंदी रंगमंच को शंकरशेष का योगदान

डॉ. शामली एम एम\*

shamlisyed@gmail.com

### सारांश

साहित्य, समाज का दर्पण होने से इसमें जीवन के शाश्वत मूल्य एवं युगीन सामाजिक तत्व भी प्रतिबिम्बित रहा करते हैं। साहित्यकार समाज के नए विचार एवं भावों को एकत्रित करके सजा-संवारकर नए परिवेश में ढालकर साहित्य के रूप में उसे वापस समाज को ही अर्पित करता है। प्रत्येक युग की अपनी-अपनी समस्याएँ और विशेषताएँ होती हैं। युग का सच्चा साहित्यकार वही है जो अतीत और वर्तमान के शाश्वत मानवीय मूल्यों के साथ निरपक्ष भावना से जुड़ा रह करके भविष्य रूपी खेत में मानवीय विकासशील मूल्यों के बीज बोने का प्रयत्न किया करता है। किसी नाटककार की युगबोधी विचारधारा को परखने के लिए उनकी रचनाओं का अध्ययन करना अनिवार्य है, क्योंकि युगीन परिस्थितियाँ व्यक्ति से परिहार्य रूप से सम्बद्ध होती हैं।

मुख्य शब्द : हिंदी, रंगमंच, शंकरशेष, नाटक

### डॉ. शंकरशेष के नाटक तथा उनका युगबोध

स्वातन्त्र्योत्तर युग, परिवर्तन का युग था और इन परिवर्तनों से भारतीय जन मानस भी आलोडित हो गया। तत्कालीन दिशाहीन राजनीति, भ्रष्टाचार, आर्थिक विषमता, पारिवारिक सम्बन्धों में बढ़ता हुआ तनाव, नैतिक अपराध-बोध आदि ने समाज को घेर रखा था। इन समस्याओं से डॉ. शंकरशेष भी प्रभावित हुए। विषय की नवीनता शेष जी की एक विशेषता है। समाज में सभ्यता का पर्दा ओढ़कर जीने वालों को बेनाकाब करके दिखाना शेष जी ने अपना लक्ष्य माना था। 'फन्दी' में उन्होंने इस प्रकार की समस्या को आवाज दी है। इसमें मानवीय मूल्यों की प्रचलित एवं स्वीकृत अवधारणाओं के कारण उत्पन्न होने वाले जीवन-संकट के प्रश्नों से जूझने की एक प्रभावशाली 'चेष्टा मिलती है।' 'फन्दी' नाटक न्याय की प्रचलित मान्यताओं को झकझोरते हुए एक मार्मिक प्रश्न को सामने रखता है कि कोई व्यक्ति अपने प्यारे कत्ते की पीड़ा और छटपयहट को मियाने लिए उसे जहर या गोली मारकर सुला देता है। यदि च करुणा का अधिकारी हो सकता डेतो मनुष्य क्यों नहीं? भारत की कानून-व्यवस्था, अन्य देशों की गवस्था से एकदम भिन्न है। आज भी हमारे कानन ने 'Mercy Killing' को स्वीकार नहीं न किया, जबकि अमरीका, इंग्लेण्ड जैसे विकसित राज्यों ने इसको स्वीकारा है। मानवीय दृष्टिकोण से अगर देखें तो फन्दी द्वारा की गई हत्या एक व्यक्ति की पीड़ा से मुक्ति है और न्याय-व्यवस्था के विधान के अनसार देखेंतो यह हत्या-सर्फ हत्या है। ऐसी अवस्था में पाठकों एवं दर्शकों के दिल मेंदो सवाल पैदा होते हैं- क्या मनुष्य कानून के हाथों की कठपुतली है? और मनुष्य क्या करुणा का अधिकारी नहीं? नाटककार भी इन सवालोंने से मुक्त नहीं है कि, फैसले की बात भी नहीं करता, फैसला वह उन सभी दर्शकों पर छोड़ देता है जो करुणा की मानसिकता का अनुभव करते हैं और जिन्हें मानवीय मूल्यों में आस्था है और जो यह मानते हैं कि मानवीय मूल्य, व्यवस्था के मूल्यों और नियमों ऊपर है।<sup>2</sup> इस प्रकार शंकरशेष ने "मानवीय जीवन से सम्बन्धित एक गम्भीर प्रश्न को समाज के सामने उठाया है।

\* प्रोफेसर हिंदी, राजकीय महिला महाविद्यालय, तिरुवनंतपुरम, केरल

डॉ. शंकरशेष की नाट्य-कला में दिखाई देने वाली विशेषता है, परातन और नूतन विषय का अद्भुत मिलन। उनके नाटकों में अतीत का चित्रण अधिक हुआ है। इस कारण उनमें ऐतिहासिक तत्व की सुरक्षा है, किन्तु फिर भी उनमें आधुनिक युग की समस्याओं का चित्रण सशक्त रूप से हुआ है। नाटक खजुराहो का शिल्पी, तो ऐतिहासिक कथावस्तु को जरूर वहन करता है, लेकिन इसमें नाटककार के लम्बे चिन्तन और मनन की उपज उभरकर आई है। प्राचीन काल से संसार में चित्रण को एक नए ढंग से पेश करने चली आती 'माया और मोक्ष' के संघर्ष का प्रयास है 'खजुराहो का शिल्पी'।<sup>3</sup> प्राचीन काल से लेकर मनुष्य में सकाम और निष्काम प्रवृत्तियाँ एक गतिशील भाव बनकर रहती हैं। 'मोह का क्षण' मनुष्य को कभी पतनोन्मुखी बनाता है तो कभी उर्ध्वमुखी। इन क्षणों का प्रयोग मानव को सोच-समझकर करना पड़ता है, क्योंकि इसी में उसके प्रवृत्ति निवृत्ति का रहस्य छिपा है। इस रहस्य को प्रस्तुत करना नाटककार का लक्ष्य रहा। नाटक 'खजुराहो का शिल्पी' क अलावा नाटककार ने इस 'क्षण के मोह' कारण होने वाले दृष्टिदोषों को विविध दृष्टियों से आँकने का प्रयास 'बिन बाती के दीप', 'बन्धन ने अपने-अपने', 'फन्दी' तथा एक और द्रोणाचार्य नाटकों द्वारा किया है। 'हिन्दी के अनेक श्रेष्ठ आधुनिक नाटककारों की तरह डॉ शंकरशेष भी के लिए बार-बार अतीत की ओर लौटते रहे हैं।'<sup>4</sup>

'नई सभ्यता-नए नमूने, 'खजुराहो का शिल्पी', 'अरे! मायावी सरोवर', 'एक और द्रोणाचार्य: 'रक्तबीज और 'राक्षस के बाद डॉ. शंकरशेष कोमलगांधार "एक बार फिर से इतिहास और पराण का सहारा लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत डॉ. शंकरशेष को अधिक प्रिय रहा। कोमलगांधार में महाभारत कालीन कथा परिदृश्य में पुरुष द्वारा नारी पर होने वाले अत्याचारों और इन सबके विरुद्ध एक नारी की बदले की भावना का चित्रण हुआ है। महाभारत की कथा से तो सब परिचित हैं लेकिन इस कहानी में कुछ ऐसे पात्र हैं, जिनकी ओर अधिक लोगों का ध्यान नहीं जा पाया है। लेकिन डॉ. शंकरशेष ने अपनी युगबोधी दृष्टि से इन्हें ढूँढ निकाला और उन सब को समाज के सामने प्रस्तुत करना शेष जी अपना कर्तव्य मानते थे। नाटक कोमलगांधार में नाटककार ने गाँधारी और उस पर हुए अत्याचारों पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की है। सारे कुरुवंश ने गाँधारी को राजरक्त से जन्मे एक शरीर से ज्यादा कछ नहीं माना था। इन सबके खिलाफ गाँधारी का प्रतिशोध है नाटक कोमलगांधार। इस नाटक के माध्यम से नाटककार ने दिखा दिया कि "स्त्री एक खाली जमीन नहीं है जिसे आसानी से रौंदकर शान्ति से जिया जा सके।"<sup>5</sup> अन्त में कुरुवंश को अपने अन्यायों की कीमत चुकानी पड़ती है। संजय, भीष्म, धृतराष्ट्र, शकुनि, गाँधारी आदि पात्र यद्यपि पौराणिक पात्र हैं, फिर भी आजकल के आधुनिक लोगों से उनकी समानता पाई जाती है। गांधार नरेश, राज्य रक्षा के भय से अपनी पुत्री की शादी हस्तिनापुर जैसे शक्तिशाली राज्य के युवराज से कर देता है यह जानते हुए कि वह अन्धा है। इस शादी को शादी नहीं बल्कि एक समझौता कहना अधिक उचित होगा। आजकल के समाज में भी इस तरह के समझौते होते नजर आते हैं, हाँ, इसका रूप अवश्य बदला हुआ है। पौराणिक समय में राज्य रक्षा का स्थान धन, सम्पत्ति आदि नेले लिया। इनको पाने के लालच में मन्थ्य विवाह जैसे भावात्मक एवं पनीत कार्य को आर्थिक सुरक्षा पाने का रास्ता समझ बैठा है क्योंकि पैसों की पकड़ से आज भी मानव मुक्त नहीं हो पाया है। सृष्टि से लेकर आज तक ऐशो-आराम की जिन्दगी मन्थ्य की एक कमजोरी बन गई है। और इन सब को हासिल करने के लिए कभी-कभी वह ऐसी उड़ान भर लेता है कि उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है। फिर भी वह अपनी अपराध-भावना से मुक्त रहता है क्योंकि उसके पास समाज के आगे प्रस्तुत करने के लिए हजारोंदलीलें विद्यमान हैं। कुछ भी हो, एक बात तो नाटककार ने स्पष्ट कही है-अगर हम पर अन्याय और अत्याचार होता है तो दूसरों पर

अन्याय और अत्याचार करने का हमें नैसर्गिक अधिकार प्राप्त नहीं ही जाता।”<sup>6</sup> आज का नाटककार यह जानने लगा है कि “नाटक या काव्य की परम्परागत धारणाओं की सीमा में रहकर आधुनिक बोध और कथन के वैशिष्ट्य का उदघाटन सम्भव नहीं है”<sup>7</sup> क्योंकि “आज हम सांस्कृतिक संकट और मल्यगत रहकर आधुनिक युगबोध और कथन के वैशिष्ट्य का विघटन के दौर से गुजर रहे हैं।”<sup>8</sup> इससे बचने का एक मात्र उपाय यही रहा गया कि हम पीछे चलकर उन पौराणिक पात्रों की फिर से जाच पडताल करें और उनसे प्राप्त नई चेतना एवं सीख के सहारे जीवन को नई दिशा प्रदान करें। इसके लिए लेखक मिथक की सहायता लेते हैं। इसका कारण यह है कि जो बात हम कहना चाहते हैं उसे सीधी-सच्ची भाषा में कहने के स्थान पर पौराणिक कथाओं से सम्बद्ध करके कहा जाए तो लोग उसे खूब अच्छी तरह समझ लेते हैं। कारण यह है कि पौराणिक कथाओं सामान्य जन को बहुत अधिक प्रभावित कर रखा है। डॉ. शंकर शेष ने भी इससे प्रभावित होकर जिन नाटकों की रचना की है, उनमें सबसे प्रमुख नाटक ‘एक और द्रोणाचार्य नाटककार ने इसकी कथावस्तु महाभारत से ली है पर इसके पात्र द्रोणाचार्य को, एक रूपक के रूप में लेकर आज के मध्यम वर्ग और उसकी वर्तमान स्थिति को चित्रित किया है। वैज्ञानिक प्रगति के सहारे हम चाहे कितने ही दूर चलें जाएँ पर अस्तित्व का संकट व्यक्ति को चक्की के दो पाटों के बीच फंसा होने का अहसास दिलाता रहेगा। अस्तित्व का यह प्रश्न नया नहीं। महाभारत काल से यह परम्परा चली आ रही है। युग बदलते हैं, परिस्थितियाँ बदलती हैं, लेकिन परिस्थितियों का सत्य कभी नहीं बदलता। अपने पुत्र अश्वत्थामा को दूध न पिला सकने की पीड़ा ने द्रोणाचार्य को उत्तेजित किया और परिस्थितियों से ग्रस्त ‘होकर भी उन्होंने संकल्प किया कि मैं अब ऐसी पीढ़ी तैयार करूँगा जो केवल युद्ध की भाषा बोलेगी।’<sup>9</sup> द्रोणाचार्य की यह बदले की भावना आज भी व्यक्ति-व्यक्ति में कायम है। केवल परिस्थितियाँ बदल गई है और बदला लेने की रीति बदल गई है, बाकी सबवही रहा।

मध्यवर्गीय चेतना डॉ. शंकरशेष के नाटकों की एक विशेषता है। ‘घरौंदा’ ‘मूर्तिकार’, नई सभ्यता नए नमूने, एक और द्रोणाचार्य, रक्तबीज आदि अस्तित्व-संकट से घिरे मध्यवर्गीय व्यक्ति के जीवन संघर्ष को उजागर करने वाले नाटक हैं। अस्तित्व-संकट से घिरे इस मध्यवर्ग के व्यक्ति की जिन्दगी हर पल संघर्ष में बीतती है। समाज के हर क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं आर्थिक अस्थिरता उसे अन्दर से जर्जर और खोखला बना देती है। शेष जी नाटक के सभी पात्र युगीन समाज के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं और समाज के विभिन्न कुरीतियों से संघर्षरत रहते हैं। इसमें प्रत्येक व्यक्ति की ‘समस्या इतनी सहज और युगीन बनकर नाटकों में साकार हुई है कि पात्र एवं दर्शकों के बीच का सम्बन्ध सुदृढ़ बन गया है। इतना ही नहीं, उनकी रचनाएँ वर्तमान यांत्रिक युग के मनुष्य के हृदय को समीप से छूने, आकर्षित और प्रभावित करने की अपार शक्ति रखती हैं। जिस प्रकार आधुनिक युग की परिवर्तनशील परिस्थितियों स्थिति की विषमताओं एवं प्रतियोगियों ने हृदय वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में आमूत परिवर्तन किए, उन्ही प्रकार से नाट्यगत मानदण्डों और दृष्टिकोणों में भी अभूतपूर्व क्रान्ति उपस्थित की। डॉ. शंकरशेष ने पुरानी रढ़िगत रूचि, जैसे, अतिशय भावुकता, आदर्शवादिता को छोड़कर यथार्थ की भूमि पर पर्दापण किया, फलस्वरूप कथानक के वर्णविषय में विविधता और नवीनता आने के साथ-साथ शैलियों में भी निखार दृष्टिगोचर होने लगा। अतः डॉ. शंकरशेष के नाटकों के अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी रचनाएँ युगीन चेतनाओं, नवीन प्रवृत्तियों, विचारधाराओं मनोभावों एवं जीवन सिद्धांतों का सफल प्रतिफलन करती हैं।

हिन्दी नाट्य जगत में डॉ. शंकरशेष के आगमन को एक उपलब्धि के रूप में स्वीकारना चाहिए। डॉ. शंकरशेष ने जिस समय हिन्दी नाट्य जगत में पदार्पण किया था तब पथ्य नाटकों का बोलबाला था। वे नाटक

के नाटककार, निर्देशक और अभिनय आदि से मिला हुआ मानते थे क्योंकि उन्होंने रंगमंच को ही अधिक प्राथमिकता दी है। नाटक और रंगमंच के सम्बन्ध में उनके विचार स्पष्ट हैं। अपने नाटकों के निर्देशकों को वे काफी छूट देते थे। वे मानते हैं कि 'नाटक, साहित्य की एक मात्र ऐसी विधा है जिसमें रचना का जन्म दो बार होता है। नाटक का पहला जन्म होता है लेखक के स्तर पर। इसके बाद लेखक गौण जीव हो जाता है। मंचन के साथ नाटक का दूसरा जन्म होता है और तभी नाटक को सम्पूर्णता मिलती है। जन्मदाता का हक है कि वह अपनी सृष्टि को जैसा रूप देना चाहता है, बिना किसी रोक-टोक के।' लेकिन यदि निर्देशक रूपी दिमाग, लेखक रूपी हृदय को कहानी का गला घोटने के लिए कहे तो उसे स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। अपने विवेक को नष्ट करके स्वयं भ्रष्ट होकर लिखना उन्हें मंजूर नहीं था। उनके ही शब्दों में- 'यदि लेखक को लगता है, कि वह भ्रष्ट हो रहा है या अपने विवेक को मारकर कहानी में परिवर्तन कर रहा है तो उसे ऐसा नहीं करना चाहिए... लेकिन मैं अपने बारे में कह सकता हूँ कि भ्रष्ट करके अगर कोई मुझसे कुछ लिखवाना चाहेगा तो मैं स्वीकार नहीं करूँगा।'<sup>10</sup>

डॉ. शंकरशेष का नाम साहित्य जगत पर ही नहीं, फिल्म, आकाशवाणी, दूरदर्शन आदि क्षेत्र में भी आदर के साथ लिया जाता है। रंगमंच, फिल्म, दूरदर्शन, आकाशवाणी आदि माध्यमों के लिए उन्होंने नाटकों की रचना की है। उनके नाटकों, मर्यादा और पोस्टर पर फिल्म बनाना और दूरदर्शन के लिए चेहरा (नाटक), एक प्याला कॉफी (एकांकी), अनजाना घर (एकांकी), और आकाशवाणी के लिए त्रिभुज का चौथा कोण (एकांकी) खुशबु का शिविर (नाटक) लिखा है। नाटक खुशबु का शिविर राष्ट्रीय प्रसारण में भारत में सभी भाषाओं में प्रसारित हुआ था।<sup>11</sup> सन् 1955 से लेकर सन् 1981 तक की अवधि में उन्होंने कथ्य, शिल्प तथा शैली की विविधता तथा प्रयोग-शीलता से आधुनिक नाटकों की एक नई शैली एवं जीवन प्रदान किया। स्वतंत्रता के बाद की छठे, सातवें एवं आठवें दशक के नाट्यविकास के प्रत्यक्ष साक्षी होने के कारण उनके नाटकों में बदलते युग सन्दर्भ को देख सकते हैं।<sup>12</sup>

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाट्य जगत में जो परिवर्तन आए, साठोत्तर युग तक आते-आते इसने क्रान्तिकारी रूप से धारण कर लिया। हिन्दी नाटकों तथा नाट्यविधियों में क्रान्तिकारी बदलाव हुए। यह युग वास्तव में नाट्यक्रान्ति का युग था। आज का युग यान्त्रिक युग है, जिसमें रहने वाले लोग भी यन्त्र जैसा जीवन बिताते हैं।<sup>13</sup> हमारा जीवन इतना जटिल हो गया है कि किसी के लिए भी हमारे पास समय नहीं है, यहाँ तक कि मनोरंजन के लिए भी। ऐसी अवस्था में हमें लम्बे नाटक लिखना तो क्या, देखने के लिए भी फुर्सत नहीं है। ऐसे अवसरों पर एकांकी नाटकों से समय बचाना अधिक उपयोगी हो जाता है। डॉ. शंकरशेष ने एकांकी नाटकों का निर्माण समसामयिक परिप्रेक्ष्य को दृष्टि में रखकर किया है। उनके एकांकी नाटकों की सृजन-शीलता एवं मूल्यवत्ता से हम उनके उद्देश्यों तक पहुँच पाते हैं। सामाजिक जीवन के महत्वपूर्ण पहलुओं को आधार बनाकर उन्होंने एकांकी नाटकों का सृजन किया है। इस कारण दर्शकों, पाठकों पर गहरी छाप छोड़ देने में वे सक्षम हुए हैं। उन्होंने केवल सात ही एकांकी लिखे हैं, पर कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से वे अतिदीर्घ रहे हैं। श्रेष्ठ ने बच्चों को ध्यान में रखकर बालनाटक भी लिखे हैं। बच्चों की मानसिक जिज्ञासा को पूर करना, उनके अभिनय कुशल बनाना, उनकी प्रतिभा का विकास करना और सफल कलाकार बनाने की प्रेरणा देने में बाल-साहित्य का बहुत बड़ा महत्व है। श्रेष्ठ जी ने 'दर्द का इलाज' और 'मिठाई की चोरी' नामक दो बाल-नाटक लिखे हैं। इन दोनों बाल नाटकों की सफलता से मंचन भी हुआ है। मनोरंजन के साथ-साथ ये अच्छे सीख भी देते हैं। इनमें बच्चों को नजदीक से समझने का अवसर मिला है और उनके परिवेशात्मक तथा सामाजिक

परिस्थितियों का वर्णन कर के बालनाटकों और बाल-मनोविज्ञान के स्पर्श में वास्तविकता को अधिक जोर दिया गया है।<sup>14</sup> अतः ये नाटक अत्यन्त रोचक एवं प्रेरक सिद्ध हुए हैं। इस दृष्टि से देखने पर यह विदित हो जाता है कि उनके बाल-नाटक बच्चों में नाटक के प्रति सजीव रुचि जागृत करने में सक्षम हैं। अतः बाल-नाट्य क्षेत्र में शंकरशेष जी का योगदान साराहनीय है।

श्रेष्ठ जी ने उपन्यास के क्षेत्र में भी अपनी कलम चलायी है। कुल मिलाकर उन्होंने चार उपन्यास लिखे हैं। उनमें एक नाटक 'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र' जो भीम की आकांक्षा है अपूर्ण है। इस प्रकार 'मुख्य विधाओं को छोड़कर डॉ. शंकरशेष ने बाल-नाटक, एकांकी, प्रयोगवाद, अनुसंधानात्मक प्रबन्ध आदि विभिन्न क्षेत्रों में अपने हस्ताक्षर किए हैं। वे एक साहित्यकार मात्र नहीं पद्यपन्थी थे।<sup>15</sup> सीमित उद्देश्य से न लिखकर व्यापक उद्देश्य की प्राप्ति के उद्देश्य से ही उन्होंने अपनी लेखनी का सृजन किया है। इस प्रकार यदि कहें, कि उन्होंने हिन्दी साहित्य को उसकी परम्पराओं के रंग में रंगने के बजाय उसमें नूतन रंग भरे हैं तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

### संदर्भ :-

1. राय, नरनारायण. (1979). *आधुनिक हिन्दी नाटक: एक यात्रा दशक*. नई दिल्ली: राजपाल एंड संस. पृ. 72.
2. राय, नरनारायण. (1979). *आधुनिक हिन्दी नाटक: एक यात्रा दशक*. नई दिल्ली: राजपाल एंड संस. पृ. 72.
3. तनेजा, जयदेव. (1994). *नई रंग चेतना और हिन्दी नाटककार*. नई दिल्ली: तक्षशिला प्रकाशन. पृ. 141.
4. तनेजा, जयदेव. (1994). *नई रंग चेतना और हिन्दी नाटककार*. नई दिल्ली: तक्षशिला प्रकाशन. पृ. 142.
5. शेष, शंकर. (1979). *कोमलगांधार*. नई दिल्ली: राजपाल एंड संस. पृ. 27.
6. शेष, शंकर. (1979). *कोमलगांधार*. नई दिल्ली: राजपाल एंड संस. पृ. 81.
7. विनय. (1981). *समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच*. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन. पृ. 166.
8. विनय. (1981). *समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच*. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन. पृ. 166.
9. शेष, शंकर. (1977). *एक और द्रोणाचार्य*. नई दिल्ली: राजपाल एंड संस. पृ. 46.
10. जाधव, प्रकाश. (1990). *रंगधर्मी नाटककार शंकरशेष*. कानपुर: प्रभात प्रकाशन. पृ. 1.
11. सारिका (अंक-301). (तारीख अज्ञात). नई दिल्ली: दिल्ली प्रेस. पृ. 11.
12. सारिका (अंक-301). (तारीख अज्ञात). नई दिल्ली: दिल्ली प्रेस, अनु. 27.
13. गौतम, सुरेश, & गौतम, वीणा. *राजपथ से जनपथ: नेटशिल्पी शंकरशेष*. नई दिल्ली: साहित्य अकादेमी. पृ. 204.
14. लवटे, सुनीलकुमार. (1983). *नाटककार शंकरशेष*. नई दिल्ली: किताबघर. पृ. 15.
15. लवटे, सुनीलकुमार. (1983). *नाटककार शंकरशेष*. नई दिल्ली: किताबघर प्रकाशन. पृ. 89.

## जनजातीय समाज के शैक्षिक विकास में सामाजिक समर्थन की भूमिका एवं चुनौतियां : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

Rukmini Singh\*

Anup Kumar Singh†

Dr. Ratnartuh Mishra‡

rukminisingh2794@gmail.com

anup.lyf4u@gmail.com

ratnartuh@gmail.com

**सार :-**

अनुसूचित जनजातियाँ (एसटी) मैदानों और जंगलों से लेकर पहाड़ियों और दुर्गम क्षेत्रों तक, विभिन्न पारिस्थितिक और भू-जलवायु परिस्थितियों में रहती हैं। जनजातियों की जीवन शैली विविध है और उनके अपने विशिष्ट पारंपरिक स्वरूप हैं। मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार और उड़ीसा में सबसे अधिक जनजातीय समुदाय रहते हैं (गोंड, धुरिया, नायक, थारू, शरिया, बैगा, पनिका, अगरिया, भोटिया आदि)। जनजातियों की समस्याएँ मुख्यतः वन अधिकार, भूमि हस्तांतरण, साहूकारों द्वारा शोषण, खनन, निरक्षरता और जनजातीय क्षेत्रों में विस्थापन से संबंधित हैं। जनजातीय समुदायों को विभिन्न शैक्षिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। यह शोध पत्र जनजातीय समाज के शैक्षिक विकास में सामाजिक समर्थन की भूमिका एवं उनकी चुनौतियों का एक विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। साथ ही, इसमें जनजातीय समुदायों की शिक्षा की स्थिति, शैक्षिक बाधा के रूप में भूमिका निभाने वाले अनेक मुद्दों और चुनौतियों को उजागर करने का प्रयास किया। यह अध्ययन पूर्णतः भारत की जनगणना के द्वितीयक आंकड़ों, सरकारी और गैर-सरकारी संगठनों की रिपोर्टों पर निर्भर है।

**मुख्य शब्द :-** जनजातीय समाज, शैक्षिक विकास, साक्षरता दर, सामाजिक समर्थन, भारत।

**परिचय :-**

‘आदिवासी’ शब्द ‘आदि’ से आया है, जिसका अर्थ है ‘प्रारंभिक समय से’, और ‘वासी’, जिसका अर्थ है ‘निवासी’, इस शब्द का शाब्दिक अर्थ है ‘स्वदेशी लोग’ या ‘मूल निवासी’। भारत में प्रमुख जनजातीय समूहों में गोंड, संथाल, कोंडाडोरस, कोंडाकापस, टोटोस, पहाड़िया, खासी, नागा, गारो, मुंडा, ओरांव, खरिया,

---

\* Research Scholar, Department of Education, C.S.J.M. University, Kanpur

† Research Scholar, Department of Education, C.S.J.M. University, Kanpur

‡ Corresponding author & Assistant Professor, Department of Education, C.S.J.M. University, Kanpur

होस, अंगामी, भील, कोल, चेंचू और भूटिया शामिल हैं। 2011 की सबसे बड़ी जनजाति, इन सभी जगहों पर, भील आदिवासियों का समूह, भारत की सबसे बड़ी जनजाति है। इस देश की कुल जनसंख्या जनजातीय जनसंख्या लगभग 38% है। अनुसूचित जनजातियाँ वे समुदाय हैं जो जाति व्यवस्था से बाहर हैं जो पहाड़ियों, जंगलों, तटीय और रेगिस्तानी इलाकों और यहाँ तक कि द्वीपों पर भी रहती हैं। इनकी अपनी संस्कृति, राजनीतिक व्यवस्था और सामाजिक संगठन है जो उनको सामान्य समुदाय से अलग रखता है। अनुसूचित जनजातियों के रूप में अधिसूचित समुदायों को संविधान के अनुच्छेद 342 के खंड 1 में शामिल किया गया है। किसी समुदाय को अनुसूचित जनजाति के रूप में निर्दिष्ट करने के मानदंड आदिम लक्षणों, विशिष्ट संस्कृति, भौगोलिक स्थिति, व्यापक समुदाय से संपर्क में संकोच और पिछड़ेपन के संकेत हैं। संविधान (अनुसूचित जनजाति) आदेश, 1950 में 28 भारतीय राज्यों और आठ केंद्र शासित प्रदेशों में 75 विशेष कमजोर जनजातीय समूहों (पीवीटीजी) सहित 705 को सूचीबद्ध किया गया है (स्रोत: भारत का संविधान, भारत सरकार)। एसटी को 30 राज्यों और के. शा. प्र. में अधिसूचित किया गया है। (स्रोत: वार्षिक रिपोर्ट 2023-24, जनजातीय कार्य मंत्रालय)। देश में लगभग 104 (10.42 करोड़) मिलियन लोगों को एसटी के सदस्यों के रूप में गिना गया है जो भारतीय आबादी 8.6 प्रतिशत है। सर्वाधिक एसटी जनसंख्या मध्य प्रदेश (1,53,16,784) में पाई जाती है जबकि जनसंख्या प्रतिशत के आधार केंद्र शासित प्रदेश लक्षद्वीप सर्वोच्च (94.8 प्रतिशत) स्थान रखता है। भारतीय संविधान में मूल रूप से 212 जनजातियों को शामिल किया गया था जबकि वर्तमान में इसकी सूची में 550 जनजातियां शामिल है। (जनगणना 2011, भारत सरकार)। एसटी की कुल जनसंख्या 2001 में 8,43,26,240 (8.2%) थी जिसमें ग्रामीण 7,73,38,597(10.4%) और शहरी 69,87,643 (2.4%) थी जो 2011 में बढ़कर क्रमशः 10, 42,81, 034 (8.6%), ग्रामीण 9, 38, 19, 162 (11.3%) और शहरी 1,04,61,872 (2.8%) हो गई। जनगणना 2001-2011 के बीच की कुल वृद्धि दर 23.7 प्रतिशत हुई जिसमें ग्रामीण वृद्धि दर 21.3 प्रतिशत और शहरी वृद्धि दर 49.7 प्रतिशत है (2011 के लिए प्राथमिक जनगणना सारांश, महापंजीयक एवं जनगणना आयुक्त कार्यालय, भारत)।

भारत में जनजाति समुदाय के विकास हेतु शिक्षा एक प्रमुख केंद्र बिंदु है। अशिक्षा के कारण आदिवासी लोग सरकार द्वारा चलाए जा रहे विभिन्न प्रकार के शैक्षिक एवं आर्थिक अवसरों का लाभ नहीं उठा पा रहे। सामाजिक समर्थन न मिलने की वजह से एसटी समुदाय का तथाकथित मुख्यधारायी समाज से अगल होना एक महत्वपूर्ण समस्या है। एसटी लोग समाज में सामान्य लोगों से कई मामलों में अलग-थलग हैं जिससे उनको समाज का समर्थन नहीं मिल पा रहा है और इनका शैक्षिक विकास बाधित हो रहा है। शिक्षा के द्वारा आत्म-पहचान का ज्ञान, समाज के जनजातीय वर्गों में शोषण और अभाव से जुड़ी अपनी समस्याओं को जानने और उन पर विजय पाने हेतु आत्मविश्वास, साहस और क्षमता की भावना का संचार होगा ताकि वे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षिक अवसरों का लाभ उठा सकें। इनका सोचना है कि शिक्षा उनके लड़कों को विद्रोही और उदंड बनाती है और उन्हें शेष समाज से अलग-थलग कर देती है जबकि लड़कियाँ आधुनिक हो जाती हैं या भटक जाती हैं। इसीलिए कुछ जनजातीय समूह अपने बीच शिक्षा के प्रसार का कड़ा विरोध कर खुद को समाज से बाहर कर रहे हैं। शिक्षा जनजातियों के आर्थिक-सामाजिक विकास तथा इनकी आंतरिक शक्ति हेतु भी एक इनपुट है, जो उन्हें जीवन की नई चुनौतियों का सामना करने में मदद करती है। इस समुदाय के लोगो का संकुचित सामाजिक दायरा भी एक समस्या है क्योंकि ये अपने ही सामाजिक नेटवर्क में रहना चाहते है जो इनकी अलगाव की भावना को बढ़ावा दे रहा है। भारत के पिछड़े समूहों में सामाजिक

समर्थन के सशक्त संकेतक साक्षरता और शैक्षिक उपलब्धि हैं जिससे ये लोग अन्य समुदायों के उचित समन्वय स्थापित करने हेतु जागरूक होंगे।

#### अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व :-

एसटी ऐसा समुदाय है जिन्हें ऐतिहासिक कारण से औपचारिक शिक्षा व्यवस्था से बाहर रखा गया है। सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया से उत्पन्न समाज में भेदभाव ने, जनजातियों में असमानताओं को बढ़ा दिया है। इस समुदाय की सामाजिक असमानता और सांस्कृतिक विविधता, इनके शैक्षिक अवसरों को प्रभावित करती हैं। एसटी की विविधताओं को ध्यान में रखते हुए इनके शैक्षिक विकास में आने वाली चुनौतियों और उनको मिलने वाले सामाजिक समर्थन के अध्ययन की जरूरत है।

#### अध्ययन का उद्देश्य :-

1. जनजातियों के शैक्षिक विकास एवं चुनौतियों का अध्ययन करना।
2. जनजाति समुदाय के विकास में सामाजिक समर्थन की भूमिका का अध्ययन करना।
3. जनजातियों से संबंधित विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रमों तथा जनजातियों द्वारा उनके उपयोग की संभावनाओं का अध्ययन करना।
4. शैक्षिक विकास में सुधार हेतु उपयुक्त उपाय सुझाना।

#### सम्बंधित साहित्य की समीक्षा :-

विद्यार्थी, एल. पी. (1973) ने "भारत में जनजातीय विकास की समस्याएँ और संभावनाएँ" नामक शोध पत्र में जनजातियों की विभिन्न प्रकार की समस्याओं पर प्रकाश डाला जो उनके पिछड़ेपन का कारण हैं। सिंह, जी. और सिंह, बी. (2018) ने "भारत में अनुसूचित जनजातियों की शिक्षा" नामक शोध पत्र में बताया कि भारत में एसटी के पिछड़ेपन का मूल कारण निरक्षरता है। के, ए.के. (2021) ने "भारत में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की समकालीन समस्याएँ" नामक अपने शोध आलेख में कहा कि जनजातियाँ अनेक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षिक समस्याओं का सामना कर रही हैं जो अभी भी अनसुलझी हैं। राव, पी. वी. (2022) ने "अनुसूचित जनजातियों की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों पर एक अध्ययन" नामक शोध पत्र में बताया कि आदिवासियों के शिक्षा स्तर और उनके जीवन में उनकी सामाजिक-आर्थिक अवधारणाओं के बीच एक निश्चित संबंध है। राठौर, एस. एस. (2024) ने "उच्च शिक्षा में अनुसूचित जनजातियाँ: समस्याएँ और परिप्रेक्ष्य" नामक अपने लेख के आधार पर निष्कर्ष निकाला कि शिक्षा मंत्रालय की पहलों ने एसटी छात्रों हेतु उच्च शिक्षा के अवसरों को बेहतर बनाने में कुछ प्रगति की है फिर भी अभी भी बहुत काम किया जाना बाकी है।

#### शोध की कार्यप्रणाली :-

वर्तमान अध्ययन के आँकड़े विभिन्न स्रोतों से एकत्रित किए गए हैं - भारत की जनगणना, 2011 और सांख्यिकी प्रभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, द्वारा प्रकाशित चयनित शैक्षिक सांख्यिकी पर रिपोर्ट, जनजातीय कार्य मंत्रालय की रिपोर्ट, भारत में अनुसूचित जनजातियों का सांख्यिकीय प्रोफाइल 2013, अखिल भारतीय उच्च शिक्षा सर्वेक्षण |

## जनजातीय शिक्षा और साक्षरता दर : -

एसटी हेतु एनपीई, 1986 में निम्नलिखित निर्दिष्ट किए गए हैं -

- जनजातीय क्षेत्रों में प्राथमिक विद्यालय खोलने को प्राथमिकता दी जाएगी।
- अनुसूचित जनजाति के युवाओं को जनजातीय क्षेत्रों में शिक्षण कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा।
- जनजातीय क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर आश्रम विद्यालय/आवासीय विद्यालय स्थापित किये जायेंगे।
- प्रारंभिक स्तर पर आदिवासी भाषा में पाठ्यक्रम विकसित करने और शिक्षण सामग्री तैयार करने की जरूरत है, साथ ही क्षेत्रीय भाषाओं में बदलाव की व्यवस्था भी की जानी चाहिए।
- अनुसूचित जनजातियों के लिए उनकी विशेष आवश्यकताओं और जीवन शैली को ध्यान में रखते हुए प्रोत्साहन योजनाएं तैयार की जाएंगी।

एनपीई, 1986 और कार्य कार्यक्रम (पीओए), 1992 ने जनजातीय क्षेत्रों की विविधता को मान्यता दी, इसके अलावा मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने पर बल दिया। साथ ही जनजातीय भाषाओं में अधिगम सामग्री तैयार करने की आवश्यकता को रेखांकित किया। सर्व शिक्षा अभियान (एसएसए) का राष्ट्रीय कार्यक्रम, जिसका उद्देश्य सार्वभौमिक प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करना है, का जनजातीय बच्चों की शिक्षा पर विशेष ध्यान केंद्रित है। जनजातीय बच्चे एसएसए के तहत विशेष फोकस समूहों (एसएफजी) का एक महत्वपूर्ण घटक हैं जबकि अन्य फोकस समूहों में लड़कियां, एससी कामकाजी बच्चे, शहरी वंचित बच्चे, विशेष जरूरतों वाले बच्चे, गरीबी रेखा से नीचे के बच्चे और पलायन करने वाले बच्चे शामिल हैं। आरटीई अधिनियम, 2009 को प्राथमिक शिक्षा के विस्तार और प्रचार हेतु महत्वपूर्ण कदम माना जा सकता है।

### तालिका 1 : - अनुसूचित जनजातियों और कुल जनसंख्या का तुलनात्मक साक्षरता दर (प्रतिशत में)

वर्ष / श्रेणी	कुल जनसंख्या	साक्षरता दर	अंतराल
1961	28.3	8.53	19.77
1971	34.45	11.30	18.15
1981	43.57	16.35	19.88
1991	52.21	29.60	22.61
2001	64.84	47.10	18.28
2011	72.99	58.96	14.03

(स्रोत: भारत में अनुसूचित जनजातियों का सांख्यिकीय प्रोफाइल 2013)

जनजातियों की साक्षरता दर 1961 में 8.53 प्रतिशत से बढ़कर 2011 में 58.96 प्रतिशत हो गई जबकि कुल जनसंख्या में इसी अनुपात में 1961 में 28.30% से बढ़कर 2011 में 72.99% हो गई। 2001 से 2011 तक अनुसूचित जनजातियों के लिए साक्षरता दर में 11.86% और इसी अवधि के दौरान कुल जनसंख्या में 8.15% की वृद्धि हुई।

AISHE सर्वेक्षण में देखा जा सकता है कि उच्च शिक्षा में सकल नामांकन अनुपात (जीईआर) 18-23 वर्ष आयु हेतु वर्ष 2021-22 में सभी श्रेणी के छात्रों का 28.4 है जबकि अ.ज.जा के छात्रों का जीईआर 21.2 (महिला जीईआर - 20.9) था और अनु. जन. के छात्रों का नामांकन 27.10 लाख था जबकि एसटी महिला नामांकन 13.46 लाख था। (स्रोत : अखिल भारतीय उच्च शिक्षा सर्वेक्षण, 2021 - 22)

**तालिका 2 : - भारत में लिंग और स्कूली शिक्षा के स्तर के अनुसार एसटी वर्ग का सकल नामांकन अनुपात (जीईआर)**

कक्षा	कुल	बालक	बालिका
आधारभूत (पूर्व-प्राथमिक से कक्षा II तक)	44.3	44.6	43.9
प्रारंभिक (कक्षा III से कक्षा V तक)	101.7	101.1	102.3
मिडिल (कक्षा VI से कक्षा VIII)	99.5	97.9	101.1
माध्यमिक (कक्षा IX से XII)	66.9	64.0	69.8

स्रोत: UDISE 2024-25 (नोट : जीईआर की गणना राज्य / केंद्र शासित प्रदेशों द्वारा मान्यता प्राप्त स्कूलों में पूर्व-प्राथमिक नामांकन के आधार पर की जाती है। इसमें आंगनवाड़ी नामांकन और निजी पूर्व-प्राथमिक स्कूलों में नामांकन शामिल नहीं हैं।)

उपर्युक्त विवरण को देखते हुए कह सकते हैं कि एसटी के छात्रों का जीईआर पूर्व-प्राथमिक से कक्षा II तक कम है लेकिन III कक्षा से VIII तक में बढ़ोतरी हुई है परन्तु कक्षा IX से XII तक के जीईआर में गिरावट आई है जो इनकी संतोषजनक नामांकन को नहीं दर्शा रहा है अर्थात् छात्रों द्वारा स्कूल जाने की कम प्रवृत्ति हो रही है जो एसटी की अशिक्षा बढ़ावा को दे रहा है।

**जनजातीय शैक्षिक उत्थान हेतु कार्यक्रम / योजनाएँ :-**

भारत में जनजातीय कार्य मंत्रालय एसटी के उत्थान हेतु निम्नलिखित कार्यक्रम / योजनाएँ चला रहा है। यह सुविधायें एसटी समुदाय तक उनके सामाजिक नेटवर्क के माध्यम से ही पहुंच पाती हैं। अतः इन कार्यक्रमों से प्राप्त सुविधाओं को सामाजिक समर्थन के अंतर्गत रखा जा सकता है -

1. एसटी बालिकाओं एवं बालकों हेतु छात्रावास निर्माण योजना
2. जनजातीय उपयोजना क्षेत्रों में आश्रम विद्यालय की स्थापना की योजना
3. कक्षा IX और X में पढ़ने वाले एसटी छात्रों हेतु प्री-मैट्रिक छात्रवृत्ति।
4. एसटी के छात्रों हेतु पोस्ट-मैट्रिक छात्रवृत्ति
5. जनजातीय क्षेत्रों में व्यावसायिक प्रशिक्षण (राज्य का घटक)
6. कम साक्षरता वाले जिलों में एसटी की लड़कियों के बीच शिक्षा को मजबूत करना
7. एसटी हेतु राजीव गांधी राष्ट्रीय फैलोशिप
8. अनु. जनजाति हेतु राष्ट्रीय विदेशी छात्रवृत्ति योजना
9. अनु. जनजाति के छात्रों हेतु उच्च श्रेणी की शिक्षा
10. अनुसूचित जनजातियों के कल्याण हेतु काम करने वाले स्वैच्छिक संगठनों को अनुदान

11. एसटी के लिए विशेष कोचिंग
12. भारत के संविधान के अनुच्छेद 275(1) के अंतर्गत अनुदान
13. विशेष रूप से कमजोर जनजातीय समूहों (पीवीटीजी) का विकास

### जनजातीय शिक्षा पर सामाजिक समर्थन की भूमिका एवं चुनौतियां :-

जनजातियों के सामाजिक संबंधों पर आधुनिकीकरण का प्रभाव दिखा है। एक परिवार, एक कुल एवं एक जातीय व्यवस्था में रहने की वजह से सामाजिक संबंधों का पारस्परिक आदान-प्रदान, उत्सवों, त्यौहारों के अवसरों पर होता था परन्तु जब कोई जनजातीय परिवार नगरीय एवं अन्य क्षेत्रों में बस जाता है तो उनका उनके परिवार से निरन्तर संबंध एवं मेल-मिलाप कम हो जाता है। इस प्रकार का व्यवहार उनके पारिवारिक, सजातीय संगोत्रीय संबंधों को प्रभावित करता है। जनजातीय समुदाय आज इसलिए असुरक्षित हैं क्योंकि वे मुख्यधारा की अर्थव्यवस्था, समाज, सांस्कृतिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के साथ अपने एकीकरण के परिणामों का सामना करने में असमर्थ हैं, जिनसे ऐतिहासिक रूप से उन्हें सापेक्षिक अलगाव के कारण सुरक्षित रखा गया था। वे कई तरह की चुनौतियों से ग्रस्त हैं जैसे कि सांस्कृतिक अंतर, जागरूकता की कमी, उचित प्रतिनिधित्व का अभाव, भाषाई बाधाएं, विकास परियोजनाएँ और विस्थापन, पहचान की समस्या, संचार की कमी, प्रवास, भौगोलिक पृथक्करण, आर्थिक अक्षमता, सांस्कृतिक अक्षमताएँ, ऋणग्रस्तता, भूमि हस्तांतरण, गरीबी, प्रवास, औद्योगिकीकरण और शहरीकरण, गैर-आदिवासियों का शोषण, सामाजिक विकलांगताएं, शैक्षिक विकलांगता आदि।

निरंतर प्रयासों के बावजूद, जनजातीय समुदाय शिक्षा के क्षेत्र में सामान्य आबादी से पिछड़ रहे हैं। स्कूल प्रणाली, विषयवस्तु, पाठ्यक्रम, शिक्षण माध्यम, शिक्षण पद्धति, शैक्षणिक पर्यवेक्षण, निगरानी और शिक्षक संबंधी समस्याएँ हैं। जनजाति वंचित समूह है इन वंचित वर्गों को अस्तित्व और विकास हेतु कड़ा संघर्ष करना पड़ता है। जनजातीय परिवारों को अपना अस्तित्व बनाए रखने हेतु कड़ा संघर्ष करना पड़ता है। पढ़ाई के साथ-साथ कई आदिवासी बच्चों को अपने घरों और खेतों में काम करना पड़ता है। परिणामस्वरूप कई आदिवासी बच्चे स्कूल छोड़ देते हैं। उनमें से कई शिक्षा, स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय और डिग्री के बारे में जागरूक नहीं हैं जो उनको समाज से अलग कर रहा है।

### सुझाव :-

- एसटी की शिक्षा के विकास संबंधित समस्याएँ के समाधान हेतु सहायक तंत्र बनाने में निवेश की आवश्यकता है जो उनकी औपचारिक शिक्षा प्रणाली में शामिल करने में सहायक हो सके। यदि शिक्षा के बुनियादी स्तर पर अनुसूचित बोली (भाषा) में शिक्षा दी जाती है तो वे शिक्षण को बेहतर तरीके से समझेंगे। अध्ययन सामग्री जनजातियों की स्थानीय भाषाओं में उपलब्ध कराई जानी चाहिए।
- शैक्षिक सामग्री को एसटी समुदाय की संस्कृति के अनुरूप ढाला जाना चाहिए जिससे छात्र अवधारणाओं को बेहतर ढंग से सीखता है।
- शिक्षक, जो जनजातीय समुदाय से हो भी सकते हैं और नहीं भी, जो इन क्षेत्रों में बच्चों को पढ़ाते हैं, को विशेष प्रशिक्षण देना चाहिए। ऐसे शिक्षकों को जनजातीय बच्चों की पारिस्थितिक, सांस्कृतिक,

मनोवैज्ञानिक विशेषताओं पर सावधानीपूर्वक विचार करना चाहिए। इस समुदाय को शिक्षा प्रक्रिया में शामिल करना होगा जिससे एसटी छात्रों को असहज महसूस ना हो।

- शैक्षिक विकास हेतु जागरूकता पैदा करने के लिए उचित जागरूकता अभियान चलाए जाने चाहिए। जनजातीय बहुल जिलों में प्राथमिकता के आधार पर व्यापक साक्षरता अभियान चला कर, जनजातियों को साक्षर बनाने का कार्य करना चाहिए।
- छात्रवृत्तियाँ के रूप में उचित वित्तीय सहयोग दिया जाए जो छात्रों को अध्ययन सामग्री खरीदने में मदद करेगी। जनजातियों में उच्च शिक्षा का प्रतिशत कम है, ऐसे जनजातीय छात्रों, विशेष रूप से चिकित्सा, इंजीनियरिंग और अन्य व्यावसायिक क्षेत्रों में, को विशेष छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जानी चाहिए।
- प्रत्येक राज्य और जिले में अधिक आवासीय विद्यालय स्थापित किए जाने चाहिए तथा जनजातीय क्षेत्रों में स्नातकोत्तर स्तर तक सुविधा प्रदान किया जाना चाहिए।
- उच्च स्तरीय अधिकारियों को शिक्षण पद्धति, कार्य समय और उपस्थिति रजिस्टर से संबंधित स्कूलों की कार्यप्रणाली की नियमित जांच करनी चाहिए।
- एसटी एवं विशेष पिछड़ी जनजाति के विद्यार्थियों हेतु विशेष कोचिंग की व्यवस्था की जाए और दृष्य, श्रव्य सामग्रियों के आधार पर रोचक विधियों से सिखाया जाए।
- यह समुदाय विभिन्न कारणों से ऐतिहासिक शिक्षा व्यवस्था से बाहर रहा है और उनमें आधुनिक समाज से अलगाव की भावना विकसित हो रही हैं इनके विकास हेतु जो भी कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं उनमें इनका एक प्रतिनिधि सम्मिलित किया जाना चाहिए।

### निष्कर्ष :-

हमारे देश में जनजातीय समुदाय के पिछड़ेपन का मूल कारण निरक्षरता है। विभिन्न कार्यक्रमों और योजनाओं के माध्यम से सरकार उनके शैक्षिक स्तर में सुधार के लिए गंभीर प्रयास कर रही है। एसटी में इन योजनाओं के बारे में जागरूकता का निम्न स्तर, उनके आवासों की विशिष्ट प्रकृति, और इन योजनाओं और कार्यक्रमों के कार्यान्वयन में प्रशासनिक अधिकारियों की उदासीनता, इनकी शिक्षा में बाधाएँ हैं। स्थानीय मीडिया और बुद्धिजीवी वर्ग एसटी के बीच जागरूकता पैदा करने हेतु मिलकर काम कर सकते हैं। जनजातियों की शैक्षिक स्थिति में सुधार लाने, बेहतर रोजगार के लिए प्रशिक्षण के साथ बुनियादी और प्रौढ़ शिक्षा के अवसर प्रदान करने के लिए सरकार को पर्याप्त अनुदान उपलब्ध कराना चाहिए। विभिन्न सरकारी हस्तक्षेपों, योजनाकारों, नीति निर्माताओं और गैर-सरकारी संगठनों द्वारा समस्याओं के समाधान करने की तत्काल आवश्यकता है। यह सर्व विदित है कि एसटी की शैक्षिक पृष्ठभूमि शेष जनसंख्या की तुलना में बहुत कम है जो सामाजिक स्थिति में सुधार हेतु बाधक बन रही हैं। एसटी आज भी अस्तित्व और सामाजिक न्याय के लिए कठिन संघर्ष कर रही हैं। एसटी के विकास हेतु नीतियों एवं कार्यक्रमों के प्रभावी क्रियान्वयन हेतु संबंधित विभागों को सशक्त बनाना आवश्यक है। यद्यपि, पिछले तीन विकासात्मक दशकों के दौरान एसटी की साक्षरता दर में पर्याप्त वृद्धि हुई है, फिर भी अनुसूचित जनजातियों और सामान्य आबादी की साक्षरता दर के

बीच का अंतर न केवल कायम है, बल्कि बढ़ता ही जा रहा है। इस अंतर को कम करने की जरूरत है जिसे अन्य समुदाय के समर्थन के द्वारा ही सार्थक रूप दिया जा सकता है। अतः कह सकते हैं कि एसटी समुदाय में जागरूकता फैलाने की जरूरत है जिससे इनका सोशल नेटवर्क बढ़ सके।

**संदर्भ : -**

Census of India. (2011). *Census of India*. <https://censusindia.gov.in/>

Ministry of Education. (2023). *Annual Report 2023-24*. <https://www.education.gov.in/>

Ministry of Education. (2024). *UDISE 2024-25 report*. <https://www.education.gov.in/>

Ministry of Tribal Affairs. (n.d.). *Ministry of Tribal Affairs*. <https://tribal.nic.in/>

National Sample Survey Office (NSSO). (n.d.). *National Sample Survey Office (NSSO)*. <https://mospi.gov.in/national-sample-survey-office-nssso>

National Tribal Research Institute. (n.d.). *National Tribal Research Institute*. <https://tritribal.gov.in/>

कुमार, ए. (2021). भारत में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की समकालीन समस्याएँ। *Anthropology*, 9(7), Article 244. <https://www.longdom.org/open-access-pdfs/contemporary-problems-of-scheduled-castes-and-scheduled-tribes-in-india.pdf>

राठौर.एस.एस. (2024). उच्च शिक्षा में अनुसूचित जनजातियाँ: समस्याएँ और परिप्रेक्ष्य। *अंतर्राष्ट्रीय जर्नल फॉर मल्टीडिसिप्लिनरी रिसर्च*. <https://www.researchgate.net/publication/378341491>

राव, पी. वी. (2022). अनुसूचित जनजातियों की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों पर एक अध्ययन। *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एप्लाइड रिसर्च*, 8(3), 579-582. <https://www.allresearchjournal.com/archives/?year=2022&vol=8&issue=2&part=H&ArticleId=9504>

विद्यार्थी एल.पी. (1973). भारत में जनजातीय विकास की समस्याएँ और संभावनाएँ। *भारतीय मानवविज्ञानी*, 2(2), 80-93.

सिंह, जी. और सिंह, बी. (2018). भारत में अनुसूचित जनजातियों की शिक्षा। *विज्ञान और इंजीनियरिंग में उन्नत अनुसंधान का अंतर्राष्ट्रीय जर्नल*, 7(4), 1753-1760. <https://www.ijarse.com>

## POSSIBILITIES OF CO-EXISTENCE: GENDER JUSTICE AND RELIGIOUS FAMILY LAWS

Dr. Jyoti Bharti<sup>1</sup>

bhartijyoti222@gmail.com

### **Abstract**

*This article explores the intersection of individual equal rights as 'rights of women' 'religious toleration' as rights of minority groups, and the secular accommodating arrangements for both rights through constitutional arrangements. Religious practice of communities as familial personal law, demonstrates that unequal family laws discriminate against women in public and private sphere. Practice of personal laws is like practicing rights of religious freedom and it is generally taken as an identity of a minority group. Within the constitution arrangement secular values are a part of the liberal democratic nature of the state which protects and promotes both rights at the same time. In the context of India and Europe there are distinctive 'doctrines of secularism' for the coexistence of individual rights with religious plurality. Difficulties are raised when women rights have to negotiate with their rights while maintaining religious minority identity against the mainstream majority society. On the other side, religious minorities have to face fear from a common law for both minority and majority communities. The common law is a threat to minority community which may weaken their religious identity via 'neutral arbitrator nature of secular state' in the religious diverse society. Here the comparison is between the secular values of India and United States. In this etiquette, how does the nature of Indian and western 'doctrine of secularism' work to accommodate women's rights and religious rights simultaneously?*

**Keywords:** - Gender Justice, Cultural Rights, customary laws, and Secular Constitutional Arrangement.

### **Introduction**

This article is regarding a conceptual and historical exploration of gender equality and cultural rights. It is an attempt to explore the idea of gender equality and religious autonomy in the state legal structure. In this article the term 'equality' is used in the context of gender and religious diverse groups. These two variables are interrelated. If liberal democratic state tries to give priority to gender equality, then religious group rights are ignored, and if it tries to give priority to religious group rights then women

---

<sup>1</sup> Guest Faculty, Assistant Professor (Political Science)

Shyamlal College (Evening), University of Delhi, Delhi

rights are compromised. In the phenomena of gender and religious equality, one value is decreased if tried to give protection to the other. The two terms 'equality' and 'rights' are derived from the age of Enlightenment.<sup>2</sup> In this article the term equality and rights will be used interchangeably. I will focus on 'equality' between gender and religion. My argument in this article will be basically developed with the idea of contradiction of 'equality' between gender and religious groups. The age of Enlightenment made some significant changes in the field of social science. First, these social changes are accepted, as Enlightenment is universal, all human are equal by nature. Second, Religion and politics should be separated. One's method of worship should be a private affair. Third, secularism was brought in the form of new value of democratic state as the principle of religious toleration.

### **Enlightenment and Individual gendered rights**

Enlightenment of Europe was an age of Reason where rule of empiricism was tried to be applied to present the reasonable truth in natural and social sciences, i.e. the ideas of positivism and post-positivism. European thinkers felt that nothing is beyond the human mind.<sup>3</sup> In the age of Enlightenment individual rights<sup>4</sup> and religious toleration<sup>5</sup> were present as the rights of individual universalism and rights of religious pluralism. Individual rights were as the rights of individual and community rights were as the rights of religious toleration. Both these rights were accommodated in the age of scientific Enlightenment epoch. The age of Reason paved the way for universal gender equality and religious rights. In the Enlightenment age, individual rights were being taken as the rights of men only but it unintentionally became a beginning point in the interest of women to organize themselves into a movement against the patriarchal society. In the liberal value of universal equal rights there should have been given equal rights to both man and women. Patriarchal structure was trying to promote equality among men. Women were protesting against the patriarchal structure. In the beginning of Enlightenment, primary thoughts were being prepared as rights of men as universal

---

<sup>2</sup> Enlightenment - The period during the 1600s and 1700s in which educated Europeans changed their outlook on life by seeing reason as the key to human progress.

<sup>3</sup> Ryan, Anne B. (2006.) *Post - positivist Approaches to Research*. In Researching and Writing your thesis: a guide for postgraduate students. MACE: Maynooth Adult and Community Education, pp. 12-13.

<sup>4</sup> In the age of reason individual rights were distributed, to provide equal rights among the men against the monarchial and feudal system of state.

<sup>5</sup> Origin of religious toleration in the form of community rights had come from the age of Enlightenment.

individual rights. The Enlightenment of equal values with distinctive nature of man's rights has originated by several revolutions in the Europe. The revolutions were known such as English revolution of the seventeenth century, American revolutions of 1776 and French revolution of 1789.<sup>6</sup> In Europe women were struggling against the unequal individual citizenship rights.<sup>7</sup> During the period of Enlightenment most of the thinkers supported the idea of human equality given by nature. They drove traditional idea of sex inequality in their political philosophy. They distinguished the public sphere for male and private sphere for female. Public or political sphere affiliated from Power where only male members of the society could participate in the political process. Rousseau made the distinction clearly between men and women. Natural and hierarchical order in the family predicated on sexual difference which denies women from any direct public role. Women should be trained for their particular role in a manner different from that of men. 'General Will' is an ideal and not necessarily something expressed as the will of the majority. In *Emile* it is made clear that participatory citizenship is to be a specifically male prerogative.<sup>8</sup> In *Social Contract* Rousseau promotes the patriarchal family as the only natural society.<sup>9</sup> In this regard, in opposition to gender inequality, several Western women, such as Madame Geoffrin, Abigail Adams<sup>10</sup>, and Olympe de Gouges, worked to extend ideas of liberty and equality to women. Mary Wollstonecraft, a liberal thinker of the first wave of feminism, countered the ideas of Rousseau. The First book of Mary Wollstonecraft 'A vindication of the rights of women' (1792) was a critique of those who defended the idea of the distribution of the equal rights among the male members of the society. In the Western liberalism there had been accepted individual equality and liberty in the age of Enlightenment. But instead of the values of individual equality and liberty, the gender-based inequalities still existed in liberalism. In this regard Mary Wollstonecraft advocated the fundamental equality in the liberal democratic framework. In her first writing, she indicated towards the situation where women had no legal right to own

---

<sup>6</sup> Roy, Anupama.2005. *Gendered Citizenship Historical and Conceptual explorations*. New Delhi: Orient Longman Private Ltd. P.5.

<sup>7</sup> Ranciere, Jacques (2004) 'Who is the subject of human rights?' *South Atlantic Quarterly* 103 (2/3), p.304.

<sup>8</sup> See Susan Moller Okin, *Women in Western Political Thought* (especially chapters 5-9).

<sup>9</sup> Roy, Anupama.2005. *Gendered Citizenship Historical and Conceptual explorations*. New Delhi: Orient Longman Private Ltd. P.9.

<sup>10</sup> Abigail Adams, wife to John Adams, who was a leader of the American Revolution and later President.

property and had no real right to divorce against husband's misbehavior.<sup>11</sup> In the West, feminist movement's aim was to advocate equal political rights for women against patriarchal system. During the period of Enlightenment feminists demanded right to vote and education for women in public sphere.<sup>12</sup> In the private sphere which was related to unequal family rights, thinkers like Mary Wollstonecraft and John Stuart Mill raised the concerns. Feminists voice was being raised against the notion of 'self' in classical liberalism. Against the idea of Enlightenment, first wave of women's movement was primarily focused on the right to vote individual women's citizenship rights in the public sphere.<sup>13</sup> John Stuart Mill was the only liberal thinker of that time who was the supporter of women rights.<sup>14</sup> In his writing *The Subjection of Women* (1869), he demanded legal reforms in the property rights. Women right should be ensured to continue their share of property after marriage.<sup>15</sup> Mary Wollstonecraft and John Stuart Mill revealed the fact that sexual inequality did not exist only in public sphere but also in the private. The age of science (Enlightenment) men were claiming equal rights against the aristocracy and absolute political power, which was based on the doctrine of the 'divine right of king'. The term aristocracy was a sort of regime in Europe where king had economic land power to rule over people and maintained his high position among lower social classes. It showed land ownership, which was the right related to private sphere, was also playing an important role in order to get high position in the state. That was another cause of dominance of man in the past might be the significant reason to exclude women from the equal family laws as the rights of equal inheritance property rights. It was men's classical liberalism where equal rights of men were demanded. The French Revolution is an example where in 1789 the revolution broke out in France. The National Assembly adopted the Declaration of Rights of Man and Citizen.<sup>16</sup> In the age of scientific Enlightenment sexual inequality

---

<sup>11</sup> Dr. Guaba, O.P. 2010. *Political Ideas and Ideologies*. New Delhi: Macmillan Publishers India Ltd. P.102

<sup>12</sup> Ibid., pp.102-103.

<sup>13</sup> Heywood, Andrew. 2015. (5<sup>th</sup> edition) *Political ideologies an introduction*. New York: Palgrave Macmillan, pp. 237-238.

<sup>14</sup> Antokolskaia V. Masha, (Vol. 4.2 September 2000), *Electronic Journal of comparative Law* "The process of family law in modernization Eastern and Western Europe difference in timing, Resemblance in Substance".

<sup>15</sup> Dr. Guaba, O.P. 2010. *Political Ideas and Ideologies* New Delhi: Macmillan Publishers India Ltd. P.102.

<sup>16</sup> Roy, Anupama.2005. *Gendered Citizenship Historical and Conceptual explorations*. New Delhi: Orient Longman Private Ltd. P.10.

was revealed through the male-dominating writings of political philosophers and declaration of man rights in the constitution.

### **Enlightenment and origin of religious toleration**

The value of religious toleration came in the light of Enlightenment and maintains the group values as the sex-based discriminatory value of religious group. It paved the way for minority groups as religious freedom rights in the democratic liberal constitution. Autonomy of religious group is significant sign of any liberal democratic religiously diverse state. Patriarchal structure within a community makes a parameter of hierarchy, where women are subordinated by male domination. Women have to negotiate with their individual rights if they accept women's rights within their own cultural community. The Enlightenment age was the origin for dual discriminatory nature of liberal states, for female citizens. First, it maintained sex-based discrimination against individual rights of women and second, by preparing the principle of secularism (religious toleration) as a freedom of religious community to maintain their personal laws and sexual hierarchy within a group.

On the other side, Group rights are also important against the majority group assimilation. Religious group rights protect community's identity against the majority rule. In a liberal democratic state 'gender rights' and 'group rights' have a significant room. A critical tension is raised between the feminists as the defender women's rights and multiculturalists as the guardian of religious group rights advocating special protections in the form of religious rights in the secular states.<sup>17</sup>

The notion of modern communitarianism had come against the idea of liberalism. The idea of community rights had come during the period of 1980s to 1990s in the criticism of Rawls's theory of individual rights.<sup>18</sup> The idea of community rights had also come earlier in the scientific epoch. It was based on two clauses, one, the idea of separation between religion and politics, and second, the idea of religious toleration. These both clauses were presented by the constitutional secular doctrine of the United States (a) separation between church and state, (b) right to religious freedom. Frances Rudy argues, the age of earlier intellectual Enlightenment, was a religious communitarian age, after that the religious toleration age was shifted or replaced by the secular value of

---

<sup>17</sup> Okin, Susan, Moller, 1999. Is Multiculturalism Bad for Women? In: Okin, Susan, Moller. Cohen, Joshua. Howard, Matthew, Martha, C. Nussbaum, eds. *Is Multiculturalism Bad for Women?* New York: Princeton University Press, pp.9-10.

<sup>18</sup> Introduction, 2004. In: Colin Farrelly. eds. *Introduction Contemporary Political Theory*. New Delhi: Sage Publication, p.109.

enlightenment.<sup>19</sup> I want to argue against Frances' view; the provisions of 'toleration policy' and 'separation between state and religion' demonstrate that Enlightenment is also an age of secularism with the accommodating nature for religious group. Earlier Enlightenment period was not an accommodating phase for religious diversity, the separation theory of state and religion showed that state had some sort of relation with dominating majority religion. In this regard, the English leaders in America shared with John Locke the traditions of the Magna Carta and the English Bill of Rights. The Bill of Rights presents Locke's ideas on natural rights. Liberal constitution shared the idea of religious freedom of Voltaire. Voltaire was an enlightenment writer. His most famous novel was *Candide*, in which he poked fun at old religious ideas. Voltaire was especially concerned with freedom of thought and expression. He had a strong belief in religious tolerance and free speech. Tolerance means the acceptance of different beliefs and customs.<sup>20</sup> The Scientific age shows that an intellectual movement could not provide equal individual gender rights. Women were struggling with their subordinate condition. Even the age of sexual inequality was constructing communitarian rights. One of the other principles in the scientific age was religious toleration, the beginning mark of religious community rights. It depicts the state permitting religious groups to maintain their religious belief and practices. Implicitly, in this process, in the name of maintaining religious practices state was allowing religious groups to keep women under the domination of patriarchy through their religious practices of personal laws.

Frances Raday argues religious values are affiliated to communitarian norms. She argues that multicultural-communitarian wants to maintain domination over the principle of universalist sexual equality. Within the state, the legal structure should be provided for a strong legal Universalist gender equality over communitarian unequal religious practices.<sup>21</sup>

## **Constitutional arrangements, religious autonomy and Secular Individualism: the U.S. and India**

### **The United States of America**

---

<sup>19</sup> Raday, Frances, Sarah. (2003), "Culture, Religion and Gender". *International Journal of Constitutional Law* 663, Volume1, No. 4, October, p. 663.

<sup>20</sup> Voltaire, the Works of Voltaire, Vol. I (*Candide*) [1759], Online Library of Liberty A collection of scholarly works about individual liberty and free markets.

<sup>21</sup> Raday, Frances, Sarah. (2003), "Culture, Religion and Gender". *International Journal of Constitutional Law* 663, Volume1, No. 4, October, p. 696.

The scientific epoch paved the way for constitutional blueprint for the liberal democratic countries to coexist religious group rights and individual rights in multicultural society. It was primarily the community rights in the scientific age which later gradually developed into religious autonomy in the liberal constitution.<sup>22</sup> In Europe during the scientific age English women were demanding for equal gender citizenship rights. The scientific age was a milestone for the organised struggle of English women for the equal citizenship rights. In West most of the countries accepted constitutional guarantees of individual rights and group rights. In this section I will focus on the U.S. and Indian secular-liberal constitutions. I will evolve my argument with state practices of India and the U.S. in the light of communal or secular judgements given by the courts. In both countries, the secular states acted quite differently in the cases of contradiction of religious beliefs and gender equality.

The *Bill of Rights* of America (1791) and The *Declaration of the Rights of Man* in France Constitution (1789) had developed by the principle of enlightenment religious toleration. In the American Constitution, Bill of Rights, first amendment had introduced religious freedom rights.<sup>23</sup> The first ten amendments in the American constitution are collectively known as the Bill of Rights.<sup>24</sup>

“The U.S. amendment first Freedom of Religion, Press, expressions ratified 12/15/1791. Congress shall make no law respecting an establishment of religion, or prohibiting the free exercise thereof; or abridging the freedom of speech, or of the press; or the right of the people peaceably to assemble, and to petition the Government for a redress of grievances”.<sup>25</sup> Article 10<sup>th</sup> of the Declaration of the Rights of Man and Citizen of 1789 proclaimed that “No one should be disturbed for his opinions, even in religion, provided that their manifestation does not trouble public order as established by law”<sup>26</sup>.

---

<sup>22</sup> Hunt, Lynn. 2011. *THE ENLIGHTENMENT AND THE ORIGINS OF RELIGIOUS TOLERATION*, Felix Meritis, Amsterdam. 25 October 2011 Workshop, Los Angeles, USA: 18 Eeuw Dutch-Belgian Society for Eighteenth-Century Studies.

<sup>23</sup> Ibid, p.9.

<sup>24</sup> Evans, Novit. Betti. 1997. *Interpreting the Constitution the Free and American Exercise Pluralism of Religion*. Chapel Hill and London: The University of North Carolina Press. p.1.

<sup>25</sup> The transcription of the original document of the Bill of Rights can be found at [http://www.archives.gov/exhibits/charters/bill\\_of\\_rights\\_transcript.html](http://www.archives.gov/exhibits/charters/bill_of_rights_transcript.html) consulted 21 July 2011. The Bill of Rights was proposed in 1789 and finally approved in 1791.

<sup>26</sup> The transcription of the original document of the Rights Man of can be found at <http://www.conseil-constitutionnel.fr/conseil/root/bankmm>.

The value of religious toleration had developed as the freedom of religious rights and got the beginning place in the Constitutions of U.S. and France. After the one and half century of Bill of Rights of America, the post-colonial Indian constitution framers were influenced by the U.S. secular values and accepted the secular doctrine with its changing form according to Indian model.

In the Constitution of United States, freedom of Religion depicts two clauses (a) government cannot establish a religion and (b) government cannot prohibit you from practicing religion. Clause first demonstrates American constitutional provision of secularism where the state should not affiliate to any religion. In U.S. constitution secularism as separation between state and church was defined by the Supreme Court. In 1947 the U.S. Supreme Court defined secular value of the state as follows:

Neither a state nor the Federal Government can set up a church. Neither can pass laws which aid one religion, aid all religions, or prefer one religion over another neither can Force nor influence a person to go to or to remain away from church against his will or force him to profess a belief or disbelief in any religion. No person can be punished for Entertaining or professing religious beliefs or disbeliefs, for church attendance or nonattendance. No tax in any amount, large or small, can be levied to support any religious activities or institutions, whatever they may be called, or whatever form they may adopt to teach or practice religion. Neither a state nor the Federal Government can, openly or secretly, participate in the affairs of any religious organizations or groups and *vice versa*. In the words of Jefferson, the clause against establishment of religion by law was intended to erect “a wall of separation between church and State.”<sup>27</sup>

The U.S. secularism allows diverse religious groups to practice their religion without any interference of the state but in the matter of religious family law, is U.S. constitution able to substitute women’s rights over the secular value? The question of women’s rights and ‘neutral secular nature’ of the United States on religious belief, explores the response by Supreme Court judgments.

Towards resolving the tension between religious beliefs and women’s rights, in 1879 in Reynolds v. United State case was a landmark judgment given by the Supreme Court. The supreme court of United States of America interpreted the secular clause of free exercise of religion that it would not secure the customary laws and practices of Mormons<sup>28</sup> and

---

<sup>27</sup> EVERSON v. BOARD OF EDUCATION, 330 U.S. 1, (1947).

<sup>28</sup> Mormons is a sect of Christian religion.

polygamy.<sup>29</sup> One of the Supreme Court judgement on Davis v. Beason in 1890, Justice Field had criticized the polygamy and bigamy religious practices which were against the federal system and equal treatment under 14<sup>th</sup> amendment, Bill of Rights.<sup>30</sup> In the interpretation on religious belief by the Supreme Court of United States of America, it had been made clear that free exercise of religion would not be permitted to practice polygamy and to violate women's respect.

Rajeev Bhargava explores, with the distinctive perspective that doctrines of secularism coexisting the ideas of individual rights and group rights in the form of 'Western modern secularism' and 'Eastetn traditional secularism'.<sup>31</sup> In the etiquette of liberal democratic rights, both representatives of secularism, India and U.S. present their model of secularism in the light of women's rights and religious autonomy. India's model of secularism neglects the rights of individual secularism and the United States of America's model neglects the religious rights of religious groups.

On the model of Western secularism, Rajeev Bhargava argues, in the etiquette of liberal democracy, state neglects religious autonomy and secure individual women's rights. The state negligence of religious group in public life, state spoiled their own liberal democratic value of equal respect under the law.<sup>32</sup> The idea of political secularism clearly marks the separation dogma of state and religion.<sup>33</sup> In the regard of religious autonomy, in public life, political secular state gets political neutrality.<sup>34</sup>

## India

These two rights 'gender equality' and 'cultural rights' are being used from the colonial period in the sphere of family laws. Here the term 'cultural rights' are taken as religious customary laws. The notion of gender equality is constantly in contrary with customary values and religious group rights. The two concepts which are related to 'equality' of gender and

---

<sup>29</sup> REYNOLDS v. UNITED STATES, 98 U.S. 145 (1878).

<sup>30</sup> Davis v. Beason, 133 U.S. 333, 341-42. (1890).

<sup>31</sup> Bhargava, Rajeev. 2009. Political secularism: why it is needed and what can be learnt from its Indian version In: Brahm, Geoffrey. Levey, and Modood, Tariq. eds. *Secularism, Religion and Multicultural Citizenship*, New York: Cambridge University Press. pp. 82-85.

<sup>32</sup> Ibid., p.83.

<sup>33</sup> Ibid., p.82.

<sup>34</sup> Bhargava, Rajeev. 1999. What is Secularism for? In: Bhargava, Rajeev. eds. *Secularism And Its Critics*. New York: Oxford University Press, p.501.

‘equality’ between religious groups<sup>35</sup> travelled from the British colonial India to post-colonial India. These two sorts of equality are often conflicted with rights for religious groups and internal minority group rights<sup>36</sup>. A liberal state ensures equal citizenship rights in a multicultural society. For the equal citizenship rights which are for a multicultural society, state enacts some special rights for minority groups as their own self-governing rights, special representation rights, poly-ethnic rights and rights as affirmative action.<sup>37</sup> It is often problematic for the liberal democratic state to try to bring equality between religious minorities and majority groups through the special protection rights and affirmative action. It is an important requirement in religious plural liberal democratic state to protect and promote the co-existence of intra group equality with cultural diversity<sup>38</sup> in the diverse society. The term of cultural rights includes caste, language, ethnicity, and religious differentiation. Whenever the thought of women’s rights comes up in the light of liberal democratic state’s constitutional provisions, which are based on equality at their heart, women’s rights often have to negotiate with religious group rights and religious autonomy. According to the liberal notion of the state, government should adopt neutral nature for their citizen’s welfare. In the context of India Bhargava argues, the nature of political secular state is theoretically neutral but in practical sense it is a ‘pseudo secular’ because of diversity, Indian state cannot cover itself in the veil of political neutrality.<sup>39</sup> In any democratic state, cultural group rights are also important. In this context here a question for the liberal state is that how the coexistence can be ensured of democratic values based on gender equality even within the cultural groups and cultural equality to give the equal status to both minorities and majorities at the same time? How the issue of gender equality in the religious groups can be addressed? The idea of gender justice is directly related with cultural group rights. Equality does not exist among men and women, not only in the regime of tyranny but also in liberal democratic regime. In a liberal democracy, it is

---

<sup>35</sup> RELIGIOUS GROUP. A set of individuals whose identity as such is distinctive in terms of common religious creed, beliefs, doctrines, practices, or rituals.

<sup>36</sup> INTERNAL MINORITY GROUP’S RIGHTS; In a religious plural society, liberal state enacts special rights system to give protection to the religious groups. In the diverse cultural society provision of special rights which are enacted by the state for the minorities. There is left ‘living intra-group inequality’ within minority group as well as majority group, in the special rights provisions. This internal minority is known as different group of caste, language, and sects within religious community.

<sup>37</sup> Will Kymlicka, 1995. *Multicultural Citizenship: A Liberal Theory of Minority Rights*. New York, pp. 26-27.

<sup>38</sup> I borrowed the term ‘co-existence intragroup equality with cultural diversity’ to Gurpreet Mahajan.

<sup>39</sup> Bhargava, Rajeev. 1999. What is Secularism for? In: Bhargava, Rajeev. Eds. *Secularism And Its Critics*. New York: Oxford University Press, p. 501.

an important task and a challenge for the state to balance equal rights for women without spoiling cultural diversity at the same time. Equality for women is affiliated to both public to private spheres. It is the duty of a State to manage *equal citizenship rights* for men and women in the public and private spheres. The terms equality, sex and cultural diversity are interlinked to each other.

Women's and cultural group rights both are related to individual rights. But in the discussions on women rights and community rights, both the issues are addressed as separate from each other in the feminist, legal and political discourse. Women are the members of a cultural community. Women's rights are also associated with a particular religious group. No individual is free from the set of some cultural values. In a democratic country like India, every citizen has individual rights in the form of fundamental rights. The state has to protect its citizen's rights within the domain of their own ethno-religious cultural values where everyone is free to practice his or her cultural values. Religion or cultural is not a problem but it becomes when in the name of protecting it, the rights of a section of citizens are ignored. Most of the religious and cultural communities are not able to address the issue of gender equality. Because of which in many cultural traditions, women live under the vulnerable conditions not much different from the past centuries. The reason for this is in most of the cultural groups, men have more decisive powers which results in the domination of men and subordination of women within the community. In this regard, in India, feminist movement took a step forward for the internal reforms - as a way of reinterpretation religious texts to protect the women's rights in the private sphere which is called personal law reforms.

## Conclusion

The doctrine of secularism formally originated in the Europe at the time of Enlightenment which paved the way for the principle of secularism to get authority to separate state from religion.<sup>40</sup> The debate between secularism, gender justice, community rights have its roots in the scientific Enlightenment age. After that plenty of research on women's rights it has proved that some major factors like 'religion' are creating obstacle on the way of gender justice. I tried to trace the history of religious toleration and individual rights in Europe. It made clear that gender injustice is not an issue of contemporary world but it has a long trajectory of events in

---

<sup>40</sup> Reday, Frances, Sarah. (2003), "Culture, Religion and Gender". *I International Journal of Constitutional Law* 663, Volume1, No. 4, October, p. 663.

past centuries as well. Later during Enlightenment movement, western countries were becoming liberal to manage religious autonomy and individual rights. The issue of women's rights was raised by European democratic states. The marginalize women's rights starting becoming a topic of major concern in social science discourse. On the other side, these states have broken the one religion domination in society and made secure religious diversity. European states were being influenced by Enlightenment and made their legal structures which were based on principles of Enlightenment movement as religious toleration and universal individual equality. These liberal principles were also being accepted by Third World democratic countries. The United States of America and India are the countries different on the grounds of population, languages, ethnicity and geographical differences. But within legal structure both countries kept the principle of secularism to give protection religious diversity. When the principles of religious autonomy and women's rights come together, it becomes more difficult to manage both equalities at the same time instead of handling each of them separately. The practice of polygamy is common in religious laws in both states where women's rights are suffering. It shows women's rights are still marginalized in the society. In the constitutional arrangements, secular principles give a room to religious groups that they can maintain their religious laws. The religious practice of polygamy and women's rights are being judged in the supreme court of India and U.S. Due to the protection to secular values of religious freedom given by the state, women's rights are being compromised. To manage women's rights and religion rights in the light of religious laws are becoming challenging, not for third world democratic countries but also for developed civilized countries like U.S. Western secularism usually deals with religious values with neutrality. In the case of India, it tries to maintain a wise balance between giving autonomy to the religious groups and maintaining a distance from religion at the same time which Rajeev Bhargava calls the notion of 'principled distance'.

## References

- Anne B. Ryan. (2006). Post-positivist approaches to research. In *Researching and writing thesis: A guide for postgraduate students*. Maynooth: MACE: Maynooth Adult and Community Education.
- Antokolskaia, V. M. (2000, September). The process of family law in modernization Eastern and Western Europe: Difference in timing, resemblance in substance. *Electronic Journal of Comparative Law*, 4(2).
- Bajpai, R. (2011). *Debating difference: Group rights and liberal democracy in India*. New Delhi: Oxford University Press.

- Bhargava, R. (1999). What is secularism for? In R. Bhargava (Ed.), *Secularism and its critics*. New York: Oxford University Press.
- Bhargava, R. (2009). Political secularism: Why it is needed and what can be learnt from its Indian version. In G. Levey & T. Modood (Eds.), *Secularism, religion and multicultural citizenship*. New York: Cambridge University Press.
- Bhargava, R. (2010). *The promise of India's secular democracy*. Delhi: Oxford University Press.
- Black, B. (2014). Introduction. In B. Black, G. Hyman, & M. Smith (Eds.), *Confronting secularism in Europe and India: Legitimacy and disenchantment in contemporary time* (p. 2). New York: Bloomsbury Academic.
- Chandhoke, N. (2010). Secularism. In N. G. Jayal & P. B. Mehta (Eds.), *The Oxford companion to politics in India* (1st ed.). New Delhi: Oxford University Press.
- Davis v. Beason, 133 U.S. 333, 341–342 (1890).
- Guaba, O. P. (2010). *Political ideas and ideologies*. New Delhi: Macmillan Publishers India Ltd.
- Gurpreet, M. (Ed.). (2005). *Can intra-group equality co-exist with cultural diversity? Re-examining multicultural frameworks of accommodation*. New York: Cambridge University Press.
- Heywood, A. (2015). *Political ideologies: An introduction* (5th ed.). New York: Palgrave Macmillan.
- Kapur, R. (1999). The two faces of secularism and women's rights in India. In C. W. Howland (Ed.), *Religious fundamentalisms and the human rights of women*. London: Macmillan Press.
- Kymlicka, W. (1995). *Multicultural citizenship*. Oxford: Oxford University Press.
- Okin, S. M. (1999). Is multiculturalism bad for women? In J. Cohen, M. Howard, & M. C. Nussbaum (Eds.), *Is multiculturalism bad for women?* Princeton: Princeton University Press.
- Okin, S. M. *Women in Western political thought*.
- Reynolds v. United States, 98 U.S. 145 (1878).
- Roy, A. (2005). *Gendered citizenship: Historical and conceptual exploration*. New Delhi: Author.
- Rudolph, S., & Rudolph, L. (2001). Living with difference in India: Legal pluralism and legal universalism. In G. J. Larson (Ed.), *History, context, religion, and personal law in secular India: A call to judgement*. Bloomington: Indiana University Press.

## स्वामी सहजानन्द सरस्वती का व्यक्तित्व और भारतीय राजनीति में उसका प्रभाव : एक विश्लेषण

सत्यनारायण सिंह\*

satyanarayan@gmail.com

### सार

भारतीय समाज विशेष रूप से ग्रामीण भारत, औपनिवेशिक शासन के दोहरे शोषण—एक ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद और दूसरी ओर देशी सामंतवाद—से जर्जर हो चुका था। इसी सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक परिवेश में एक ऐसा व्यक्तित्व उभरता है जो न केवल धार्मिक चेतना का वाहक और किसानों, दलितों और श्रमिक वर्ग की चेतना के प्रतिनिधि **स्वामी सहजानन्द सरस्वती** थे। स्वामी सहजानन्द का व्यक्तित्व कई दृष्टियों से विशिष्ट था। एक ओर वे शास्त्रों के विद्वान थे, वहीं दूसरी ओर वे ज़मीनी आंदोलनों के नेतृत्वकर्ता भी थे। उनके भीतर एक ओर वैदिक धर्म की गहराई थी, तो दूसरी ओर मार्क्सवादी चेतना की स्पष्टता। यद्यपि उन्होंने किसी एक विचारधारा को पूरी तरह आत्मसात नहीं किया, किंतु वे धर्म, समाजवाद, और किसान राजनीति के बीच एक **सर्जनात्मक समन्वय** स्थापित करना चाहते थे। भारतीय राजनीति में उनका प्रभाव बहुआयामी रहा। उन्होंने न केवल किसान आंदोलनों को संगठित किया, बल्कि सामाजिक असमानताओं के विरुद्ध भी लगातार संघर्ष किया। इस शोध पत्र का उद्देश्य स्वामी सहजानन्द सरस्वती के व्यक्तित्व और उनके राजनीतिक योगदान का **समग्र विश्लेषण** करना है।

यह अध्ययन न केवल उनके विचारों और आंदोलनों की ऐतिहासिक विवेचना करेगा, बल्कि उनके प्रभाव की **राजनीतिक, सामाजिक और वैचारिक प्रासंगिकता** की भी पड़ताल करेगा। साथ ही, यह यह भी विश्लेषण करेगा कि कैसे उनका जीवन और कार्य भारतीय राजनीति में हाशिये पर खड़े समूहों को केंद्र में लाने का प्रयास था।

### **संकेत शब्द:**

स्वामी सहजानन्द सरस्वती, बीसवीं सदी का भारत, किसान आंदोलन, वैयक्तिक जीवन, राजनीतिक प्रभाव।

### **प्रस्तावना**

बीसवीं शताब्दी का भारत सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से गहरे परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था। एक ओर स्वतंत्रता संग्राम की ज्वाला दिन-प्रतिदिन तीव्र होती जा रही थी, तो दूसरी ओर सामाजिक विषमताओं और आर्थिक शोषण के विरुद्ध जनचेतना भी जन्म ले रही थी। भारतीय समाज विशेष रूप से ग्रामीण भारत, औपनिवेशिक शासन के दोहरे शोषण—एक ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद और दूसरी ओर देशी सामंतवाद—से जर्जर हो चुका था। इसी सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक परिवेश में एक ऐसा व्यक्तित्व उभरता है जो न केवल धार्मिक चेतना का वाहक था, बल्कि किसानों, दलितों और श्रमिक वर्ग की चेतना का प्रतिनिधि भी था। यह व्यक्तित्व था—**स्वामी सहजानन्द सरस्वती**।

---

\* शोध छात्र, सामाजिक विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

स्वामी सहजानन्द सरस्वती भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में एक ऐसा नाम है, जो सामान्यतः मुख्यधारा की राजनीतिक विमर्श से उपेक्षित रहा है, परंतु जिसका योगदान किसानों की संगठित राजनीति और समाजवादी चेतना के निर्माण में अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। वे एक संत, समाज-सुधारक, लेखक और प्रभावशाली वक्ता तो थे ही, साथ ही उन्होंने **भारतीय किसान आंदोलन को एक वैचारिक आधार** प्रदान करने का भी प्रयास किया। उनकी जीवन दृष्टि केवल आध्यात्मिक मुक्ति तक सीमित नहीं थी; वे धर्म को सामाजिक परिवर्तन का माध्यम मानते थे, और इसलिए वे एक **क्रांतिकारी संत** की भूमिका में अवतरित हुए।

बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस राजनीतिक मंच पर मुख्य शक्ति के रूप में उभर रही थी, तब किसानों की समस्याएँ उसके लिए प्रमुख मुद्दा नहीं थीं। कांग्रेस नेतृत्व मध्यवर्गीय एवं शहरी दृष्टिकोण से ग्रस्त था, जिससे ग्रामीण भारत की वास्तविकता उपेक्षित रह गई थी। इसी पृष्ठभूमि में स्वामी सहजानन्द ने किसानों की राजनीतिक चेतना को जागृत करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने 1936 में **अखिल भारतीय किसान सभा** की स्थापना की, जिसने किसानों को एक राष्ट्रीय मंच दिया और स्वतंत्रता आंदोलन को एक **नए सामाजिक आधार** से जोड़ने का कार्य किया।

स्वामी सहजानन्द का व्यक्तित्व कई दृष्टियों से विशिष्ट था। एक ओर वे शास्त्रों के विद्वान थे, वहीं दूसरी ओर वे ज़मीनी आंदोलनों के नेतृत्वकर्ता भी थे। उनके भीतर एक ओर वैदिक धर्म की गहराई थी, तो दूसरी ओर मार्क्सवादी चेतना की स्पष्टता। यद्यपि उन्होंने किसी एक विचारधारा को पूरी तरह आत्मसात नहीं किया, किंतु वे धर्म, समाजवाद, और किसान राजनीति के बीच एक **सर्जनात्मक समन्वय** स्थापित करना चाहते थे। उनका जीवन इस समन्वय की प्रयोगशाला था, जहाँ आत्मानुभूति और सामाजिक अनुभव दोनों को समान स्थान प्राप्त था।

भारतीय राजनीति में उनका प्रभाव बहुआयामी रहा। उन्होंने न केवल किसान आंदोलनों को संगठित किया, बल्कि सामाजिक असमानताओं के विरुद्ध भी लगातार संघर्ष किया। उन्होंने जातिवादी व्यवस्था की कठोर आलोचना की और एक समतामूलक समाज की कल्पना प्रस्तुत की। उनके विचार आज भी भारतीय किसान आंदोलनों के वैचारिक आधार के रूप में जीवित हैं, यद्यपि उन्हें राजनीतिक मुख्यधारा में वैसी मान्यता नहीं मिली, जिसकी वे अपेक्षा रखते थे। इससे यह प्रश्न भी उत्पन्न होता है कि क्या भारतीय राजनीति ने उनके योगदान को जानबूझकर नजरअंदाज किया, या यह उस राजनीतिक संस्कृति का परिणाम था, जो करिश्माई नेतृत्व और औपचारिक संस्थाओं को ही मान्यता देती है?

इस शोध पत्र का उद्देश्य स्वामी सहजानन्द सरस्वती के व्यक्तित्व और उनके राजनीतिक योगदान का **समग्र विश्लेषण** करना है। यह अध्ययन न केवल उनके विचारों और आंदोलनों की ऐतिहासिक विवेचना करेगा, बल्कि उनके प्रभाव की **राजनीतिक, सामाजिक और वैचारिक प्रासंगिकता** की भी पड़ताल करेगा। साथ ही, यह भी विश्लेषण करेगा कि कैसे उनका जीवन और कार्य भारतीय राजनीति में हाशिये पर खड़े समूहों को केंद्र में लाने का प्रयास था।

शोध का मुख्य प्रश्न यह है कि—**स्वामी सहजानन्द सरस्वती की राजनीति किस प्रकार भारतीय किसान चेतना का प्रतिनिधित्व करती है, और वह राजनीति मुख्यधारा की औपचारिक राजनीति से कैसे भिन्न थी?** इसके उप-प्रश्नों में यह जानना भी आवश्यक होगा कि उनकी विचारधारा में धर्म और

समाजवाद का किस प्रकार समन्वय हुआ; उनका आंदोलन किस हद तक सफल रहा; और उनकी विरासत समकालीन राजनीति में कितनी प्रभावशाली है।

शोध पद्धति के रूप में ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग किया जाएगा। इसमें प्राथमिक स्रोत जैसे स्वामी सहजानन्द की आत्मकथा 'मेरा जीवन संघर्ष', किसान सभा के अधिवेशन रिपोर्ट्स, और उनके लिखित भाषणों को शामिल किया जाएगा। साथ ही, द्वितीयक स्रोत जैसे आधुनिक इतिहासकारों द्वारा लिखे गए विश्लेषणात्मक ग्रंथों और शोध-पत्रों का भी उपयोग किया जाएगा।

अतः यह शोध स्वामी सहजानन्द सरस्वती के योगदान को केवल इतिहास की दृष्टि से नहीं, बल्कि वर्तमान राजनीतिक विमर्श की कसौटी पर भी कसने का प्रयास है। यह न केवल उनके कार्यों का मूल्यांकन करेगा, बल्कि उस विचारधारा की प्रासंगिकता को भी सामने लाएगा, जिसकी आज पुनः आवश्यकता महसूस की जा रही है—एक ऐसी राजनीति, जो समाज के सबसे हाशिये पर खड़े व्यक्ति को केंद्र में लाए।

## 2: जीवन-परिचय एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि

स्वामी सहजानन्द सरस्वती का जीवन एक ऐसी दार्शनिक और सामाजिक यात्रा का प्रतीक है, जो एक व्यक्ति को वैदिक आध्यात्म से लेकर सामाजिक क्रांति के पथ तक ले जाती है। उनका जन्म, पारिवारिक परिवेश, शिक्षा और संन्यास का मार्ग भारतीय समाज की जटिलताओं के बीच उनके विचारों की बुनियाद को स्पष्ट करता है। यह खंड उनके जीवन की उन घटनाओं और बौद्धिक स्रोतों का विश्लेषण करता है, जिनसे उनके विचारों, आंदोलनों और संघर्षों की नींव पड़ी।

### 2.1 प्रारंभिक जीवन और पारिवारिक पृष्ठभूमि

स्वामी सहजानन्द सरस्वती का जन्म 22 फरवरी 1889 को उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले के देवा गाँव में एक साधारण भूमिहार ब्राह्मण परिवार में हुआ था।<sup>1</sup> उनका मूल नाम नौरंग राय था। ग्रामीण परिवेश में जन्मे सहजानन्द का बाल्यकाल पारंपरिक धार्मिक परिवेश में बीता, जिसमें संस्कृत अध्ययन, वैदिक अनुष्ठान और शास्त्राचार प्रमुख थे। यह स्पष्ट है कि उनके प्रारंभिक जीवन ने ही उन्हें धर्म और समाज के मध्य संबंधों की गहराई तक पहुँचने की प्रेरणा दी।

बाल्यकाल में ही उनकी माता का देहांत हो गया, और इसका उनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस शोक के परिणामस्वरूप उनका झुकाव वैराग्य और साधुता की ओर बढ़ने लगा। यद्यपि यह व्यक्तिगत आघात था, परन्तु इसके पीछे सामाजिक यथार्थ का भी हाथ था—एक ऐसा समाज जहाँ मृत्यु, शोषण, और वर्ग-भेद आम थे। इस प्रकार उनके जीवन के आरंभिक अनुभवों में ही वे सामाजिक विषमता और दुख के कारणों को देखने लगे।

### 2.2 शिक्षा और वैदिक अध्ययन

सहजानन्द ने पारंपरिक पाठशालाओं में संस्कृत, व्याकरण, वेद, उपनिषद, और न्याय दर्शन का अध्ययन किया। वे शास्त्रों में पारंगत हुए और उन्हें एक प्रबुद्ध पंडित की संज्ञा प्राप्त हुई। विशेष बात यह है कि उन्होंने इन ग्रंथों का अध्ययन केवल विद्वत्ता हेतु नहीं किया, बल्कि वे इनसे सामाजिक प्रश्नों का समाधान

खोजने की कोशिश कर रहे थे। वे धार्मिक शास्त्रों की व्याख्या को सामाजिक संदर्भों में देखने लगे, जो कि उस समय की धार्मिक परंपरा से एक भिन्न दृष्टिकोण था।

उनकी शिक्षा में विशेष रूप से न्याय दर्शन और सांख्य योग का प्रभाव दिखता है, जहाँ वे तर्क, विश्लेषण और कारणवाद से अपने विचारों को गढ़ते हैं<sup>3</sup>। वे धार्मिक जीवन को केवल अनुष्ठानिक नहीं, बल्कि नैतिक और क्रांतिकारी मानते थे।

### 2.3 संन्यास ग्रहण और आध्यात्मिक दृष्टिकोण

1911 में उन्होंने बनारस के काशी विद्यापीठ में अध्ययन करते हुए संन्यास की दीक्षा ली और नौरंग राय से स्वामी सहजानन्द सरस्वती बन गए। यह संन्यास कोई पलायनवादी कदम नहीं था, जैसा परंपरागत रूप में देखा जाता है; बल्कि यह उनके लिए एक नैतिक और वैचारिक प्रतिबद्धता का प्रारंभ था। उनके अनुसार संन्यास का अर्थ समाज से दूर होना नहीं, बल्कि समाज के प्रति गहरी उत्तरदायित्व की भावना थी<sup>4</sup>।

उन्होंने स्वयं लिखा है कि—

“मैंने संन्यास इसीलिए लिया ताकि मैं निर्भीक होकर अन्याय के विरुद्ध लड़ सकूँ। साधु का कोई घर नहीं होता, कोई डर नहीं होता।”

इस कथन में उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता स्पष्ट झलकती है। उन्होंने धर्म को सामाजिक मुक्ति के उपकरण के रूप में देखा, न कि केवल व्यक्तिगत मोक्ष की साधना के रूप में।

### 2.4 धर्म से राजनीति की ओर: वैचारिक संक्रमण

धार्मिक जीवन जीते हुए भी सहजानन्द सरस्वती ने समाज के शोषित वर्गों की पीड़ा को निकट से देखा। ग्रामीण भारत में जमींदारी प्रथा, जातिवाद, और कृषकों की दुर्दशा ने उन्हें धर्म के सामाजिक आयामों पर विचार करने को विवश किया। उन्होंने महसूस किया कि धर्म, यदि न्याय और समानता की स्थापना में निष्क्रिय है, तो वह केवल सत्ता का उपकरण बन जाता है। इसी वैचारिक संक्रमण के कारण वे धार्मिक साधना से आगे बढ़ते हुए राजनीतिक-सामाजिक सुधार के क्षेत्र में सक्रिय हुए।

यह संक्रमण गांधीजी के समकालीन अनेक सुधारकों की तरह नहीं था। गांधी धर्म को नैतिकता और सत्य के रूप में देखते थे, वहीं सहजानन्द धर्म को वर्गीय चेतना का साधन मानते थे। यहीं से उनके विचारों में समाजवादी चेतना विकसित होती है, जो बाद में उनके किसान आंदोलनों का वैचारिक आधार बनती है<sup>5</sup>।

### 2.5 बौद्धिक स्रोत और वैचारिक प्रेरणाएँ

स्वामी सहजानन्द की वैचारिक प्रेरणाओं में भारतीय ग्रंथों के साथ-साथ समकालीन सामाजिक आंदोलनों और अंतरराष्ट्रीय समाजवादी विचारधाराओं का भी प्रभाव था। यद्यपि वे मार्क्स और लेनिन के विचारों से प्रभावित थे, उन्होंने उनका अंधानुकरण नहीं किया। उन्होंने भारतीय समाज की विशिष्टता को ध्यान में रखते हुए एक देशज समाजवाद (Indigenous Socialism) का प्रारूप विकसित किया, जिसमें भूमि सुधार, जातिगत समता और कृषक अधिकारों को मूलाधार बनाया गया।

उनकी कृति 'जमींदारी प्रथा' (1949) केवल एक नीतिगत आलोचना नहीं थी, बल्कि वह एक ऐसी वैचारिक संरचना थी जिसमें वे जमींदारी को सामाजिक अन्याय की जड़ मानते हैं और उसकी समाप्ति को नैतिक कर्तव्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं<sup>6</sup>। यह दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से बताता है कि उनका बौद्धिक विकास धर्म, तर्क और अनुभव—तीनों के समन्वय से हुआ था।

स्वामी सहजानन्द सरस्वती का जीवन केवल एक धार्मिक या राजनीतिक नेता का जीवन नहीं था, बल्कि वह एक बौद्धिक यात्रा थी, जिसमें धर्म, तर्क, और सामाजिक न्याय का त्रिवेणी संगम दिखाई देता है। उनके जीवन का यह चरण बताता है कि कैसे भारत के धार्मिक और सामाजिक परंपरा से जुड़े व्यक्ति भी सामाजिक क्रांति के वाहक बन सकते हैं, यदि उनमें आलोचनात्मक चेतना हो। यह बौद्धिक पृष्ठभूमि ही उनके आगे के किसान आंदोलनों और विचारधारात्मक संघर्षों की नींव बनती है, जिसे अगले खंडों में विस्तार से विश्लेषित किया जाएगा।

### 3: स्वामी सहजानन्द का व्यक्तित्व: एक बहुआयामी दृष्टिकोण

स्वामी सहजानन्द सरस्वती का व्यक्तित्व भारतीय सामाजिक और राजनीतिक चेतना में एक दुर्लभ समन्वय का प्रतीक है। वे संत थे, किंतु केवल आत्ममुक्ति की साधना तक सीमित नहीं रहे। वे राजनेता थे, परंतु केवल सत्ता की राजनीति में नहीं उलझे। वे विचारक थे, पर केवल पुस्तकालयों तक सीमित नहीं थे—बल्कि खेतों, आंदोलनों और जेलों तक उनकी उपस्थिति थी। यह बहुआयामिता ही उन्हें एक विशिष्ट ऐतिहासिक व्यक्तित्व बनाती है, जिसका विश्लेषण एक आयामी दृष्टिकोण से संभव नहीं। इस खंड में हम उनके व्यक्तित्व के चार प्रमुख आयामों—**धार्मिक संत, क्रांतिकारी समाज-सुधारक, किसान नेता, और वैचारिक लेखक**—का विश्लेषण करते हैं।

#### 3.1 धार्मिक और आध्यात्मिक आयाम: संतत्व की सामाजिक पुनर्रचना

स्वामी सहजानन्द के व्यक्तित्व का आरंभिक निर्माण धार्मिक मार्ग से हुआ। उन्होंने वेद, उपनिषद और शास्त्रों का गंभीर अध्ययन किया और सन्यास की दीक्षा ली। परंतु उनका संतत्व उस पारंपरिक रूढ़िवादी सन्यास की छाया नहीं था, जो समाज से पलायन की प्रेरणा देता है। वे स्पष्ट रूप से मानते थे कि—

“सच्चा सन्यास वही है जो समाज के शोषण के विरुद्ध लड़ सके।”

इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो उनका आध्यात्मिक जीवन एक सक्रिय सामाजिक भूमिका निभाने वाला जीवन था। उन्होंने धर्म को केवल पाप-पुण्य की संज्ञा नहीं दी, बल्कि उसे एक सामाजिक उत्तरदायित्व के रूप में देखा। उनका संतत्व **नैतिक साहस और राजनीतिक स्फूर्ति का स्रोत** था, न कि निष्क्रियता या समर्पण का प्रतीक।

इस प्रकार, सहजानन्द का संत स्वरूप एक वैकल्पिक धार्मिक मॉडल प्रस्तुत करता है, जिसमें **धर्म का सामाजिक उपयोग** केंद्रीय तत्व है। यह मॉडल भारतीय सन्यास परंपरा की नवचेतनापूर्ण आलोचना के रूप में भी देखा जा सकता है।

### 3.2 समाज-सुधारक: जाति और सामंती व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह

भारतीय समाज की एक जटिलता जातिगत भेदभाव और सामंती ढाँचे में निहित थी। स्वामी सहजानन्द ने न केवल इन दो व्यवस्थाओं की आलोचना की, बल्कि इनके विरुद्ध संगठित आंदोलन भी चलाया। उन्होंने अपने समय की वर्ण व्यवस्था को “मानवता के विरुद्ध हिंसा” की संज्ञा दी।

भूमिहार ब्राह्मण होकर भी उन्होंने ब्राह्मणवादी श्रेष्ठता के मिथ को तोड़ा और दलित तथा पिछड़े वर्गों के साथ खड़े हुए। यह कदम उनके वर्गीय और जातीय हितों के विरुद्ध था, किंतु नैतिक दृष्टि से अत्यंत साहसिक। उनकी विचारधारा “जाति नहीं, कर्म और श्रम ही पहचान है” जैसे मूल्यों पर आधारित थी।

इस दृष्टिकोण से उनका व्यक्तित्व **संरचनात्मक असमानता के विरुद्ध वैचारिक संघर्ष का नेतृत्व करने वाला** बनता है। उन्होंने न केवल जाति उन्मूलन का आह्वान किया, बल्कि भूमि के पुनर्वितरण द्वारा **सामाजिक आर्थिक समता** की वकालत की।

### 3.3 राजनीतिक नेतृत्व: किसान चेतना के निर्माता

स्वामी सहजानन्द का सबसे क्रांतिकारी पक्ष उनके किसान आंदोलन से जुड़ा हुआ है। 1936 में उन्होंने **अखिल भारतीय किसान सभा** की स्थापना की, जो भारतीय किसान आंदोलन के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ था। उनका नारा “जो जोते वो खाए” न केवल भूमि सुधार की मांग थी, बल्कि वह शोषण-प्रधान व्यवस्था के मूल ढाँचे पर प्रहार था।

उन्होंने किसानों को केवल आर्थिक वर्ग के रूप में नहीं देखा, बल्कि उन्हें **राजनीतिक इकाई** में रूपांतरित किया। उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की आलोचना करते हुए यह प्रश्न उठाया कि यदि राजनीतिक स्वतंत्रता किसानों की स्वतंत्रता सुनिश्चित नहीं करती, तो उसका मूल्य क्या है?

उनकी रणनीति में किसानों को लामबंद करना, ज़मींदारी प्रथा का विरोध, लगान माफी की मांग, और ग्रामीण श्रमिकों के अधिकार शामिल थे। इन गतिविधियों से स्पष्ट है कि वे सत्ता के केवल आलोचक नहीं थे, बल्कि **संघर्ष के संगठक** भी थे। यह नेतृत्व गुण उन्हें महात्मा गांधी या जवाहरलाल नेहरू जैसे समकालीन नेताओं से अलग करता है, जो मुख्यतः शहरी व मध्यवर्गीय दृष्टिकोण से संचालित थे।

### 3.4 लेखक और वैचारिक प्रवक्ता: विचारों की स्पष्टता

स्वामी सहजानन्द न केवल आंदोलनकारी थे, बल्कि उन्होंने अपने विचारों को सुसंगत रूप में प्रस्तुत करने की भी जिम्मेदारी निभाई। उनकी आत्मकथा ‘मेरा जीवन संघर्ष’ केवल एक आत्मवृत्तांत नहीं, बल्कि एक राजनीतिक घोषणापत्र की तरह है। उसमें उन्होंने न केवल अपने व्यक्तिगत अनुभव प्रस्तुत किए, बल्कि भारत के शोषित वर्गों के लिए एक क्रांतिकारी विकल्प भी प्रस्तावित किया।

उनकी अन्य प्रमुख रचनाएँ जैसे ‘जमींदारी प्रथा’, ‘किसान और उनका आंदोलन’ आदि भी इस बात का प्रमाण हैं कि वे एक गंभीर विचारक थे। उनकी भाषा स्पष्ट, आक्रामक और यथार्थवादी थी। उन्होंने दार्शनिक मुहावरे से दूर रहकर **जनभाषा में विचारधारा का निर्माण** किया, जो उन्हें लोकचेतना के अधिक निकट ले गया।

स्वामी सहजानन्द सरस्वती का व्यक्तित्व बहुआयामी था, जिसमें धर्म, राजनीति, समाजशास्त्र और आंदोलन—सभी का समन्वय दिखाई देता है। वे केवल विचारक नहीं, क्रियाशील विचारक थे। वे केवल धार्मिक नहीं, धर्म को सामाजिक मुक्ति का साधन मानने वाले थे। वे केवल नेता नहीं, एक चेतना के वाहक थे। इस बहुआयामिता को समझे बिना उनके योगदान की समग्रता को नहीं आँका जा सकता। वास्तव में, उनका व्यक्तित्व भारतीय राजनीति के उस संभावित मार्ग को इंगित करता है, जिसमें सत्ता नहीं बल्कि सेवा, नैतिकता और जनचेतना केंद्र में होती है।

#### 4: भारतीय राजनीति में सक्रियता: किसान आंदोलन और वैचारिक संघर्ष

बीसवीं शताब्दी का तीसरा दशक भारतीय राजनीति के लिए संक्रमण काल था। एक ओर भारत का राष्ट्रीय आंदोलन व्यापक रूप ग्रहण कर रहा था, वहीं दूसरी ओर किसानों, मजदूरों और दलितों जैसे वर्गों के हितों की उपेक्षा भी स्पष्ट हो रही थी। राष्ट्रीय नेतृत्व मुख्यतः मध्यवर्गीय और शहरी था, जिसकी प्राथमिकताएँ भिन्न थीं। इसी संदर्भ में स्वामी सहजानन्द सरस्वती जैसे नेताओं का उदय होता है, जो ग्राम्य भारत के वास्तविक प्रश्नों को राजनीतिक विमर्श का विषय बनाते हैं।

स्वामी सहजानन्द का किसान आंदोलन में प्रवेश और उनकी वैचारिक अवस्थिति केवल घटनात्मक नहीं थी, बल्कि यह भारतीय राजनीति की वर्गीय संरचना के विरुद्ध एक सैद्धांतिक चुनौती भी थी।

##### 4.1 किसान आंदोलन में नेतृत्व और संगठनात्मक कार्य

स्वामी सहजानन्द सरस्वती के नेतृत्व में किसानों को पहली बार एक राष्ट्रीय स्तर की संगठनात्मक पहचान मिली। उन्होंने 1936 में अखिल भारतीय किसान सभा (All India Kisan Sabha - AIKS) की स्थापना की, जिसका प्रथम सम्मेलन लखनऊ में आयोजित हुआ था। इस संगठन का उद्देश्य किसानों की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को केंद्र में लाना था।

किसान सभा ने जिन प्रमुख मुद्दों को उठाया, उनमें शामिल थे:

जमींदारी प्रथा का उन्मूलन	लगान की समाप्ति	कृषि मजदूरों के अधिकार
भूमि का पुनर्वितरण	ग्राम-स्वराज की अवधारणा	

स्वामी सहजानन्द ने किसानों के लिए जो सबसे क्रांतिकारी नारा दिया, वह था—

“जो जोते वो खाए।”

यह नारा केवल एक नीतिगत मांग नहीं थी, बल्कि यह पूरी सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना के खिलाफ एक जनघोषणा थी, जिसमें किसान को मालिकाना हक से वंचित किया गया था।

बिहार किसान आंदोलन (1937–39) में उनकी भूमिका अत्यंत निर्णायक रही। उन्होंने भुखमरी, लगान वसूली, और सामंती उत्पीड़न के विरुद्ध जनआंदोलन खड़े किए। इन आंदोलनों ने न केवल स्थानीय प्रशासन को चुनौती दी, बल्कि कांग्रेस नेतृत्व को भी यह सोचने पर मजबूर किया कि किसान राजनीति को अलग नहीं रखा जा सकता।

किसान सभा धीरे-धीरे वामपंथी रुझानों से प्रभावित हुई। विशेष रूप से कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य इसमें सक्रिय हो गए। यद्यपि सहजानन्द कभी औपचारिक रूप से कम्युनिस्ट नहीं बने, लेकिन उन्होंने किसान संघर्ष के लिए **वर्ग-संघर्ष की वैचारिकता** को काफी हद तक स्वीकार किया।

#### 4.2 वैचारिक संघर्ष: कांग्रेस से असहमति और किसान चेतना की अलग राह

स्वामी सहजानन्द ने कांग्रेस पार्टी के नेतृत्व की तीव्र आलोचना की। उनका मानना था कि कांग्रेस किसानों के मुद्दों को केवल एक *चुनावी नारा* बनाकर छोड़ देती है, जबकि व्यवहार में वह जमींदारों और धनी वर्ग के साथ खड़ी रहती है।

उनका एक चर्चित कथन है: **“कांग्रेस किसानों की नहीं, पूंजीपतियों और जमींदारों की पार्टी है।”**<sup>6</sup>

यह कथन उस समय राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत साहसिक और अप्रीतिकर था। यह उस वर्ग-चेतना को उजागर करता है, जिसे भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के कई प्रमुख नेता दरकिनार करते थे। सहजानन्द का यह दृष्टिकोण उन्हें उस “प्रगतिशील राजनीतिक धारा” से जोड़ता है, जो **जनता के स्वराज** को सत्ता के स्वराज से अधिक महत्वपूर्ण मानती थी।

स्वामी सहजानन्द ने केवल कांग्रेस से ही नहीं, बल्कि वामपंथी संगठनों से भी वैचारिक मतभेद जताए। उन्हें इस बात की चिंता थी कि कम्युनिस्ट नेतृत्व किसान आंदोलनों को **दलों की रणनीति के तहत सीमित कर रहा है**, जबकि उनकी मूल मांगें जमीन से जुड़ी थीं। वे मार्क्सवाद को भारतीय संदर्भ में ढालना चाहते थे, न कि उसे *जैसे का तैसा* लागू करना।

यह वैचारिक संघर्ष उन्हें भारतीय राजनीति में **एक स्वतंत्र मार्ग** पर खड़ा करता है—जहाँ धर्म, समाजवाद और राष्ट्रवाद के बीच एक **समन्वयात्मक दृष्टिकोण** अपनाया गया।

#### 4.3 राजनीतिक शैली और नैतिक नेतृत्व

स्वामी सहजानन्द की राजनीति केवल विरोध की राजनीति नहीं थी, बल्कि वह **रचनात्मक संगठनात्मक नेतृत्व** पर आधारित थी। उन्होंने किसान सभाओं, आंदोलनों और जेलों के माध्यम से एक **संघर्षशील परंपरा** स्थापित की। उनके आंदोलनों में अनुशासन, नैतिक आग्रह और स्पष्ट वैचारिक दिशा देखी जा सकती है।

उनकी लोकप्रियता इस बात से भी समझी जा सकती है कि उन्हें “किसानों के स्वामी” के रूप में सम्मानित किया गया। उनके नेतृत्व में आंदोलन **जन-जागरण से जन-संगठन** की ओर बढ़े। उन्होंने एक ऐसी राजनीतिक चेतना का निर्माण किया, जिसमें **धार्मिक नैतिकता और वर्गीय संघर्ष** का संतुलन था।

स्वामी सहजानन्द सरस्वती की राजनीतिक सक्रियता केवल एक आंदोलनकारी नेतृत्व नहीं था, बल्कि वह एक **गहन वैचारिक परियोजना** थी, जिसमें भारतीय किसानों को सत्ता विमर्श के केंद्र में लाने की चेष्टा की गई। उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन की सीमाओं को उजागर किया और स्वतंत्र भारत के लिए वैकल्पिक सामाजिक-राजनीतिक ढाँचे की कल्पना प्रस्तुत की।

उनकी वैचारिक यात्रा दर्शाती है कि भारतीय राजनीति केवल स्वतंत्रता की राजनीति नहीं थी, बल्कि सामाजिक न्याय, वर्ग चेतना और आर्थिक लोकतंत्र की मांग का भी क्षेत्र थी। इस खंड से यह स्पष्ट होता है कि स्वामी सहजानन्द भारतीय राजनीति के उस पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसे सत्ता ने बार-बार भुलाया, पर जिसे जनता ने कभी पूरी तरह छोड़ा नहीं।

## 5: विचारधारा और सामाजिक दर्शन

स्वामी सहजानन्द सरस्वती का चिंतन केवल राजनीतिक आंदोलन या किसानों की तत्कालिक समस्याओं तक सीमित नहीं था, बल्कि उसमें एक समग्र वैचारिक परियोजना विद्यमान थी। उनका सामाजिक दर्शन एक ऐसी विचारधारा का निर्माण करता है जिसमें धर्म, समाजवाद, वर्ग चेतना, जाति विरोध, भूमि सुधार और नैतिकता का गहन समन्वय देखने को मिलता है। वे भारतीय संदर्भ में लोक आधारित समाजवाद के एक सशक्त प्रवक्ता थे। इस खंड में हम उनके विचारों का विश्लेषण चार प्रमुख आयामों—धर्म का सामाजिक प्रयोग, जाति व्यवस्था की आलोचना, कृषि व समाजवाद, और राष्ट्रवाद एवं स्वतंत्रता की वैकल्पिक अवधारणा—के माध्यम से करेंगे।

### 5.1 धर्म का सामाजिक प्रयोग: आध्यात्मिकता से सामाजिक चेतना तक

स्वामी सहजानन्द ने धर्म को कभी भी रूढ़िवादी धार्मिक संस्थानों के अधीन नहीं माना। वे धार्मिक शास्त्रों के विद्वान थे, लेकिन उन्होंने धर्म की व्याख्या सामाजिक मुक्ति के औजार के रूप में की। उनके अनुसार— “धर्म का उद्देश्य आत्मा की मुक्ति ही नहीं, समाज की मुक्ति भी है।”

उनका दृष्टिकोण गांधीजी से इस मायने में भिन्न था कि जहाँ गांधी धर्म को नैतिकता का स्रोत मानते थे, वहीं सहजानन्द धर्म को संरचनात्मक परिवर्तन का उपकरण मानते थे। वे धर्म को सामाजिक क्रांति से जोड़ते थे, न कि केवल करुणा या आत्म-शुद्धि तक सीमित करते थे।

यह उनका मौलिक योगदान था कि उन्होंने वैदिक धर्म को समाजवादी चेतना के साथ संवाद में रखा। उनका यह प्रयास ब्राह्मणवाद और सांप्रदायिकता दोनों का आलोचक था, और एक लोकधर्म विकल्प प्रस्तुत करता था।

### 5.2 जाति व्यवस्था और सामाजिक न्याय: क्रांतिकारी दृष्टिकोण

स्वामी सहजानन्द ने जाति व्यवस्था को भारतीय समाज की सबसे अन्यायपूर्ण और विभाजनकारी संरचना माना। उनका यह दृष्टिकोण विशेष रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि वे स्वयं एक ऊँची जाति—भूमिहार ब्राह्मण—से थे। फिर भी उन्होंने न केवल जातीय विशेषाधिकार का त्याग किया, बल्कि समाज के सबसे निचले तबके के साथ संगठित संघर्ष में शामिल हुए।

उनका कथन था: “जब तक जाति रहेगी, तब तक स्वराज्य नहीं आ सकता।”

यह कथन उनके सामाजिक दर्शन की मूल आत्मा को प्रकट करता है। वे जातिगत समानता को न केवल सामाजिक समरसता के लिए आवश्यक मानते थे, बल्कि यह उनके लिए एक राजनीतिक अपरिहार्यता

भी थी। उन्होंने 'जाति हटाओ आंदोलन' का समर्थन किया और किसान राजनीति को जाति-मुक्त राजनीतिक आधार पर खड़ा करने का प्रयास किया।

### 5.3 कृषक समाजवाद और भूमि सुधार की अवधारणा

स्वामी सहजानन्द सरस्वती भारतीय समाजवाद की उस धारा के प्रवर्तक थे, जो पश्चिमी मार्क्सवादी मॉडल के अंधानुकरण के बजाय भारतीय ग्रामीण संरचना के यथार्थ से विकसित हुई थी। उन्होंने अपने लेखन—विशेषतः 'जमींदारी प्रथा'—में यह स्पष्ट किया कि जमींदारी केवल एक आर्थिक शोषण नहीं है, बल्कि वह एक सामाजिक वर्चस्व की संरचना भी है।

उनका नारा "जो जोते वो खाए" इस वैचारिक रचना की जड़ में है। उन्होंने किसान को सिर्फ श्रमिक नहीं, बल्कि भूमि पर नैतिक हकदार माना। उनके लिए भूमि का पुनर्वितरण केवल नीति नहीं था, वह एक नैतिक क्रांति थी।

उनका समाजवाद "निरसनात्मक समाजवाद" (Abolitionist Socialism) था, जिसका उद्देश्य पूंजी और श्रम के शोषणकारी संबंध को समाप्त करना था, परंतु उसका आधार भारतीय ग्राम्य संरचना में निहित था<sup>5</sup>। उन्होंने राज्य से भूमि सुधार की मांग की, पर वे राज्य के केंद्रीयकरण के भी आलोचक रहे। इस विरोधाभास में उनकी वैचारिक जटिलता दिखती है, जो उन्हें आधुनिक वाम राजनीति से भिन्न बनाती है।

### 5.4 राष्ट्रवाद और स्वतंत्रता की वैकल्पिक अवधारणा

स्वामी सहजानन्द राष्ट्रवाद के उस संस्करण से असहमति रखते थे, जो केवल राजनीतिक सत्ता के हस्तांतरण तक सीमित था। उनका मानना था कि जब तक सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ बनी रहेंगी, तब तक स्वतंत्रता एक मिथ्या अवधारणा होगी। उनके अनुसार, स्वराज्य का वास्तविक अर्थ है—

"जनता की सत्ता, न कि सत्ता के कुछ खास हाथों में संकेंद्रण।"

वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की उस राजनीति के आलोचक थे, जो जमींदारों, पूंजीपतियों और ऊँची जातियों के प्रभाव में थी। उन्होंने किसानों, दलितों और श्रमिकों की स्वतंत्रता को राष्ट्र की सच्ची आज़ादी कहा। यही कारण है कि वे राजनीतिक दृष्टि से एक लोकतांत्रिक समाजवादी गणराज्य की मांग करते थे, जिसमें सत्ता का आधार जनता की भागीदारी और सामाजिक न्याय हो।

स्वामी सहजानन्द सरस्वती का सामाजिक दर्शन एक स्वदेशी समाजवाद की अवधारणा प्रस्तुत करता है, जो धर्म, नैतिकता, वर्ग संघर्ष और सामाजिक समता का सुसंगत मिश्रण है। उनकी विचारधारा को समझे बिना न तो भारतीय किसान आंदोलनों की वैचारिक आत्मा को समझा जा सकता है, और न ही भारतीय राजनीति के उन संभावित विकल्पों को, जो सत्ता की औपचारिक संरचना के बाहर जन्म लेते हैं।

उनकी विचारधारा आज भी प्रासंगिक है—विशेषकर तब, जब भारतीय राजनीति पुनः कार्पोरेट हितों और सामाजिक विषमताओं की ओर झुकती दिख रही है। सहजानन्द एक जनवादी, नैतिक और क्रांतिकारी राजनीति के प्रतीक हैं, जो भारतीय लोकतंत्र के लिए एक दिशासूचक की तरह काम करते हैं।

## 6: स्वामी सहजानन्द की प्रासंगिकता: समकालीन परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन

### 6.1 प्रस्तावना: इतिहास की पुनर्पाठ की आवश्यकता

इतिहास के जिन चरित्रों को तत्कालीन सत्ता-संरचना या मुख्यधारा विमर्श द्वारा हाशिए पर रखा गया, उनमें से कई समय के साथ कहीं अधिक प्रासंगिक और समकालीन साबित होते हैं। स्वामी सहजानन्द सरस्वती भी एक ऐसे ही ऐतिहासिक पुरुष हैं, जिनका मूल्यांकन न तो राष्ट्रवादी विमर्श ने पूरी ईमानदारी से किया, और न ही वामपंथी राजनीति उन्हें समग्र रूप में स्वीकार कर सकी।

आज जब भारत सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक असमानताओं के एक नए चक्रव्यूह में फँसा है, सहजानन्द का विचार और संघर्ष एक सिद्धांतात्मक मार्गदर्शन की तरह हमारे सामने आता है। उनका मूल्यांकन समकालीन संदर्भों में इसलिए आवश्यक है क्योंकि उन्होंने जो प्रश्न उठाए थे — भूमि की मिल्कियत, जाति उन्मूलन, किसान अधिकार, सामाजिक नैतिकता और सत्ता की जवाबदेही — वे आज भी ज्यों के त्यों हमारे सामने खड़े हैं।

### 6.2 भूमि प्रश्न और ग्रामीण भारत की दुर्दशा

भारत की स्वतंत्रता के बाद भूमि सुधारों की तमाम घोषणाओं के बावजूद आज भी ग्रामीण भारत भूमिहीनता, कृषि संकट और कृषि आत्महत्याओं की त्रासदी से जूझ रहा है। सहजानन्द का विचार — “जो जोते, वो खाए” — केवल एक नारा नहीं था, बल्कि वह एक सामाजिक क्रांति की माँग थी, जिसमें भूमि का पुनर्वितरण और कृषक स्वाभिमान निहित था।

आज भी देश के कई राज्यों में बड़े भू-स्वामियों और ठेकेदारी खेती का वर्चस्व है, जबकि वास्तविक कृषक और खेत मजदूर शोषण के शिकार हैं। यही नहीं, कृषि नीतियों का उद्योगोन्मुखीकरण किसानों को और अधिक हाशिए पर धकेल रहा है।

इस परिप्रेक्ष्य में सहजानन्द का दर्शन — भूमि के सामूहिक स्वामित्व, उत्पादन के सामुदायिक नियंत्रण, और ग्राम स्वराज की कल्पना — आज की कृषि नीतियों के लिए एक वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रदान करता है।

### 6.3 जाति-उन्मूलन और सामाजिक समता की चुनौती

आज भी भारत की सामाजिक संरचना जाति आधारित हिंसा, सामाजिक बहिष्कार और आरक्षण विरोधी विमर्श से ग्रस्त है। संविधान ने समानता की गारंटी दी, पर सामाजिक व्यवहार में जातिगत ऊँच-नीच और भेदभाव अब भी गहराई से व्याप्त है।

स्वामी सहजानन्द का जाति-उन्मूलन का दृष्टिकोण आज के “सामाजिक न्याय” के विमर्श से कहीं अधिक व्यापक और क्रांतिकारी था। वे जाति को एक धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक सत्ता-संरचना के रूप में देखते थे<sup>3</sup>। उन्होंने इसे केवल दलितों का मुद्दा नहीं माना, बल्कि भारतीय समाज के समग्र रूपांतरण से जोड़ा।

उनकी यह समझ आज की बहुजन राजनीति और नव-आंबेडकरी विमर्श के लिए एक आलोचनात्मक आधार प्रस्तुत करती है, जहाँ केवल सत्ता में भागीदारी नहीं, बल्कि सामाजिक पुनर्रचना की माँग उठती है।

#### 6.4 किसान आंदोलनों में वैचारिक रिक्तता और सहजानन्द की प्रासंगिकता

हाल के वर्षों में भारत में किसानों के कई व्यापक आंदोलन हुए — विशेषकर 2020–2021 का ऐतिहासिक किसान आंदोलन, जिसने सरकार द्वारा लाए गए तीन कृषि कानूनों का विरोध किया। इस आंदोलन ने सहजानन्द की स्मृति को फिर से प्रासंगिक बना दिया, क्योंकि आंदोलन के बीच किसानों की माँगें वही थीं जिन्हें सहजानन्द ने 80 वर्ष पहले उठाया था<sup>4</sup>।

हालाँकि, इन आंदोलनों में विचारधारात्मक स्पष्टता और ऐतिहासिक परंपरा से संवाद की कमी भी देखी गई। सहजानन्द का विचार, जो किसान को केवल एक आर्थिक वर्ग नहीं, बल्कि एक राजनीतिक इकाई और नैतिक शक्ति के रूप में देखता था, आज के किसान आंदोलनों को एक सैद्धांतिक आधार दे सकता है।

वे किसानों के लिए केवल नीतिगत रियायतों के नहीं, बल्कि संविधानिक अधिकारों के पक्षधर थे। उन्होंने किसान चेतना को आत्मनिर्भरता, संगठित शक्ति, और वर्गीय चेतना के साथ जोड़ने का कार्य किया — जो आज भी किसान आंदोलनों में अत्यंत आवश्यक है<sup>5</sup>।

#### 6.5 लोकतंत्र, नैतिकता और सत्ता की जवाबदेही

आज का भारतीय लोकतंत्र भी संकट में दिखाई देता है। राजनैतिक दलों की पूंजी पर निर्भरता, विचारधारा का लोप, और जन प्रतिनिधियों का नैतिक अवसान लोकतंत्र की जड़ों को खोखला कर रहा है। ऐसे समय में स्वामी सहजानन्द का राजनीति-दर्शन — जो सत्ता नहीं, सेवा; लोकप्रियता नहीं, प्रतिबद्धता; और संगठन नहीं, आंदोलन को महत्व देता है — राजनीतिक पुनरुत्थान के लिए एक नैतिक ढाँचा प्रस्तुत करता है।

उन्होंने कहा था: “राजनीति सेवा नहीं रही तो वह शोषण का साधन बन जाएगी।”

यह चेतावनी आज के लोकतंत्र के लिए अत्यंत प्रासंगिक है, जब राजनीति लोकहित के बजाय निजी स्वार्थ का माध्यम बनती जा रही है।

#### 6.6 शैक्षणिक विमर्श और उपेक्षा का प्रश्न

दुर्भाग्यवश, स्वामी सहजानन्द को भारत के शैक्षणिक विमर्श में वह स्थान नहीं मिला, जिसके वे वास्तविक हकदार थे। पाठ्यक्रमों, राजनीतिक सिद्धांतों और विश्वविद्यालयीय शोधों में उनका नाम सीमित संदर्भों में ही आता है। जबकि वे भारतीय किसान आंदोलन, समाजवादी राजनीति और सामाजिक सुधार के अद्वितीय चिंतक थे।

आज जब अकादमिक जगत भारतीय संदर्भ में वैकल्पिक आधुनिकता (Alternative Modernity) की तलाश कर रहा है, सहजानन्द का योगदान स्वदेशी सामाजिक विज्ञान की एक गहरी जड़ बन सकता है।

स्वामी सहजानन्द सरस्वती की प्रासंगिकता किसी संकीर्ण इतिहास-बोध का हिस्सा नहीं है, बल्कि वह एक जीवंत वैकल्पिक दृष्टि है, जो आज भी समाज, राजनीति और संस्कृति में हस्तक्षेप कर सकती है। वे

उन चुनिंदा नेताओं में थे जिन्होंने विचार और क्रिया, धर्म और राजनीति, वर्ग और जाति, संगठन और आंदोलन — सभी के बीच एक नैतिक संतुलन और क्रांतिकारी दिशा को संभव किया।

उनकी उपेक्षा हमारी विचारधारात्मक शिथिलता का प्रमाण है, और उनकी पुनर्पाठ आज की वैचारिक रिक्तता को भरने की एक ऐतिहासिक आवश्यकता।

## 7: समालोचनात्मक मूल्यांकन

स्वामी सहजानन्द सरस्वती का व्यक्तित्व बहुआयामी था—एक सन्यासी, एक क्रांतिकारी किसान नेता, समाज-सुधारक, और विचारक। वे धर्म और राजनीति, विचार और आंदोलन, नेतृत्व और नैतिकता के मिलन-बिंदु पर खड़े एक ऐसे विरल ऐतिहासिक पात्र हैं जिनकी व्याख्या केवल किसी एक में नहीं की जा सकती। लेकिन किसी भी ऐतिहासिक व्यक्तित्व का मूल्यांकन केवल उसकी उद्देश्यपरक प्रशंसा तक सीमित नहीं रह सकता। एक समालोचनात्मक दृष्टिकोण से सहजानन्द के योगदान, सीमाएँ, प्रभाव और विरासत की निष्पक्ष जाँच आवश्यक है।

### 7.1 सकारात्मक पक्ष

#### (i) किसान आंदोलन को वैचारिक गहराई प्रदान करना

स्वामी सहजानन्द ने किसान आंदोलन को केवल एक आर्थिक असंतोष की अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं रखा। उन्होंने इसे वर्गीय चेतना, सामाजिक न्याय और सांस्कृतिक अस्मिता के व्यापक संदर्भ में देखा। किसान को उन्होंने न केवल शोषित वर्ग के रूप में प्रस्तुत किया, बल्कि एक राजनीतिक इकाई के रूप में स्थापित किया।

उनकी विचारधारा ने किसान आंदोलनों को नारा, संगठन और विचार तीनों स्तरों पर समृद्ध किया—जो 'जो जोते वो खाए' जैसे नारों से लेकर अखिल भारतीय किसान सभा जैसी संस्थाओं तक स्पष्ट दिखता है।

#### (ii) धर्म और राजनीति के बीच सेतु निर्माण

सहजानन्द एक सन्यासी थे, परंतु उनका धर्म अंतर्मुखी साधना नहीं, बल्कि बाह्यमुखी सामाजिक क्रांति का माध्यम था। उन्होंने धर्म का उपयोग नैतिक चेतना और वर्गीय संघर्ष को वैधता देने के लिए किया, जो भारतीय परिप्रेक्ष्य में एक अनूठी रणनीति थी। वे गाँधी से भिन्न रूप में धर्म का राजनीतिक उपयोग करते थे—जमीनी न्याय और सामाजिक समानता के लिए।

#### (iii) जनता-आधारित राजनीति की परिकल्पना

उन्होंने सत्ता के विकेंद्रीकरण, सामुदायिक भागीदारी और ग्रामीण स्वराज की परिकल्पना प्रस्तुत की। यह विचार आज की प्रतिनिधिक लोकतंत्र की आलोचना करता है और जन राजनीति का एक वैकल्पिक खाका प्रस्तुत करता है, जिसमें सत्ता का उद्देश्य सेवा है, स्वामित्व नहीं<sup>3</sup>।

### 7.2 सीमाएँ

#### (i) विचारधारा का सीमित प्रसार

स्वामी सहजानन्द का दर्शन अत्यंत समृद्ध था, परंतु वह मुख्यधारा राजनीतिक दलों और शैक्षणिक विमर्श में स्थायी स्थान प्राप्त नहीं कर सका। इसके पीछे दो कारण हो सकते हैं:

- एक तो, उन्होंने अपने विचारों को स्पष्ट दार्शनिक प्रणाली (philosophical framework) के रूप में विकसित नहीं किया।
- दूसरा, उनकी लोक-आधारित वैचारिकी औपचारिक वामपंथ या राष्ट्रवादी राजनीति की संरचनाओं से टकराती थी।

### (ii) संगठन की स्थायित्वहीनता

अखिल भारतीय किसान सभा के गठन के बाद उसमें कम्युनिस्ट प्रभाव बढ़ता गया, जिससे स्वामी सहजानन्द स्वयं असहज हो गए थे। उन्होंने वैचारिक स्वतंत्रता बनाए रखने की कोशिश की, परंतु उनकी संगठनात्मक पकड़ कमजोर पड़ती गई। यह उनके नेतृत्व की व्यावहारिक सीमा को दिखाता है, जहाँ विचार श्रेष्ठ थे पर संस्थागत निरंतरता नहीं बन पाई।

### (iii) संत-सुधारक की दोहरी भूमिका में अस्पष्टता

स्वामी सहजानन्द के संत और राजनीतिक नेता दोनों रूपों में टकराव की स्थिति थी। कई बार उनके आध्यात्मिक आग्रह और सामाजिक क्रांति के लक्ष्य के बीच तनाव दिखाई देता है। एक ओर वे वैदिक परंपरा को सम्मान देते थे, दूसरी ओर जाति और ब्राह्मणवाद के आलोचक थे। यह द्वैधता उन्हें विचारात्मक स्पष्टता से दूर ले जाती है।

## 7.3 विश्लेषणात्मक प्रश्न

(i) क्या उनके विचारों का सीमित प्रभाव भारतीय समाज की सामूहिक चेतना की कमी थी या उनकी रणनीतिक विफलता?

यह एक द्विध्रुवीय प्रश्न है।

- एक ओर, सहजानन्द जिन सवालों को उठाते थे, वे भारतीय समाज के गहरे अंतर्विरोधों से जुड़े थे— जैसे जाति, भूमि, सत्ता का केंद्रीकरण—जिनके प्रति भारतीय जनता को उस समय पूर्ण राजनीतिक चेतना नहीं थी। इसलिए, उनका संदेश पूरी तरह ग्रहण नहीं किया जा सका।
- दूसरी ओर, यह भी कहा जा सकता है कि सहजानन्द के पास विचारों की गहराई तो थी, लेकिन राजनीतिक संप्रेषण (political communication) की रणनीति स्पष्ट नहीं थी। वे आंदोलनकारी थे, पर चुनावी नेता नहीं, और द्रष्टा थे, पर राजनीतिक संगठक की तीव्रता नहीं दिखाई।

(ii) क्या संत और समाजवादी की भूमिकाएँ परस्पर विरोधी थीं?

यह प्रश्न उनके व्यक्तित्व के द्वैध पक्ष की ओर संकेत करता है।

- सहजानन्द का धर्म सामाजिक न्याय से जुड़ा हुआ था, इसलिए उनके लिए संन्यास और समाजवाद विरोधाभासी नहीं थे।
- लेकिन व्यापक राजनीतिक और शैक्षणिक विमर्श उन्हें कभी 'पूरा वामपंथी' या 'पूरा धर्मगुरु' मानने में हिचकता रहा। यही कारण है कि उनकी विरासत दोनों क्षेत्रों में आधी-अधूरी स्वीकार्यता के साथ रह गई।

स्वामी सहजानन्द का मूल्यांकन करते समय हमें उनकी द्वैधताओं को कमजोरी नहीं, बल्कि उनकी ऐतिहासिक विशेषता के रूप में देखना चाहिए।

- वे एक ऐसे चिंतक थे जो भारतीय राजनीति में धर्म, नैतिकता, वर्ग संघर्ष और सामाजिक न्याय को जोड़ने का जोखिम उठाते हैं।
- उनकी सीमाएँ इस बात की ओर संकेत करती हैं कि वैचारिक गहराई और राजनीतिक सफलता हमेशा समानांतर नहीं चलती।

उनकी विचारधारा आज भी प्रासंगिक है, पर उसे पुनर्पाठ और पुनर्संयोजन की आवश्यकता है—विशेष रूप से समकालीन किसान आंदोलन, सामाजिक न्याय और ग्राम स्वराज के संदर्भ में।

### निष्कर्ष:

स्वामी सहजानन्द सरस्वती भारतीय राजनीति और सामाजिक चेतना के इतिहास में एक ऐसे विचारक, संगठक और कर्मशील संत के रूप में प्रतिष्ठित हैं, जिन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के भीतर किसान, मजदूर, दलित और शोषित वर्गों के स्वर को वैचारिक और आंदोलनात्मक पहचान प्रदान की। उनका व्यक्तित्व धर्म और समाजवाद, जाति-विरोध और वर्ग-संघर्ष, नैतिकता और राजनीतिक व्यावहारिकता के मध्य संतुलन की अनूठी मिसाल प्रस्तुत करता है।

इस शोध में यह स्पष्ट हुआ कि सहजानन्द ने केवल किसान आंदोलन का नेतृत्व नहीं किया, बल्कि उन्होंने भारतीय राजनीति में 'किसान वर्ग' को एक स्वतंत्र राजनीतिक इकाई के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने भूमि पर अधिकार, सामाजिक समता, और न्याय-आधारित लोकतंत्र की अवधारणाओं को केवल राजनीतिक नारे तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे व्यावहारिक कार्यक्रमों और आंदोलनों के माध्यम से लागू करने का भी प्रयास किया।

उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता कई बार मुख्यधारा राजनीति—चाहे वह कांग्रेस रही हो या वामपंथी दल—से टकराती रही। यह टकराव केवल राजनीतिक रणनीति का नहीं था, बल्कि यह उस वैकल्पिक राष्ट्रवाद का प्रतीक था, जो सत्ता के केंद्रीकरण के विरुद्ध जनता आधारित स्वराज्य की संकल्पना करता था।

स्वामी सहजानन्द का सामाजिक दर्शन भी उतना ही प्रखर था। जाति प्रथा के विरुद्ध उनका दृष्टिकोण आज के समकालीन सामाजिक न्याय के विमर्शों से कहीं अधिक मूलगामी और क्रांतिकारी था। उन्होंने स्वयं ब्राह्मण होते हुए ब्राह्मणवाद की आलोचना की और जाति उन्मूलन को स्वराज्य की पूर्वशर्त बताया। यह उनके साहसी और नैतिक बोध की पुष्टि करता है।

ध्यान देने योग्य एक और तथ्य यह है कि सहजानन्द ने धर्म को सामाजिक मुक्ति का औजार बनाया। उन्होंने धर्म के कर्मकांडी और दमनकारी स्वरूप की आलोचना करते हुए एक नैतिक-राजनीतिक धर्मशास्त्र विकसित किया, जो भारतीय समाज के गहरे सांस्कृतिक ढाँचे को छूता है। उनकी यह दृष्टि गांधीवादी नैतिकता से भिन्न, किंतु उससे संवाद करती प्रतीत होती है।

हालाँकि, उनके आंदोलन और विचारधारा की कुछ सीमाएँ भी थीं। संगठनात्मक संरचना की दीर्घकालिकता, विचारधारात्मक प्रचार की सीमितता, तथा मुख्यधारा दलों से वैचारिक टकराव ने उनकी

ऐतिहासिक भूमिका को अपेक्षाकृत सीमित दायरे में बाँध दिया। इसके बावजूद, यह निर्विवाद है कि उन्होंने जो बौद्धिक और वैचारिक विरासत छोड़ी, वह आज के सामाजिक आंदोलनों, किसानों के अधिकारों और सामाजिक न्याय के सिद्धांतों के लिए अत्यंत प्रासंगिक और प्रेरक है।

आज जब भारतीय लोकतंत्र सांस्थानिक संकट, नैतिक पतन और सामाजिक विषमता के दौर से गुजर रहा है, सहजानन्द की विरासत एक ऐसे वैकल्पिक विमर्श को जन्म देती है, जो सत्ता और समाज के बीच नैतिक संवाद और राजनीतिक जवाबदेही की माँग करता है।

अतः कहा जा सकता है कि स्वामी सहजानन्द सरस्वती केवल इतिहास की स्मृति नहीं हैं, बल्कि वे वर्तमान और भविष्य की सामाजिक-राजनीतिक दिशा को पुनर्परिभाषित करने की प्रेरक शक्ति हैं। उनकी वैचारिक संकल्पना, नैतिक प्रतिबद्धता और आंदोलनधर्मी दृष्टि—तीनों मिलकर एक ऐसे भारत की कल्पना करती हैं, जहाँ स्वतंत्रता केवल राजनीतिक नहीं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक भी हो।

#### संदर्भ :

1. बंधोपाध्याय, शेखर. (2004). फ्रॉम प्लासी टू पार्टीशन एंड आफ्टर: ए हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इंडिया. हैदराबाद: ओरिएंट ब्लैकस्वान.
2. देसाई, ए. आर. (1959). पीजेंट स्ट्रगल्स इन इंडिया. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
3. धनगड़े, डी. एन. (1983). भारत में किसान आंदोलन: 1920-1950. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
4. हार्डिमन, डेविड. (1997). द कमिंग ऑफ द देवी: आदिवासी असर्शन इन वेस्टर्न इंडिया. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
5. ओमवेदत, गैल. (1994). दलित्स एंड द डेमोक्रेटिक रिवाल्यूशन: डॉ. आंबेडकर एंड द दलित मूवमेंट इन कोलोनियल इंडिया. नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन्स.
6. राय, भारती. (2002). एग्रेरियन मूवमेंट्स एंड फ्रीडम स्ट्रगल इन इंडिया. नई दिल्ली: मनोहर पब्लिशर्स.
7. सहजानन्द सरस्वती. (1947). मेरा जीवन संघर्ष. पटना: किसान पब्लिकेशन्स.
8. सहजानन्द सरस्वती. (1949). जमींदारी प्रथा. वाराणसी: किसान पब्लिकेशन्स.
9. सहजानन्द सरस्वती. (1942). क्या कांग्रेस ने किसानों का साथ दिया है? पटना: किसान सभा प्रकाशन.
10. सहजानन्द सरस्वती. (1939). किसान कैसे जिए? वाराणसी: स्वदेशी प्रकाशन.
11. सहजानन्द सरस्वती. (1940). भूमिहीनों की समस्या और उसका समाधान. पटना: खेतिहर मजदूर मंच.
12. सहजानन्द सरस्वती. (1937). ब्राह्मणत्व का भंडाफोड़. बनारस: किसान प्रेस.
13. सहजानन्द सरस्वती. (1941). किसान सभा के उद्देश्य और कार्यक्रम. इलाहाबाद: किसान प्रकाशन.
14. उपाध्याय, योगेन्द्र. (1991). स्वामी सहजानन्द सरस्वती: जीवन और विचार. नई दिल्ली: राष्ट्रीय बुक ट्रस्ट.
15. सिन्हा, के. के. (1984). स्वामी सहजानन्द और किसान आंदोलन. पटना: बिहार राष्ट्रभाषा परिषद.

## **From Mobilization to Micro-Targeting: A Decade of Social Media Transformation in Indian Political Campaigns (2014–2024)**

**AKSHAT SHARMA\***

**sharmaakshat824@gmail.com**

**DR. AMITA†**

**amitamgarh07@gmail.com**

### ***Abstract***

*This paper traces the evolution of social media as a political communication tool in Indian electoral campaigns, spanning from the landmark 2014 general election—often described as the country’s first “social media election”—to the period leading up to the 2024 Lok Sabha polls. Drawing on secondary literature, it examines how digital platforms shifted from peripheral campaign aids to central instruments for voter outreach and narrative control, shaped by India’s expanding base of over 900 million internet users. Using Agenda-Setting and Framing theories as analytical lenses, the study explores changing strategies in issue prioritization, message construction, and audience targeting. It identifies a broader transformation from mass mobilization to micro-targeted campaigns, highlighting key trends such as the Bharatiya Janata Party’s (BJP) early digital advantage, the proliferation of misinformation, and the increasing importance of platforms like Instagram and WhatsApp in engaging youth and rural voters. By situating these developments historically, the paper underscores the need for robust ethical and regulatory frameworks to counter polarization and promote equitable participation in India’s evolving digital democracy.*

### ***Keywords:***

*social media, political campaigns, India, elections, agenda-setting, framing, misinformation*

---

\* ***Research Scholar, Department of Journalism and Mass Communication,  
Banaras Hindu University***

† ***Associate Professor (Head of Department), Department of Mass Communication,  
Central University of Haryana***

## 1. Introduction

The rise of social media has fundamentally reshaped political communication worldwide, enabling direct interaction between political actors and citizens, bypassing traditional gatekeepers such as newspapers, radio, and television. Nowhere has this transformation been more significant than in India, the world's largest democracy, where digital platforms have rapidly become integral to electoral politics. By 2024, India had more than 900 million internet users, with approximately 60% of social media users under the age of 35. This young, digitally active demographic has made platforms such as X (formerly Twitter), Facebook, Instagram, and WhatsApp indispensable tools for political engagement and persuasion.

The pivotal moment in this transformation was the 2014 general election, often referred to as India's first "social media election." It marked a fundamental shift from traditional campaign practices—dominated by print, broadcast media, and public rallies—to a new model where digital tools enabled politicians to speak directly to voters. Rapid internet penetration, affordable smartphones, and improved data connectivity, including in rural regions where around 30% of users reside, provided fertile ground for this shift. The Bharatiya Janata Party (BJP) capitalized early on these developments, orchestrating a large-scale digital campaign that helped mobilize millions and set a template for future elections.

By 2019, social media had become a decisive arena for political competition. Campaigns were no longer limited to simple online presence but evolved into complex ecosystems involving data analytics, influencer networks, and targeted messaging strategies. Political parties adapted their communication styles to platform-specific affordances, producing short-form videos for Instagram, hashtags for X, and localized messaging on WhatsApp. The pre-2024 period saw even greater sophistication, with campaigns using artificial intelligence (AI) tools, multilingual content strategies, and micro-targeting techniques to reach diverse linguistic and cultural constituencies across India.

This paper investigates how these transformations unfolded over three key electoral cycles: 2014, 2019, and the period leading up to the 2024 elections. It seeks to answer three central questions:

1. How have political parties' social media strategies evolved across successive election cycles in India?

2. How can Agenda-Setting and Framing theories help explain these changes in political communication?
3. What implications do these developments hold for democratic participation and discourse in a country as diverse as India?

The study's significance lies in its historical and longitudinal perspective. Whereas much of the existing research focuses on single elections or specific platforms, this paper synthesizes secondary literature—including academic articles, reports, and media analyses—to offer a broader narrative of continuity and change. It applies Agenda-Setting Theory (McCombs & Shaw, 1972) to show how digital platforms shape public priorities and Framing Theory (Entman, 1993) to illustrate how political messages are constructed to influence public perception and emotional response. Through this lens, it highlights both the democratic potential of social media—such as enhancing youth participation and expanding political discourse—and its risks, including misinformation, polarization, and deepening digital divides.

India presents a unique case study due to its scale and diversity. With nearly 970 million eligible voters in 2019, its electorate far surpasses those of other major democracies, and its linguistic and cultural plurality demands communication strategies that are both inclusive and locally attuned. As a result, social media has not only transformed campaign practices but also influenced how political discourse is constructed and contested in a multilingual and multicultural context.

Understanding this evolution is essential for scholars, policymakers, and citizens alike. As India's democracy becomes increasingly digital, the dynamics explored in this paper provide critical insights into how technology is reshaping electoral politics and how democratic institutions might respond to ensure that digital transformation strengthens rather than undermines democratic values.

## 2. Literature Review

The literature on the role of social media in Indian political campaigns has expanded significantly over the past decade, reflecting both global theoretical developments and the unique sociopolitical context of India. This section synthesizes key scholarly debates, empirical findings, and theoretical frameworks, focusing on how digital platforms have transformed political communication and electoral strategies from 2014 onward.

## 2.1 Theoretical Foundations: Agenda-Setting and Framing

Two foundational theories underpin much of the scholarship on political communication in the digital age: **Agenda-Setting Theory** and **Framing Theory**.

Agenda-Setting Theory, first articulated by McCombs and Shaw (1972), posits that media may not tell people what to think, but it powerfully influences *what* they think about. By prioritizing certain issues through repetitive emphasis, media can shape public discourse and political agendas. In the context of digital campaigns, social media platforms serve as agenda-setters by allowing political actors to foreground specific themes—such as development, nationalism, or security—through strategic posting, trending hashtags, and viral content. The Bharatiya Janata Party’s (BJP) 2014 campaign exemplified this approach by repeatedly emphasizing narratives of “vikas” (development) and anti-corruption, thereby shifting public focus away from the incumbent Congress Party’s welfare-centric messaging.

Framing Theory, developed by Entman (1993), extends this understanding by examining how media shape *how* people think about issues. Framing involves selecting and highlighting particular aspects of reality to promote specific interpretations, evaluations, or solutions. In political campaigns, framing is used to cast policies, leaders, or opponents in a favorable or unfavorable light. For example, BJP’s framing of opposition criticisms as “anti-national” during and after the 2014 elections mobilized nationalist sentiment and delegitimized dissent, while the Congress Party attempted counter-framing through slogans like *Chowkidar Chor Hai* (“the watchman is a thief”) in 2019 to question Prime Minister Narendra Modi’s integrity.

Together, these theories offer a powerful lens for understanding how social media platforms shape political discourse—not merely as channels of communication but as arenas where agendas are set, frames are contested, and public opinion is constructed.

## 2.2 Global Benchmarks and Influences

The global literature on digital campaigning provides valuable context for understanding India’s trajectory. Barack Obama’s 2008 presidential campaign is widely regarded as a watershed moment in the integration of social media into electoral politics. Obama’s team used Facebook and Twitter to mobilize supporters, fundraise, and micro-target voters, demonstrating the power of digital platforms for political organization (Castells, 2008; Shirky, 2010). Similarly, Donald Trump’s 2016 campaign illustrated how social media could be leveraged to disseminate populist messages

directly to millions, bypassing traditional media filters and setting agendas independently (Ott, 2017).

These global examples informed Indian political parties' approaches. Narendra Modi's adoption of Twitter, for instance, mirrored aspects of Obama's and Trump's strategies but adapted them to India's sociopolitical context. Modi's posts blended personal storytelling, cultural references, and ideological messaging, creating a powerful narrative that resonated with aspirational middle-class voters (IAFOR, 2014; VOA, 2014).

### **2.3 Social Media in the 2014 Elections: A Watershed Moment**

The 2014 general election marked the first large-scale integration of social media into Indian political campaigns. Scholars widely describe it as a turning point, transforming how political messages were crafted and disseminated. Modi's digital strategy was particularly significant: his prolific use of Twitter, targeted Facebook advertising, and extensive WhatsApp networks allowed the BJP to reach millions directly, bypassing traditional media gatekeepers (IAFOR, 2014).

The demographic composition of social media users amplified this impact. A significant proportion of first-time voters were digitally active, and platforms like Facebook and Twitter became crucial spaces for political engagement. Social media's interactivity enabled two-way communication, enhancing perceived accessibility and accountability of leaders. Studies estimate that digital platforms influenced up to 30% of young voters, playing a decisive role in BJP's electoral success (CNN, 2019).

However, this phase also exposed early challenges, particularly the **digital divide**. Rural and marginalized communities, with limited internet access, remained largely outside this new political communication sphere, raising concerns about inclusivity and democratic equity.

### **2.4 The 2019 Elections: Consolidation and Emerging Risks**

By 2019, the use of social media in Indian politics had matured significantly. Campaigns were no longer experimental but highly professionalized, with political parties investing heavily in digital infrastructure and analytics. BJP's *#PhirEkBaarModiSarkar* ("Modi government once more") campaign exemplified this evolution, integrating memes, targeted advertisements, and influencer collaborations to amplify narratives of economic growth and national security (EPW, 2019).

WhatsApp emerged as a particularly influential tool. With over 400 million users in India, the platform became a primary channel for grassroots mobilization and localized messaging. However, its encrypted nature also facilitated the spread of misinformation, which became a defining feature of the 2019 campaign environment.

Scholars like Neyazi (2018) argue that digital campaigning's influence on electoral outcomes deepened considerably during this period, with BJP's sophisticated data-driven strategies far outpacing those of the opposition. Emotional appeals—particularly those evoking anger, fear, or pride—proved especially effective at driving engagement and reinforcing partisan identities (Ott, 2017). This trend contributed to rising polarization, as echo chambers and filter bubbles intensified ideological divides.

### **2.5 Pre-2024 Campaigns: Micro-Targeting and Platform Diversification**

Recent literature on the pre-2024 period highlights further evolution toward hyper-targeted, personalized communication strategies. As platforms diversified and audience preferences shifted, political parties increasingly tailored their messages to specific demographics and linguistic groups. Instagram reels and YouTube Shorts became popular vehicles for reaching Gen Z voters, while multilingual WhatsApp messages aimed to bridge the urban–rural divide (SRI RAM IAS, 2024).

Opposition parties also adapted, with the Indian National Congress leveraging digital platforms to amplify its *Bharat Jodo Yatra* and craft counter-narratives. However, asymmetries persisted, particularly in terms of resources, technological capacity, and organizational infrastructure. Regulatory concerns grew more prominent during this period, as misinformation, deepfakes, and algorithmic biases raised questions about electoral integrity (Heinrich Böll Stiftung, 2024).

### **2.6 Gaps in the Literature**

Despite substantial scholarship, notable gaps remain. Many studies focus narrowly on single election cycles or specific platforms, limiting longitudinal analysis of how strategies have evolved over time. Moreover, the digital divide—particularly the disparities in access and literacy between urban and rural populations—remains underexplored in the context of political participation. This paper seeks to address these gaps by adopting a historical perspective, synthesizing evidence across three electoral cycles, and applying Agenda-Setting and Framing theories to trace evolving patterns in social media use.

### 3. Historical Analysis: Evolution of Social Media in Indian Political Campaigns

The integration of social media into Indian political campaigns has not been linear but has evolved significantly over three key electoral cycles: 2014, 2019, and the pre-2024 period. Each phase reflects shifts in political communication strategies, voter engagement patterns, and platform dynamics, shaped by broader technological and socio-political contexts. This section traces that evolution, examining how social media transitioned from a supplementary communication tool to a central instrument of political strategy.

#### 3.1 The 2014 Elections: The Dawn of Digital Mobilization

The 2014 Lok Sabha elections marked a watershed in Indian political communication. For the first time, social media platforms were deployed systematically and strategically in a national campaign. This election, frequently described as India's first "social media election" (VOA, 2014), demonstrated the transformative potential of digital platforms for political mobilization, particularly in a country characterized by demographic diversity and a large youth population.

At the forefront of this transformation was the Bharatiya Janata Party (BJP), led by Narendra Modi, who embraced social media as a key pillar of his campaign strategy. Modi's personal Twitter account became a central campaign tool, with millions of followers engaging with messages on development, anti-corruption, and nationalism (IAFOR, 2014). Unlike traditional media, which required journalists and editors as intermediaries, Twitter enabled Modi to communicate directly with citizens, bypassing institutional gatekeepers. This directness fostered a sense of authenticity and immediacy, resonating particularly with young, urban voters who were already active online.

The BJP's digital strategy was multi-layered. It combined real-time engagement on platforms like Twitter and Facebook with coordinated hashtag campaigns such as **#AbKiBaarModiSarkar** ("This time, a Modi government"), which trended nationally and framed the election as a decisive moment for change. WhatsApp emerged as an especially powerful tool. The BJP reportedly created over five million WhatsApp groups to disseminate messages, coordinate local activities, and build a sense of grassroots momentum. Unlike traditional media channels, which were subject to regulation by the Election Commission of India, WhatsApp groups enabled the rapid, unmediated spread of campaign messages.

The use of **Agenda-Setting** and **Framing** strategies was evident throughout the campaign. By consistently emphasizing themes of “vikas” (development) and “good governance,” the BJP shifted the public conversation away from the Indian National Congress (INC)’s welfare-oriented agenda (McCombs & Shaw, 1972). At the same time, framing opponents as corrupt and ineffective helped create a moral contrast that energized BJP supporters (Entman, 1993).

Importantly, 2014 also revealed structural limitations. The digital divide meant that social media’s reach was heavily concentrated in urban and semi-urban areas. Internet penetration in rural India remained relatively low, and many voters continued to rely on traditional campaign methods such as rallies, posters, and television advertising. Opposition parties, especially the INC, were slower to adapt to the new digital environment, relying primarily on conventional media and lagging in online outreach. This asymmetry contributed to the BJP’s substantial electoral advantage and ultimately its landslide victory.

Scholars estimate that social media influenced the voting decisions of 20–30% of young voters in 2014 (CNN, 2019). The election thus demonstrated the power of digital platforms to shape electoral outcomes in a country with a large, youthful, and increasingly connected electorate. It also set the stage for future campaigns, illustrating how social media could be used not only to disseminate information but to shape political discourse and mobilize supporters at scale.

### **3.2 The 2019 Elections: Maturation and the Rise of Misinformation**

By the time of the 2019 Lok Sabha elections, social media had evolved from an experimental campaign tool into a central arena for political competition. The scale of online engagement had grown dramatically, reflecting both the rapid expansion of India’s internet user base and the increasing sophistication of digital campaign strategies. Political parties significantly increased their digital spending, with estimates suggesting a 20% rise in online advertising expenditure compared to 2014.

The BJP, building on its 2014 success, further professionalized its digital operations. The campaign adopted advanced data analytics, artificial intelligence (AI)-driven audience segmentation, and content optimization techniques to target messages with unprecedented precision (EPW, 2019). The slogan **#PhirEkBaarModiSarkar** (“Modi government once more”) captured the continuity narrative, highlighting achievements in economic growth, infrastructure, and national security. These themes were reinforced

through a coordinated ecosystem of memes, videos, influencer endorsements, and hashtag campaigns.

Platform diversification was another key feature of 2019. While Twitter and Facebook remained important, WhatsApp and YouTube grew significantly in strategic relevance. WhatsApp, with over 400 million users in India, became a cornerstone of micro-level mobilization, particularly in semi-urban and rural areas where broadcast media reach was limited. YouTube was used for longer-form storytelling, including campaign documentaries and speeches, while Instagram targeted younger voters with visually engaging content such as infographics and short videos.

The BJP's agenda-setting efforts in 2019 were evident in its emphasis on national security, particularly following the Pulwama terrorist attack. Social media narratives framed the election as a choice between strong leadership and weak governance, successfully shifting public discourse (Heinrich Böll Stiftung, 2024). The INC attempted to counter this narrative with campaigns such as **#ChowkidarChorHai**, accusing Modi of corruption in defense deals. While the slogan gained some traction, studies suggest it struggled to match the BJP's scale and coherence in digital messaging.

However, 2019 also revealed the darker side of digital campaigning. Misinformation emerged as a major concern, with coordinated disinformation campaigns spreading rapidly across encrypted WhatsApp groups. False news stories, manipulated images, and misleading videos often went viral, shaping public perceptions in ways that were difficult to trace or counter. These dynamics contributed to heightened polarization, with emotional content—particularly anger and fear—proving especially viral (Ott, 2017).

The persistence of the **digital divide** remained a structural challenge. Although rural internet penetration had improved significantly since 2014, disparities in access and digital literacy limited the inclusiveness of online political participation. Nevertheless, the expansion of mobile internet meant that social media's influence extended deeper into the electorate than ever before, including among rural voters.

The 2019 elections thus marked a maturation of digital campaigning in India. Social media was no longer supplementary but central to electoral strategy, shaping narratives, influencing agendas, and mobilizing voters. Yet, this maturation came with new risks—chief among them, misinformation and polarization—that posed significant challenges to democratic discourse and electoral integrity.

### 3.3 Pre-2024 Campaigns: Micro-Targeting, Inclusivity, and Regulatory Challenges

The period leading up to the 2024 Lok Sabha elections witnessed another significant shift in the use of social media for political campaigning. With the digital ecosystem now deeply embedded in Indian political life, campaign strategies evolved toward hyper-personalization, multilingual outreach, and platform-specific targeting. These developments reflected both technological advances and the changing demographics of India's online population.

By 2023, India had over 900 million internet users, with a substantial proportion accessing the internet primarily through mobile devices (Hindustan Times, 2024). Social media penetration extended further into rural regions, where localized messaging and vernacular content became essential components of campaign strategy. Parties increasingly recognized the need to engage voters in their native languages, tailoring messages to regional contexts and cultural sensibilities. This multilingual turn marked a departure from the predominantly Hindi-English focus of earlier campaigns and signaled a more inclusive approach to digital political communication.

Micro-targeting became the defining feature of pre-2024 digital strategies. Leveraging AI-driven data analytics, political parties crafted personalized messages based on voters' demographics, interests, and online behaviors (OII, 2024). Instagram reels and YouTube Shorts emerged as particularly effective tools for reaching Gen Z voters, while WhatsApp continued to dominate local-level communication, especially in small towns and villages. TikTok, before its ban, had also been used to engage younger audiences with short, emotionally resonant political content (SRI RAM IAS, 2024).

The BJP continued to lead in digital innovation, maintaining a significant resource and organizational advantage over its rivals. Its campaigns focused on achievements in diplomacy, economic growth, and infrastructure, often framed in ways that emphasized stability and national pride. Opposition parties, especially the INC, sought to counter this dominance through new digital initiatives, integrating online messaging into broader campaigns such as the *Bharat Jodo Yatra* (P. S., 2023). These efforts aimed to humanize party leaders, rebuild grassroots connections, and craft alternative narratives, though they often faced challenges in matching the BJP's scale and coordination.

Misinformation remained a critical concern during this period. The proliferation of deepfakes, doctored videos, and false narratives raised alarms about electoral manipulation and public trust in democratic institutions (Heinrich Böll Stiftung, 2024). Calls for stronger regulation, platform accountability, and fact-checking mechanisms

grew louder, prompting debates over how to balance free expression with electoral integrity. Despite these challenges, social media's reach and influence continued to expand, deepening its role in shaping political discourse and voter behavior.

Another notable feature of the pre-2024 landscape was the growing emphasis on **inclusivity**. Political actors increasingly acknowledged the importance of engaging historically underrepresented groups, including rural populations, women, and linguistic minorities. Efforts to address the urban–rural digital divide included localized content strategies and community-based digital literacy initiatives. However, disparities persisted, and the benefits of digital political engagement remained unevenly distributed across regions and social groups.

The pre-2024 phase illustrates both the opportunities and the challenges of digital campaigning in India's democracy. On one hand, technological advances and innovative strategies have enabled more targeted, inclusive, and dynamic political communication. On the other, the persistence of misinformation, regulatory gaps, and structural inequalities pose significant risks to democratic inclusivity and electoral fairness.

### **3.4 Synthesis: From Mobilization to Micro-Targeting**

Across these three electoral cycles, social media's role in Indian political campaigns evolved from a nascent mobilization tool in 2014 to a mature strategic platform in 2019 and a hyper-targeted ecosystem in the run-up to 2024. Each phase reflects broader transformations in India's digital landscape and political culture:

- **2014** demonstrated social media's potential to bypass traditional media and mobilize new voter segments, particularly urban youth.
- **2019** consolidated social media's centrality in campaigns, with sophisticated strategies and expanded reach but also highlighted new risks such as misinformation and polarization.
- **Pre-2024** showcased the future of digital politics, marked by micro-targeting, multilingual outreach, and regulatory debates, while underscoring persistent challenges of inclusivity and integrity.

These historical developments underline the dual nature of social media as both a democratizing force and a potential threat to democratic norms. Its capacity to enhance participation and reshape political communication is matched by its ability to amplify misinformation, deepen divides, and challenge institutional safeguards.

#### 4. Discussion

The historical trajectory of social media in Indian political campaigns from 2014 to the pre-2024 period reveals a dynamic interplay of technological innovation, political strategy, and democratic transformation. Over a decade, social media shifted from a peripheral communication tool to a core element of electoral politics, reshaping how political messages are constructed, disseminated, and consumed. This evolution has profound implications for political discourse, voter behavior, and democratic practice in India.

##### 4.1 From Mass Mobilization to Precision Targeting

A central pattern emerging from this historical analysis is the shift from broad-based mobilization to highly targeted campaigning. In 2014, social media was primarily used to reach large audiences with relatively uniform messages centered on development and governance. The BJP's success in deploying platforms like Twitter and WhatsApp to mobilize urban youth and first-time voters demonstrated the power of digital tools for mass outreach (IAFOR, 2014; CNN, 2019). The focus was on building visibility and framing the election as a transformative moment, often through repetitive messaging that set the agenda and shaped public priorities.

By 2019, however, social media strategies had become more nuanced and segmented. The integration of data analytics and AI-enabled targeting allowed political actors to tailor messages to specific demographic groups. Campaigns diversified their platform strategies, using YouTube for longer policy narratives, Instagram for visual storytelling, and WhatsApp for localized mobilization. This evolution illustrates a broader trend in digital politics: the shift from one-size-fits-all messaging to micro-segmentation, where communication is tailored to the preferences, identities, and behaviors of specific voter groups.

The pre-2024 period deepened this trend further. Political campaigns embraced hyper-personalization, delivering messages crafted not just for demographic segments but for individuals based on detailed behavioral data (OII, 2024). This level of precision enhances the effectiveness of political communication but also raises questions about transparency, privacy, and the potential for manipulation. The use of AI-driven tools and algorithmic targeting underscores a new era of political communication in which voter persuasion is increasingly data-driven and individualized.

## 4.2 Agenda-Setting and Framing in the Digital Era

The evolution of social media campaigning in India illustrates the continued relevance—and transformation—of Agenda-Setting and Framing theories in the digital era. In 2014, the BJP's strategic emphasis on “vikas” (development) and anti-corruption narratives exemplified classic agenda-setting, shifting public discourse toward issues favorable to the party (McCombs & Shaw, 1972). By repeatedly highlighting these themes across multiple platforms, the BJP influenced what voters considered the most salient electoral issues.

Framing has been equally central to digital campaign strategies. Political messages on social media often go beyond highlighting issues; they shape how those issues are interpreted. For example, framing opposition criticism as “anti-national” or portraying strong leadership as essential for national security has been instrumental in mobilizing emotional responses and reinforcing partisan identities (Entman, 1993). Emotional framing became especially pronounced in 2019, when anger, pride, and fear were leveraged to increase engagement and loyalty (Ott, 2017).

In the pre-2024 period, framing strategies grew more sophisticated, often tailored to specific audiences. Multilingual messaging allowed parties to frame issues in culturally resonant ways, while short-form content on platforms like Instagram and YouTube Shorts framed political narratives through storytelling and visual symbolism (SRI RAM IAS, 2024). These developments show how digital platforms expand the scope of agenda-setting and framing, enabling political actors to shape not just what issues are discussed, but how they are understood across different linguistic and cultural contexts.

## 4.3 Democratic Opportunities and Challenges

The integration of social media into Indian political campaigns has generated significant democratic opportunities. It has expanded political participation, particularly among youth and first-time voters, who are more likely to consume news and engage with politics online. Social media has also lowered barriers to political communication, allowing smaller parties and independent candidates to reach voters without relying solely on mainstream media. Moreover, the interactive nature of digital platforms fosters two-way communication, enabling citizens to question leaders, share opinions, and participate in political discourse.

However, these opportunities are tempered by serious challenges. The **digital divide** remains a persistent obstacle. Despite significant growth in internet penetration,

disparities in access and digital literacy continue to exclude large segments of the population, particularly in rural areas and among marginalized communities. This uneven access risks creating a two-tiered democracy, where digital participation is concentrated among urban, educated, and affluent groups.

Misinformation represents another major threat. While 2014 saw relatively benign use of digital platforms, by 2019, coordinated disinformation campaigns—often spread through encrypted channels like WhatsApp—had become a defining feature of electoral communication (Heinrich Böll Stiftung, 2024). False narratives, doctored videos, and deepfakes distort public discourse, undermine trust in institutions, and influence voter behavior in opaque ways. The pre-2024 period has intensified these concerns, prompting debates about platform accountability, regulatory oversight, and the balance between free speech and electoral integrity.

The dominance of the BJP's digital machinery also raises questions about **political inequality** in the digital sphere. Resource asymmetries mean that larger, better-funded parties can invest more in data analytics, content production, and platform advertising, giving them disproportionate influence over online narratives (Neyazi, 2018). Smaller parties and opposition groups struggle to compete in this environment, potentially skewing democratic competition.

#### 4.4 Inclusivity and the Politics of Diversity

India's linguistic, cultural, and social diversity adds another layer of complexity to digital campaigning. Strategies that work in relatively homogeneous political systems—such as the United States—must be adapted to India's pluralistic context (Castells, 2008). The pre-2024 period saw greater attention to multilingual content, localized messaging, and culturally specific framing, reflecting an awareness that effective political communication must engage India's diverse electorate. However, inclusivity efforts remain uneven. Marginalized groups, including lower-caste communities, women, and rural populations, often remain underrepresented in digital political discourse.

The interplay between inclusivity and polarization is particularly significant. While social media can amplify diverse voices and perspectives, it can also reinforce social divisions by fostering echo chambers and algorithmic biases. Polarization driven by selective exposure and confirmation bias risks fragmenting public discourse, undermining the deliberative quality of democracy (Ott, 2017). This tension

underscores the importance of designing strategies and policies that promote inclusivity while mitigating the risks of digital fragmentation.

#### **4.5 Ethical and Regulatory Imperatives**

The evolution of social media in Indian politics highlights the urgent need for ethical frameworks and regulatory interventions. As campaigns become more data-driven and algorithmically optimized, concerns about privacy, manipulation, and transparency grow. The deployment of micro-targeting techniques raises questions about consent and accountability, particularly when voters are unaware of how their data is being used to influence their choices (OII, 2024).

Regulatory debates have intensified in the pre-2024 period, focusing on misinformation, platform responsibility, and electoral fairness (Heinrich Böll Stiftung, 2024). Strengthening fact-checking mechanisms, promoting algorithmic transparency, and enhancing digital literacy are critical steps toward safeguarding democratic processes. At the same time, regulatory approaches must balance the need to curb harmful practices with the protection of free expression and political pluralism.

#### **4.6 Synthesis**

The historical evolution of social media in Indian political campaigns illustrates both the transformative potential and the inherent risks of digital political communication. Social media has democratized access to political discourse, expanded participation, and enabled innovative forms of engagement. Yet it has also introduced new forms of inequality, deepened polarization, and challenged existing regulatory frameworks.

The application of Agenda-Setting and Framing theories helps illuminate these dynamics, showing how digital platforms shape not only the issues that dominate public discourse but also the ways those issues are interpreted and contested. As India approaches future electoral cycles, the lessons of the past decade underscore the need for strategies and policies that harness the democratic potential of social media while addressing its risks and unintended consequences.

#### **Conclusion**

The evolution of social media in Indian political campaigns from the 2014 general elections to the pre-2024 period represents a profound transformation in the nature of political communication and democratic engagement. What began as an experimental

tool for voter outreach has become a central pillar of campaign strategy, shaping agendas, framing narratives, and influencing electoral outcomes on an unprecedented scale.

The 2014 election marked the dawn of digital mobilization, as platforms like Twitter, Facebook, and WhatsApp enabled political leaders—most notably Narendra Modi and the Bharatiya Janata Party (BJP)—to bypass traditional media and communicate directly with voters. By 2019, digital campaigning had matured into a sophisticated ecosystem characterized by data-driven targeting, platform diversification, and emotionally charged framing. The pre-2024 period witnessed yet another transformation, as campaigns embraced micro-targeting, multilingual outreach, and AI-enabled personalization, reflecting both technological advances and India's complex sociocultural landscape.

Throughout this evolution, the principles of Agenda-Setting and Framing remain crucial for understanding how social media shapes political discourse. Digital platforms not only influence what issues dominate public attention but also how those issues are interpreted, debated, and acted upon. These processes have democratizing potential, enhancing participation and expanding the scope of political debate. Yet they also introduce significant risks, including misinformation, polarization, privacy concerns, and deepening inequalities between digitally connected and disconnected populations.

India's experience underscores both the possibilities and perils of digital democracy in a large, diverse, and rapidly changing society. As social media continues to evolve, future research should examine regional variations, the role of emerging platforms, and the impact of regulatory interventions on electoral integrity. Policymakers, scholars, and civil society must work collaboratively to develop ethical frameworks and governance mechanisms that preserve democratic values while harnessing the transformative potential of digital technology. Only then can social media fulfill its promise as a tool for inclusive and participatory democracy in India.

## References

1. Ahmed, S., Jaidka, K., & Cho, J. (2016). The 2014 Indian elections on Twitter: A comparison of campaign strategies of political parties. *Telematics and Informatics*, 33(4), 1071–1087.
2. Castells, M. (2008). The new public sphere: Global civil society, communication networks, and global governance. *The ANNALS of the American Academy of Political and Social Science*, 616(1), 78–93.

3. Economic and Political Weekly (EPW). (2019, December 28). How did social media impact India's 2019 general election? *EPW Engage*. <https://www.epw.in/engage/article/how-did-social-media-impact-india-2019-general-election>
4. Entman, R. M. (1993). Framing: Toward clarification of a fractured paradigm. *Journal of Communication*, 43(4), 51–58.
5. Hindustan Times. (2024, March 26). Lok Sabha elections 2024 will be fought on and decided by mobile phones. *Hindustan Times*. <https://www.hindustantimes.com/india-news/lok-sabha-elections-2024-will-be-fought-on-and-decided-by-mobile-phones-101711431727835.html>
6. Internet & Mobile Association of India (IAMAI) & Kantar. (2024). *Internet in India 2024: ICUBE report*. New Delhi, India: IAMAI. <https://www.iamai.in/research>
7. Konrad-Adenauer-Stiftung (KAS). (2019, December 19). *The impact of digital media on the 2019 Indian general election*. Konrad-Adenauer-Stiftung. <https://www.kas.de/en/web/indien/single-title/-/content/the-impact-of-digital-media-on-the-2019-indian-general-election>
8. Lokniti–CSDS. (2019, June 12). *Social media and political behaviour*. Centre for the Study of Developing Societies. [https://www.csds.in/social\\_media\\_and\\_political\\_behaviour](https://www.csds.in/social_media_and_political_behaviour)
9. Lokniti–CSDS. (2020). *All-India National Election Study (NES) 2019: Post-poll survey findings*. Lokniti–CSDS. <https://www.lokniti.org/publications/nes-2019-post-poll-report>
10. McCombs, M. E., & Shaw, D. L. (1972). The agenda-setting function of mass media. *Public Opinion Quarterly*, 36(2), 176–187.
11. Mozilla Foundation. (2024, February 27). *Messaging platforms and electoral integrity in India (Global Elections Casebook: India)*. Mozilla Foundation. <https://foundation.mozilla.org/en/research/library/global-elections-casebook-india/>
12. Neyazi, T. A. (2018). Social media and political communication in India: Emerging patterns. *Asian Journal of Communication*, 28(3), 233–247.
13. Oxford Internet Institute. (2024, April 18). *The 2024 Indian elections: The strategic use of journalism, social media, and internet governance in a Modi-centric election*. University of Oxford. <https://www.oii.ox.ac.uk/publications/2024-indian-elections-strategic-use/>
14. Ott, B. L. (2017). The age of Twitter: Donald J. Trump and the politics of debasement. *Critical Studies in Media Communication*, 34(1), 59–68.
15. Shirky, C. (2010). *Here comes everybody: The power of organizing without organizations*. Penguin Press.
16. TIME. (2019, January 25). How volunteers for India's ruling party are using WhatsApp to fuel fake news ahead of elections. *TIME*. <https://time.com/5512031/india-whatsapp-fake-news-elections/>
17. TIME. (2024, June 10). How Modi's supporters used social media to spread disinformation during the elections. *TIME*. <https://time.com/6989014/india-elections-social-media-disinformation/>
18. Voice of America (VOA). (2014, June 6). Social media played big role in India's election. *VOA News*. <https://www.voanews.com/a/social-media-emerges-as-a-key-tool-in-indias-election/1931238.html>

## **Between Vulnerability and Resilience: Photojournalism in Transition in Uttar Pradesh, India**

**NITIN BHARDWAJ\***  
nitinbhardwaj@bhu.ac.in

**DR BALA LAKHENDRA†**  
drbalalakhendra@gmail.com

### **Abstract**

Photojournalism remains central to democratic communication for its power to document events and shape public understanding. Yet the profession faces global disruption from digital technologies, newsroom downsizing, and precarious labour. In India, these pressures are intensified in regional contexts, where practitioners work with limited protections amid volatile politics.

This study explores the status, challenges, and resilience of print photojournalists in Uttar Pradesh, India's most populous state, and a hub of vernacular journalism. Drawing on thirty in-depth interviews conducted in 2024, it identifies five themes: precarious working conditions, financial and professional marginalisation, technological adaptation, institutional gaps, and perceptions of scope.

Findings reveal that despite low pay, insecure contracts, and weak recognition, photojournalists demonstrate resilience by adopting digital tools, diversifying work, and sustaining their commitment to visual storytelling. Interpreted through Social Constructivism, Media Ecology, and Critical Theory, their experiences highlight a paradox of vulnerability and resilience—undermined by systemic neglect yet sustained by adaptability and democratic purpose.

The study calls for reforms in wages, welfare, training, copyright, and collective advocacy to secure the future of visual journalism in India.

**Keywords:** Photojournalism; Media Ecology; Precarious Labour; Platformisation; Visual Journalism; Uttar Pradesh; India

---

*\* Research Scholar, Department of Journalism and Mass Communication,  
Banaras Hindu University, Varanasi*

*† Assistant Professor, Department of Journalism and Mass Communication,  
Banaras Hindu University, Varanasi*

## Introduction

Journalism is often described as the “fourth pillar of democracy,” responsible for informing citizens, enabling deliberation, and holding power to account. Within this ecosystem, photojournalism plays a distinct role by offering visual immediacy and symbolic resonance. Photographs do more than illustrate stories—they shape collective memory and influence public discourse. As Sontag (2003) observed, images condense complex realities into frames that define historical experience. In today’s fragmented media environment, the visual dimension of journalism has become central to how societies experience news.

Globally, photojournalism is undergoing disruption. The transition from analogue to digital has accelerated workflows and broadened access, while smartphones and social media have blurred boundaries between professionals and amateurs (Campbell, 2013). Shrinking newsrooms and platform-driven visibility have eroded institutional support, intensifying labour precarity (Hadland & Barnett, 2018). The COVID-19 pandemic further exposed these vulnerabilities, as photojournalists risked frontline coverage while facing layoffs and restrictions.

In India, these global pressures intersect with specific socio-political dynamics. For example, a 2023 report in *Newslaundry* titled “Less jobs, dip in quality, lack of access” shows many Indian photojournalists, especially outside major metros, experiencing decline in stable positions, even as demands for speed and digital-ready content rise. Veteran practitioners such as Sudharak Olwe have similarly pointed out that absence of welfare measures leaves many photojournalists exposed to financial insecurity and physical risk. Social media adds further instability, privileging speed and virality over ethics and depth (Allan, 2013).

Photojournalism in India is undergoing rapid transformation, especially in Uttar Pradesh. In recent years, two interlinked trends have become especially prominent: increasing levels of formal education and training among photojournalists, and greater reliance on mobile (smartphone) cameras as primary tools. This paper examines how these changes are reshaping the profession, the challenges they pose, and what they mean for the future of visual news reporting.

Uttar Pradesh (UP) offers a revealing context for studying these dynamics. As India’s most populous state and a hub of vernacular print, it hosts the largest circulation of registered newspapers (Registrar of Newspapers for India, 2022). Photography is vital for bridging literacy divides and shaping narratives of elections, protests, communal

unrest, and everyday life. Yet the occupational realities of UP's photojournalists remain largely absent from scholarship, which often centres on metropolitan contexts.

**Definitions.** In this study, *photojournalist* refers to practitioners who capture visual news content for print or digital media (staff and freelancers). *Education level* covers formal higher education (university-level degrees), diplomas/certificates, and short specialized training. *Mobile camera* refers specifically to smartphone cameras.

This study addresses that gap by examining the status, challenges, and scope of photojournalists in Uttar Pradesh. Based on 30 in-depth interviews with print and digital photojournalists conducted in 2024, the study identifies five interconnected themes: precarious working conditions, financial and professional marginalisation, technological adaptation, institutional gaps, and perceptions of scope.

The significance of this inquiry is threefold. First, it highlights the experiences of regional practitioners often overlooked in scholarship and policy debates. Second, it applies Social Constructivism, Media Ecology, and Critical Theory to explain how agency, technology, and structural power shape professional identity. Third, it offers practical insights for institutions and policymakers to sustain visual journalism as a democratic resource.

The central argument is that photojournalists in Uttar Pradesh embody a paradox of vulnerability and resilience. They face precarious employment and weak recognition, yet demonstrate adaptability by embracing digital tools, building independent portfolios, and sustaining the democratic value of visual storytelling. This paradox mirrors global transformations while reflecting the distinct conditions of practitioners in the Global South.

## Review of Literature

### Photojournalism and Democratic Communication

Photojournalism has long served as both documentation and interpretation, valued for its ability to capture immediacy and evoke emotional resonance in ways words often cannot (Barthes, 1977; Perlmutter, 1998). Images do not simply record events but shape cultural meaning, often becoming central to collective memory. As Sontag (2003) noted, photographs condense complex realities into frames that help societies process war, injustice, and crisis. In this sense, photojournalism is not a supplement to reporting but a constitutive element of democratic communication.

## **Global Transformations**

The past three decades have witnessed seismic changes in photojournalism. The transition from analogue to digital broadened access and reduced costs, while smartphones and social media blurred the boundaries between professionals and amateurs (Campbell, 2013). Media Ecology theory helps explain these disruptions: technologies reshape communicative environments rather than simply adding tools (Postman, 2000). Today, platforms such as Facebook and Instagram act as gatekeepers, privileging speed and virality over editorial judgment.

These shifts have produced acute labour precarity. Global reports describe photojournalism as a profession “under siege,” marked by newsroom downsizing, stagnant pay, and growing reliance on freelancers (Hadland et al., 2015; Hadland & Barnett, 2018). The COVID-19 pandemic exacerbated these pressures, restricting mobility, accelerating layoffs, and exposing frontline journalists to risks without adequate protection.

Yet research studies also highlight resilience. Journalism today is described as “liquid,” defined by constant adaptation (Deuze & Witschge, 2020). Many practitioners diversify skills, embrace entrepreneurial roles, and carve out niches in digital spaces. Even in a saturated media environment, professional photojournalists retain value by safeguarding ethics, narrative depth, and contextual expertise (Aiello & Parry, 2019).

## **The Indian Context**

As seen globally, technological disruption, platformisation, and COVID-related challenges are reshaping journalism. In India, these pressures manifest with unique intensity, interacting with the vernacular press, economic liberalisation, and rapidly expanding mobile and digital audiences. Early press photographers such as T.S. Satyan and Raghu Rai helped shape the visual archive of independent India (Blaney & Shah, 2018). With economic liberalisation in the 1990s, vernacular newspapers expanded rapidly, especially in Hindi and Urdu dailies like Dainik Jagran and Amar Ujala (Neyazi, 2018). Photography became central to bridging literacy gaps and broadening audience engagement.

Recent studies highlight how the increased use of mobile cameras and the entry of semi-trained practitioners have transformed Indian photojournalism, reshaping competition and audience expectations (Tewari, 2021). However, this expansion did not ensure professional security. As Deuze and Witschge (2020) argue, digital tools increased productivity but were accompanied by stagnant wages, contractual

employment, and heavy workloads. Veteran photographers have repeatedly highlighted the absence of welfare protections, leaving practitioners vulnerable to financial instability and political coercion. The destabilising influence of platforms further complicates the profession: algorithmic curation privileges sensational imagery, while citizen-generated visuals increasingly shape breaking news (Allan, 2013). Despite these challenges, professional photojournalism remains vital for accountability and credibility in an era of misinformation.

### **Regional Dynamics: Uttar Pradesh**

These national trends acquire a distinct texture at the regional level. In Uttar Pradesh, for example, the same triad of challenges—technological change, platform influence, and post-COVID uncertainties—intersects with local political pressures, infrastructural limitations, and safety risks, creating sharper vulnerabilities for photojournalists. With the highest circulation of registered newspapers in the country (Registrar of Newspapers for India, 2022), vernacular print dominates the media landscape, and photography plays a vital role in accessibility.

Evidence suggests that regional photojournalists face sharper challenges than metropolitan counterparts. Many self-fund equipment, lack accreditation, and work without insurance or safety protocols. Political pressures, censorship, and hostile environments are frequent, especially during elections, protests, and communal unrest. Although their photographs shape narratives of public life—from disasters and rallies to the struggles of marginalised communities—photojournalists remain marginalised within institutions. This dual condition—indispensable yet expendable—captures the paradox central to their professional experience.

### **Research Gaps**

The literature highlights three key gaps. First, while global transformations in photojournalism are well documented, there is limited empirical work on regional Indian contexts, especially in states like Uttar Pradesh that anchor the vernacular press. Second, the intersection of technological disruption, labour precarity, and political pressure is insufficiently theorised in relation to regional journalism. Third, existing studies often privilege metropolitan and institutional perspectives, overlooking the lived experiences and subjective voices of practitioners.

This study addresses these gaps by centring the narratives of thirty photojournalists in Uttar Pradesh. Interpreted through Social Constructivism, Media Ecology, and Critical Theory, their accounts illuminate how global transformations are refracted through

local realities. The study also underscores that sustaining visual journalism in India requires not only technological adaptation but also structural reforms that provide recognition, protection, and dignity to those behind the camera.

Finally, the recurrent discussion of digital disruption, platformisation, and COVID-19 across global, national, and regional contexts is intentional. It demonstrates that these macro-level forces cascade downwards, shaping professional realities in nested and interconnected ways—highlighting patterns that are both pervasive and context-specific.

### **Methodology**

This study explored the lived experiences of photojournalists in Uttar Pradesh, focusing on working conditions, professional challenges, adaptation strategies, and perceptions of scope. Given the exploratory nature of the inquiry, a qualitative design was adopted to privilege depth and practitioner voices.

### **Research Design and Participants**

The study employed a qualitative design using semi-structured, in-depth interviews to capture the lived experiences of practitioners while ensuring coverage of key themes such as working conditions, technological adaptation, and professional identity. Fieldwork was conducted between November and December 2024 in Lucknow, Kanpur, Varanasi, and selected smaller districts of Uttar Pradesh. A total of 30 print photojournalists participated, identified through purposive and snowball sampling with the assistance of professional gatekeepers such as press clubs and newsroom contacts. Interviews lasted between 45 and 90 minutes, with 18 conducted face-to-face and 12 remotely via phone or video call, depending on accessibility and participant preference. This approach ensured both geographic diversity and the inclusion of participants with varied professional backgrounds.

### **Data Collection and Analysis**

Interviews were conducted in Hindi, English, or a mix of both, depending on participants' preference. All conversations were recorded with consent, transcribed, translated where necessary, anonymised, and systematically coded. An inductive coding strategy was adopted to identify recurring patterns, which were consolidated into five thematic categories: working conditions, financial and professional challenges, technological adaptation, institutional gaps, and perceptions of scope. These themes were then interpreted through the lenses of Social Constructivism, Media Ecology, and

Critical Theory, allowing for a layered analysis of identity, technology, and structural power.

### **Ethics**

The study adhered to established ethical research standards. Informed consent, confidentiality, and voluntary participation were ensured throughout the research process. To protect participant identities, pseudonyms were assigned, and sensitive details were withheld when disclosure could pose potential risks.

### **Limitations**

This study is limited to print photojournalists and is based primarily on self-reported accounts, which may not capture the full range of practices or perspectives. It does not incorporate a systematic visual or textual analysis of photographs. Nevertheless, the inclusion of participants across different districts and career stages enhances the credibility, diversity, and transferability of the findings.

### **Findings**

Interviews revealed five interconnected themes that illustrate the precarious yet adaptive realities of photojournalists in Uttar Pradesh.

#### **Theme 1: Working Conditions**

Respondents reported long and unpredictable hours, low pay, and minimal welfare provisions. Staff salaries typically ranged between ₹12,000–18,000, while freelancers earned ₹200–500 per photo—figures stagnant for nearly a decade (as of 2024). Assignments often involved covering rallies, disasters, or unrest at short notice, with the added pressure of meeting both print and digital deadlines.

Institutional support was largely absent. Most journalists self-funded equipment and lacked insurance or protective gear. The COVID-19 pandemic further exposed these vulnerabilities, with photojournalists assigned to hospitals and cremation grounds often without safety kits. As one respondent recalled: *“We were frontline workers, but nobody thought about our safety.”*

#### **Theme 2: Professional and Financial Challenges**

Job insecurity was widespread, with many working without formal contracts and vulnerable to sudden dismissal. Freelancers lived “from one assignment to the next,” facing frequent payment delays and occasional non-payment. Rising costs of equipment

and travel outpaced stagnant wages. One participant explained: *“We risk our lives for an image, but our salaries have not increased in ten years.”*

Copyright and crediting were persistent concerns. Images were often reused without payment, and awards or recognition typically went to editors rather than photographers. Respondents described themselves as both essential and expendable, with limited avenues for collective bargaining or union support.

### **Theme 3: Technological Adaptation**

Digital tools reshaped practice and identity. Smartphones and high-speed internet enabled instant capture and transmission but also increased pressure for speed over composition. This finding aligns with broader national trends, where the spread of mobile camera use has blurred the line between professional and amateur practice, challenging the distinct identity of trained photojournalists (Tewari, 2021). As one photographer noted: *“Earlier we had time to compose a frame. Now the demand is: send it immediately, even if it is imperfect.”*

Social media, particularly Facebook and Instagram, emerged as a double-edged sword. Viral images provided visibility and occasional freelance opportunities, but also intensified competition from citizen photographers. Younger participants actively used platforms to build portfolios, while others diversified into video, photo essays, and NGO collaborations. Most relied on self-training, with little institutional support for digital skills.

### **Theme 4: Institutional Gaps**

Respondents highlighted structural neglect in training, safety, welfare, and editorial recognition. Few had formal training, and safety protocols were almost nonexistent despite frequent exposure to police hostility, political intimidation, and hazardous environments.

Editorial hierarchies reinforced marginalisation. Photographers had little say in how images were placed, credited, or altered. As one senior journalist remarked: *“Our job ends at clicking and sending. After that, we have no say—even if the picture is altered or published without our name.”* Welfare support was minimal: *“The company gives us an ID card, not a camera,”* quipped another.

### **Theme 5: Scope and Opportunities**

Despite hardships, participants expressed cautious optimism. Photography was seen as indispensable in a linguistically diverse state, bridging literacy divides. Social media

was simultaneously a threat and opportunity—while it expanded competition, it also enabled recognition beyond newsrooms. Younger journalists were particularly enthusiastic about using platforms like Instagram for visibility.

Respondents also noted opportunities in multimedia projects, training institutes, and NGO collaborations, though these required self-initiative. Many warned that without reforms in pay, welfare, and recognition, the profession risked losing talent. Yet passion remained a unifying force: *“We may not be respected, but we cannot abandon the camera. It is our way of seeing the world.”*

Theme	Key Findings	Illustrative Quote
<b>Working Conditions</b>	Long hours, low monthly pay (₹12,000–18,000), freelancers underpaid (₹200–500 per photo), minimal welfare, high frontline risks.	“We were frontline workers, but nobody thought about our safety.”
<b>Professional &amp; Financial Challenges</b>	Job insecurity, lack of contracts, delayed or non-payments, rising costs, poor recognition, copyright violations.	“The photograph makes the story memorable, but in the newsroom, it is treated like decoration.”
<b>Technological Adaptation</b>	Smartphones and social media reshaping practice; pressure for speed; diversification into video, essays, NGO work; reliance on self-training.	“The newspaper pays little, but a viral photo gives us recognition.”
<b>Institutional Gaps</b>	Lack of training, safety protocols, welfare support, and editorial recognition; limited control over image use.	“The company gives us an ID card, not a camera.”
<b>Scope &amp; Opportunities</b>	Photography remains indispensable; social media both a threat and opportunity; optimism through diversification and resilience.	“We may not be respected, but we cannot abandon the camera.”

Table 1- Thematic findings from interviews with 30 print photojournalists in Uttar Pradesh (2024)

## Discussion

This study highlights a paradox: photojournalists in Uttar Pradesh are indispensable to democratic communication yet marginalised within the institutions they serve. Their experiences can be understood through three complementary lenses—Social Constructivism, Media Ecology, and Critical Theory—which together reveal how identity, technology, and power shape both vulnerability and resilience.

Because data were collected in 2024, the findings capture a newsroom environment shaped by lingering post-COVID uncertainties and the rapid platformisation of news. Photojournalists described both vulnerabilities and opportunities: on one hand, unstable income, lack of institutional safeguards, and algorithmic gatekeeping; on the other, new avenues for visibility through digital portfolios and social platforms. These contradictions illustrate how practitioners simultaneously navigate marginalisation and resilience in the current media economy.

### Social Constructivism: Negotiating Identity

From a Social Constructivist perspective, professional identity emerges through interaction and meaning-making (Berger & Luckmann, 1966). Despite weak recognition, participants consistently framed themselves as truth-tellers and witnesses, motivated by a sense of social responsibility rather than institutional rewards. Phrases such as *“We may not be respected, but we cannot abandon the camera”* show how practitioners sustain dignity by reconstructing their role around sacrifice and resilience. However, copyright violations, editorial marginalisation, and limited training illustrate how institutional interactions undermine identity formation, forcing practitioners to continuously renegotiate their place in the profession.

### Media Ecology: Technology as Environment

Media Ecology explains how technologies do more than alter practice—they restructure communicative environments (Postman, 2000). Smartphones, instant transmission, and social media have redefined the logic of photojournalism, making speed and visibility central. As one respondent explained, *“The newspaper pays little, but a viral photo on social media gives us recognition.”* Platforms offer autonomy and recognition outside traditional newsrooms but also impose algorithmic pressures that privilege sensationalism and undermine deliberation. For UP photojournalists, adaptation is both a survival strategy and a dependency, reflecting the ambivalence of digital environments worldwide.

### **Critical Theory: Power and Precarity**

Critical Theory situates these vulnerabilities within structural inequalities. Declining revenues, ownership concentration, and political pressures generate exploitative labour conditions: stagnant wages, absent contracts, and denial of copyright are systemic rather than incidental (Fuchs, 2020). Accounts of editorial erasure, censorship, and lack of unionisation reveal how power renders practitioner's disposable. Yet resistance is also evident: photojournalists diversify into NGOs, digital portfolios, and independent collaborations, echoing Fraser's (2014) notion of "counter-public strategies," where marginalised groups carve spaces of autonomy within oppressive systems.

### **Regional Specificity and Global Resonance**

The findings demonstrate how UP photojournalists' experiences resonate with global patterns of precarity yet remain uniquely shaped by local dynamics. Similar challenges of insecurity and digital disruption are reported among photojournalists in South Africa (Hadland, 2015), but UP intensifies risks through volatile politics, weak welfare, and limited accreditation. This dual positioning underscores the importance of situating Global South journalism studies within both international transformations and local contexts.

### **Towards a Holistic Understanding**

Taken together, the three frameworks reveal that vulnerability and resilience are not opposites but coexisting conditions. Social Constructivism shows how practitioners construct meaning and identity; Media Ecology illustrates how technologies restructure visibility and value; and Critical Theory exposes systemic exploitation while recognising acts of resistance. By combining these perspectives, the study demonstrates that sustaining photojournalism requires not only technological adaptation but also structural reforms that provide security, recognition, and dignity to practitioners.

### **Conclusion and Recommendations**

This study examined the status, challenges, and scope of print photojournalists in Uttar Pradesh through thirty in-depth interviews conducted in 2024. It identified five interlinked themes: precarious working conditions, professional and financial marginalisation, technological adaptation, institutional gaps, and perceptions of scope. These findings confirm that while photojournalists operate under persistent precarity—low pay, insecure contracts, and minimal welfare—they also demonstrate resilience by embracing digital tools, diversifying work, and sustaining their commitment to visual storytelling.

Framed through Social Constructivism, Media Ecology, and Critical Theory, the analysis shows that vulnerability and resilience coexist as parallel conditions. On the one hand, photojournalists are undermined by systemic neglect, lack of institutional recognition, and exploitative labour structures; on the other, they sustain professional dignity and democratic purpose through adaptability, skill diversification, and creative use of digital platforms. This paradox reflects global transformations in journalism while also highlighting the distinct challenges of regional practitioners in the Global South.

To strengthen visual journalism as a democratic resource, reforms are required at multiple levels:

### **Institutional Reforms**

- Standardise pay scales and ensure transparent, timely contracts.
- Provide welfare measures including health insurance, pensions, and safety protocols.
- Recognise photojournalists' editorial contributions through crediting and inclusion in newsroom decision-making.

### **Professional Reforms**

- Strengthen copyright protections and establish fair-use mechanisms to safeguard photographers' rights.
- Expand training in digital literacy, multimedia production, and safety practices.
- Support collective advocacy through professional associations and unions to enhance bargaining power.

### **Policy Reforms**

- Extend government-backed labour protections and accreditation schemes to cover photojournalists.
- Incorporate visual journalism into national and state media policies, recognising its role in democratic accountability.

The persistence of photojournalists in Uttar Pradesh underscores a critical truth: safeguarding democracy depends not only on freedom of the press but also on protecting the dignity, security, and professional recognition of those who document society through their lenses.

## References

1. Aiello, G., & Parry, K. (2019). *Visual communication: Understanding images in media culture*. SAGE.
2. Allan, S. (2013). *Citizen witnessing: Revisioning journalism in times of crisis*. Polity Press
3. Barthes, R. (1977). *Image, Music, Text* (S. Heath, Trans.). Hill & Wang. [https://books.google.com/books/about/Image\\_Music\\_Text.html?id=U\\_8yYj9h7aIC](https://books.google.com/books/about/Image_Music_Text.html?id=U_8yYj9h7aIC)
4. Berger, P. L., & Luckmann, T. (1966). *The social construction of reality*. Anchor Books.
5. Blaney, A., & Shah, C. (Eds.) (2018). *Photography in India: From Archives to Contemporary Practice*. Routledge.
6. Campbell, D. (2013, January). Visual storytelling in the age of post-industrial journalism. *Nieman Reports*.
7. Deuze, M., & Witschge, T. (2020). *Beyond Journalism*. Polity Press.
8. Fraser, N. (2014). *Transnationalizing the public sphere*. Polity Press.
9. Fuchs, C. (2020). *Communication and Capitalism: A Critical Theory*. University of Westminster Press.
10. Hadland, A., Campbell, D., & Lambert, P. (2015). *The State of News Photography 2015*. World Press Photo Foundation & University of Stirling.
11. Hadland, A., & Barnett, C. (2018). *The State of News Photography 2018*. World Press Photo Foundation & University of Stirling.
12. Neyazi, T. A. (2018). *Political Communication and Mobilisation: The Hindi Media in India*. Cambridge University Press.
13. Perlmutter, D. D. (1998). *Photojournalism and foreign policy: Icons of outrage in international crises*. Praeger.
14. Postman, N. (2000). The humanism of media ecology. *Proceedings of the Media Ecology Association*, 1, 10–16.
15. Registrar of Newspapers for India. (2022). *Annual Report 2021–22*. Ministry of Information and Broadcasting, Government of India.
16. Sontag, S. (2003). *Regarding the Pain of Others*. Farrar, Straus, and Giroux.
17. Tewari, P. (2021). Changing trends in photojournalism: Education level and use of mobile camera has increased in India. *Global Media Journal*, 19(45), 1–9.

## **Skipping of Breakfast and its consequences to school going children: An Observational and Descriptive Study**

**DEEPA SHARMA\***  
**deepasheel@gmail.com**

### **ABSTRACT**

*Skipping breakfast among adolescents is a prevalent aspect of eating habit of modern life. This research was conducted with the aim of knowing skipping breakfast and its effect on school-going children. The research was done in two parts: first frequency of skipping breakfast of adolescents is gathered and secondly its effect is investigated.*

*Most kids and teens head out the door in the morning, often skipping breakfast—some of them because of their habit or they're not hungry or simply because having breakfast isn't part of their family routine, sometimes because there is simply not enough time for breakfast.*

*A seemingly minor decision can have a definite impact on how children feel, act and perform at school. Several studies have shown that skipping breakfast affect the child physically as well as mentally. Children might snack on unhealthy foods which leads to missing out on key nutrients like iron, calcium, fibre etc. and struggle with their weight and energy level.*

*In addition to physical well-being, missing breakfast can affect mood and self-esteem. Kids who skip breakfast feel hungrier, less energetic and not as alert throughout the day. Studies report that these children can't concentrate and even do worse on tests. Children who miss their breakfast regularly are reported feel sad or anxious and tend to have problems in engaging with peers and teachers. Conversely, eating breakfast—particularly a healthy one with the family—can set a positive tone for the rest of the day.*

*Parents and caregivers can assist by preparing speedy, nutritious breakfasts in advance and reminding children to eat breakfast in the morning, even if only something small. By establishing breakfast as a daily routine, families are supporting not only their children's health, but also their happiness and school success.*

### **Keywords & Phrases:**

*Lunch box, Breakfast, A healthy breakfast, Missing breakfast Rushed mornings, Morning energy boost, Focus and concentration in class, Foggy brain due to hunger, struggles with attention at school, Quick snacks, poor choices, Nutritional deficiency, School performance drop, Weight worries, Unhealthy eating habits, Tired kids, less learning*

---

\* Senior Dietician, Singhania University, Jhunjhunu, Rajasthan, India

## INTRODUCTION

Imagine the morning of a typical school day: alarms sound, breakfast tables remain untouched, and children hurry to tie their shoelaces, grab their backpacks, and spill off the school bus at the last moment. Most mornings become a morning time rush against the clock—the chaos of last-minute homework, missing socks, and quiet goodbyes at the door. Somewhere amidst the chaos, though, there's a conspicuous absentee of a significant morning ritual: breakfast.

Breakfast is the morning's first and most important meal, it 'breaks the fast' from overnight and refuels adolescents' bodies as well as brains for all the day ahead. If breakfast is skipped- filling sluggish, hunger, irritable or even anxious.

Research experiences that breakfast does matter. Daily, nutritionally-sound breakfast, in addition to giving sustained energy, provides boost for enlivened memory, longer concentration span, and increased zest for activities undertaken at school. The children perform better in tests, concentrate more readily at work, and are better placed to pursue sport or after-school activity. Good news here does not end at school: breakfast-eating achieves steady states of mood and motivation and even fosters healthier friendships by boosting confidence and reducing irritability. Conversely, skipping breakfast is linked to something more than a grumpy tum by mid-morning. Children who skip the morning meal have a tendency to slouch off to school, become forgetful and distractible, and slow to think things through or remember key information. Over time, the consequences catch up—behind in school work, missing key growth and development nutrients, and even developing undesirable eating habits of snacking at mid-morning on empty, sugar-filled fare.

Some studies show children who frequently skip breakfasts are more regularly absent, more likely to repeat grades, and at increased risk for metabolic and emotional health problems. Breakfast is something more than managing hunger—it's laying a strong, dependable groundwork upon which a young person's learning, confidence, and wellbeing can flourish.

There will, of course, be challenges. In families where mornings will be extremely busy or where breakfast supplies might be limited, breakfast skipping will at times be seen as unavoidable. That's why nutritionists and educators stress the 'how' at least as much as the 'why'—advocating fast, budget-friendly breakfasts loaded with a mix of energy, protein and key nutrients (like a glass of milk, a boiled egg, whole-grain toast or banana).

Regardless of the circumstances, the evidence is clear: for every young person, breakfast represents a daily opportunity. It's a humble but significant act of encouragement behind learning, growth, and the promise of a better, brighter school day ahead.

## **BACKGROUND AND LITERATURE REVIEW**

Breakfast has long been well-established as a starter course for young children, providing necessary energy and nutrients to get their day off to a good start and sustain them alert and focused throughout the morning. By tradition, research has highlighted the importance of breakfast in the preservation of not only physical health, but of mental development, school performance, and emotional health in children of school age. Although these advantages have been established, skipping breakfast is increasing among children and adolescents around the globe. Factors pertinent in this regard are changes in family structure, busy lifestyles, school starts early in the morning, and, for some, trying to lose pounds or lack of appetite in the mornings.

Prevalence of breakfast skipping among youth and children is variable worldwide, but current studies forecast up to 10–30% of young people will regularly omit breakfast, and prevalence will be higher among girls, mature age students, and students of low socioeconomic status. There is systematic evidence of an association of breakfast omitting and a range of undesirable outcomes. There is evidence children who omit breakfast will pay less attention, attend school less, and participate less emotionally at school. A population-based Australian study of more than 71,000 students, for instance, found around one in three students omitted breakfast at least on occasions, and omitting was significantly commoner among female students, mature age students, and students of low-socioeconomic status or rural students.

Numerous observation and cross-sectional studies have additionally shown that skipping breakfast among students is associated with:

- Higher risk of unhealthy diet and physical activity behaviours
- Increased risk of obesity and metabolic problems
- Reduced mental effort and emotional attachment at school
- Reduced behavioural issues and higher school participation.

Common reasons provided for skipping breakfast include lack of time, not feeling hungry, and dietary restriction for weight control. Interestingly, some of these reviews bring up the fact that breakfast skipping clusters with other unhealthy lifestyle practices of poor diet, poor sleep, and low physical activity.

School breakfast programs, for example, have been introduced in many countries in a bid to reduce breakfast skipping and its consequences. While there have been accounts of positive outcomes in the form of increased school achievement and absenteeism, the overall impact of this kind of program is a mixed bag, given low participation levels or if other social and environmental barriers remain untouched.

Overall, the research verifies breakfast eating as an important contributor to children's overall health, learning, and motivation. It is critical to further explore the causes, tendencies, and outcomes of skipping breakfast in order to design successful interventions and enable all children to achieve their full learning and developmental potential.

## METHODOLOGY

**Study Design:** It's a descriptive and observational study, and it attempts to figure out the prevalence of skipping breakfast among school children and its subsequent outcomes.

**Study Population:** It was carried out under an observation study among schools of East Delhi over four weeks among 400 students aged between 13-15 years randomly chosen and studying in schools selected in the study area.

**Sampling Method:** Stratified random sampling technique was used for selecting schools so that there would be representation of schools from different socio-economic strata (Public Schools and Government Schools). Students were randomly selected from the schools selected.

**Data Instruments:** Data collection tools included standard questionnaire including eating behaviours and level of awareness.

**Questionnaire:** A tested and standardised questionnaire was used for data collection on breakfast eating practices, reasons for breakfast skipping, and socio-demographic data among students.

**Observation:** In-school observations were used for further context regarding meal time and availability of foods.

**Teacher-Designed Records:** Class teachers were approached to obtain information on academic achievement, attendance and behavioural reports.

**Data Collection Procedure:** Principals of schools participating and students' assent were granted for data collection permission. Meeting students at school for the purpose of explaining study, delivering questionnaires and conducting observation if required

were included in data collection. Academic and behavioural data information was accessed confidentially after taking the required permissions.

It provides a systematic method of observing and explaining breakfast skipping effects among school children through quantitative and qualitative evaluation.

**VARIABLE:** Independent Variable: Eating breakfast status (always eats breakfast, at times skips, skips frequently).

Dependent Variables: Test scores, grades, level of cognitive engagement, affective wellbeing measured by standardized scales/questionnaires, and nutritional status indicators if there are available data.

**OBSERVATIONS :** Data was entered and statistically analysed using software. Descriptive statistics will summarize breakfast skipping prevalence and patterns. Inferential statistics (chi-square tests, t-tests, or ANOVA) used in establishing associations between breakfast behaviours and academic or behavioural outcomes.

**ETHICAL CONSIDERATIONS :** Research maintained confidentiality and voluntary participation. Ethical approval was obtained from the proper authority.

## RESULT

Findings of the observation study proved that a major percentage of school children skip breakfast regularly. Surprisingly analysis of the results indicated that most of the subjects (67.83%) do not eat breakfast daily before coming to school. About 25% children eat breakfast before coming to school. About 11% students reported that they skip breakfast 2-3 days in a week.

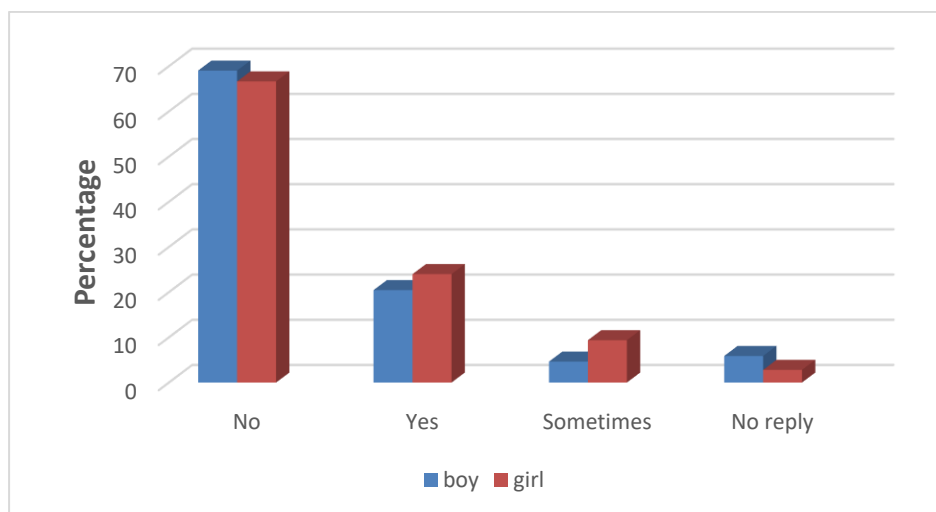
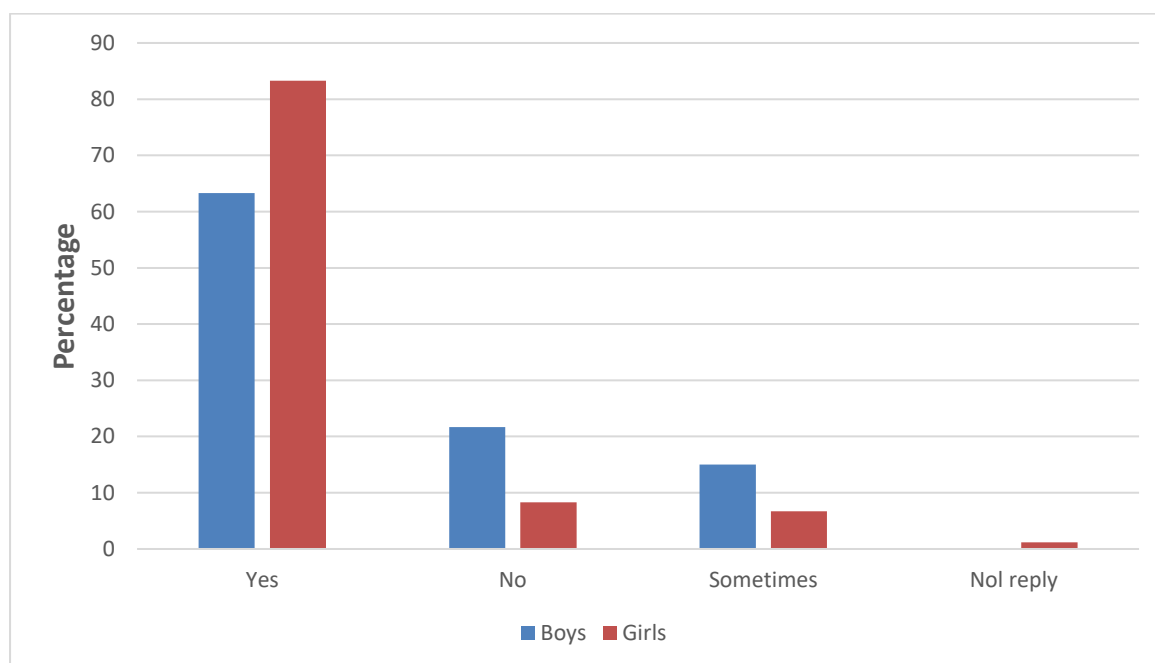


Figure 1: Taking breakfast before leaving to school

The main reasons cited for skipping breakfast included lack of time or lack of appetite in the morning.

Findings of the observation study proved that a major percentage of school children skip breakfast regularly. But shockingly, the findings analysis proved that most respondents (73.3%) carry lunch box regularly. Only 15 % children never carry lunch box to school. From the figure it is clear that more girls (83.3%) carried lunch box to school with respect to the boys.



**Figure 2: Carrying lunch box to school**

It is of concern since breakfast is the most critical meal in a day. Breakfast provides the energy needed in the kick-start of the day on the right track. Children who eat a good breakfast perform better at school, pay more attention, are more creative and have fewer opportunities of getting obese.

Based on teachers' report, it is seen that regular breakfast skippers exhibited weaker school performance, lower grade averages and shorter attention spans. Emotional participation and classroom participation were likewise affected negatively, and breakfast skippers exhibited lower motivation and irritability. Nutritively, these children poorly utilized key nutrients, viz., iron, calcium, and vitamins, significant in growth and cognition.

Additionally, children who skipped breakfast were seen to have increased prevalence of unhealthy snacking and overweight, which may indicate an association between breakfast omission and increasing risk of obesity.

Other than getting information on skipping of breakfast, the reasons for skipping breakfast were also analysed. It was observed that the majority of children skipped breakfast due to reasons like they do not feel hungry in the morning, waking up late in the morning, no time to have breakfast early in the morning as school time is tight, lack of awareness of the necessity of breakfast etc. All these conclusions are according to the studies done by Anderson et al (1998) which provided the same reasons for skipping breakfast.

Overall, the evidence firmly indicates that breakfast skipping in school children is associated with a series of undesirable outcomes including decreased school achievement, decreased emotional health, and lower nutrition status. These conclusions indicate the potential benefit of encouraging regular breakfast consumption among school children for their general development.

## **DISCUSSION**

Findings of this observation study verify earlier reports which underscore the significant role of breakfast in the encouragement of school children's cognitive, emotive, and physical wellbeing. Widespread breakfast skipping among adolescents is reflective of broader social and behavioural trends evident worldwide, and there is a requirement for special awareness and innervation initiatives.

Adverse impacts of skipping breakfast on school work and participation in the classroom may be due to the need of the brain for a steady supply of glucose and key nutrients following overnight fasting. If breakfast is denied, children experience poor concentration, memory, and inadequate ability for solving problems, affecting efficient learning and performing on tests. Emotional impacts of irritability and lack of motivation contribute to the woes of breakfast skippers in school situations.

From a nutritional perspective, breakfast skipping produces deficiencies of several important vitamins and minerals essential for growth and development. It may seem paradoxically, but the correlation between breakfast skipping and increasing risk of obesity is explained by compensation behaviours like consuming high-calorie, nutritionally undesirable snacks at other points of the day and erratic eating behaviours.

These results highlight the value of breakfast not being seen solely as a mundane daily task but rather a significant part of a young person's holistic development. Parents and schools can bear substantial influence in bringing forth healthy breakfast practices through real-life aid, education, and development of morning eating behaviours promoting regularity. Outcome improvements require multi-level interventions, ranging from school breakfast programs to family education and community awareness programs. Future research may explore long-term impacts of breakfast interventions and explore culturally distinct solutions for addressing population-specific roadblocks.

Lastly, encouraging breakfast consumption at regular and healthy frequencies is of significant importance in enabling children to access their full educational potential, maintain their emotional stability, and achieve their best physical health status. Our research adds to the body of evidence for breakfast as a stalwart of children's day-to-day activity.

## CONCLUSION

Skipping breakfast is a common behaviour among school children which is associated with a number of undesirable outcomes for their learning, thinking, and emotional and physical wellbeing. Research evidence from a number of studies shows children who regularly skip breakfast have poor school participation, lower test achievement, shorter attention spans, and higher levels of emotional issues than children who regularly eat breakfast. Nutritively, breakfast skippers lack key vitamins and minerals, and this could compromise growth and development. Some of them also have an increased risk of undesirable compensation eating at a subsequent time of day.

Promotion of frequent and nutritious breakfast consumption can contribute positively to children's cognition, emotional adjustment, school achievement, and overall health. Schools and families have key roles in helping children acquire healthy breakfast habits. School breakfast program strategies, nutrition education, and support for families facing logistical or economic problems might be utilized in reducing breakfast skippers' prevalence.

A healthy breakfast is no typical breakfast—it is a vital launchpad to children's success at school and in life. Fighting against breakfast skipping is of central significance for children's development, learning, and wellbeing, and must be at the heart of policies for health and education.

## REFERENCES

1. Baxter, S., Kingsley, J., & Scurrah, K. (2022). Prevalence of breakfast skipping among children and adolescents. *Nutrients*.
2. Centers for Disease Control and Prevention. (2024). Skipping breakfast and academic grades, persistent. *Morbidity and Mortality Weekly Report*.
3. Esheiba, N., & Kuhn, E. (2024). An evaluation of breakfast patterns of secondary school students and their academic performance. *Annals of Nutrition & Public Health*.
4. Family Action UK. (2024). *The impact of breakfast on learning in children*.
5. Literature review on the effects of breakfast consumption and school breakfast clubs. (2020–2025).
6. Oakridge International School. (2024). *5 reasons why children should never skip breakfast*.
7. Rampersaud, G. C., Pereira, M. A., Girard, B. L., Adams, J., & Metz, J. D. (2021). Breakfast skipping and cognitive and emotional engagement at school. *Nutrients*.
8. Study report. (n.d.). *National Center for Biotechnology Information (PMC9034546)*. Retrieved from <https://pmc.ncbi.nlm.nih.gov>
9. Weaver, C., et al. (2025). Skipping breakfast and nutrient density: Influence on obesity, blood sugar, and metabolic health. *Nutrition Reports International*.

## समकालीन राजनीतिक परिदृश्य में सुशील कुमार सिंह के नाटकों का आविर्भाव

मुकेश कुमार\*

mukeshprem1527gmail.com

हिंदी साहित्य में समकालीन दौर एक महत्वपूर्ण दौर रहा जिसमें आमतौर पर एक ही प्रकार के विषयों को केन्द्रित करते हुए रचनाकारों ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की। समकालीनता का दौर सातवें दशक से माना गया है जिसके केंद्र में मूलतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात हुए मोहभंग आदि से जुड़े मुद्दे महत्वपूर्ण रहे। विशेषकर राजनीतिक परिदृश्य को केंद्र में रखते हुए सुशील कुमार सिंह के नाटक बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इस शोध-आलेख में इन्हीं तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है।

‘राजनीति’ प्राचीन समय से ही मानव जीवन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा रही है। वास्तव में राजनीति किसी भी राष्ट्र अथवा राज्य को व्यवस्थित रूप से संचालित करने के लिए कुछ नियम, नैतिकता, मर्यादा आदि कुछ नीतियों को अपनाया जाता है जिसे ‘राजनीति’ की संज्ञा दी गयी है। इसी राजनीति की धुरी पर संपूर्ण राष्ट्र टिका होता है। राजनीति का शाब्दिक अर्थ देखें तो यह दो शब्दों का युग्म है ‘राज’ और ‘नीति’। यहाँ राज से अभिप्राय ‘शासन’ तथा ‘नीति’ का अर्थ ‘नियम’ है। रामचंद्र वर्मा इसका अर्थ बताते हुए संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर में कहते हैं “वह नीति जिससे राज्य और शासन का संचालन होता है।”<sup>1</sup> इसके अतिरिक्त मानक हिंदी कोश खंड-चार में लिखते हैं “वह नीति या पद्धति जिसके अनुसार किसी राज्य का प्रशासन किया जाता या होता है। गुटों, वर्गों आदि की पारस्परिक स्पर्धा वाली तथा स्वार्थपूर्ण नीति।”<sup>2</sup>

हिंदी साहित्य में समकालीनता का दौर सातवें दशक से प्रारंभ होता है। यह स्थिति तब बनी जब भारत की आजादी के लिए देश के लोगों ने एकजुट होकर अपनी भूमिका निभाई और 15 अगस्त सन् 1947 को भारत अंग्रेजों से स्वाधीन हुआ। परंतु स्वतंत्रता से पूर्व नेताओं के प्रति जो श्रद्धा, विश्वास की भावना एक आम आदमी के मन में थी उसका मोहभंग हो गया। यह विश्वास, श्रद्धा धीरे-धीरे क्षीण होने लगी। क्योंकि जो-जो वादे नेताओं से किये थे उसके विपरीत उन नेताओं के चरित्र उद्धाटित होने लगे। नेता अब उस आम आदमी की पीड़ा उसके सहयोग भूलकर अपनी तिजोरियाँ भरने लगे। इस नैतिक पतन मूल्यहीनता का दौर लगभग 1960 के बाद से चला। इस समय क्षेत्रीय पार्टियों को बहुत बढ़ावा मिला जिसका नेताओं ने भरपूर लाभ उठाया और आम आदमी को धर्म एवं जाति में विभाजित करके अपना लाभ कमाया।

हिंदी साहित्य एवं समाज को स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात की सबसे अधिक प्रभावित भारत की राजनीतिक परिस्थितियों ने किया। स्वतंत्रतापूर्व के नेताओं में जिस प्रकार आत्मत्याग एवं बलिदान की भावना तथा सेवाभाव था वर्तमान समय में अब वह भावनाएँ नहीं मिलती। आज की राजनीति विसंगतिपूर्ण हो चुकी

\* पीएच.डी. हिंदी विभाग, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली

है। अनेकों प्रकार की विसंगतियों से भरी पड़ी राजनीति ने व्यंग्य के लिए असीम उपजाऊ भूमि प्रदान की है। आज समाज की प्रत्येक गतिविधियाँ देश के राजनीतिक तथा आर्थिक केंद्रों से परिचालित होती हैं। देश के राजनीतिक दलों के विभिन्न दाँव-पेंच, चुनाव की कुत्सित सरगमियाँ, मौकापरस्ती, सत्ता हथियाने अथवा चुनाव जीतने के विभिन्न प्रकार के हथकंडे, मोर्चाबंदी, नेताओं का दोहरा चरित्र आदि के कारण आम आदमी के भीतर राजनीति के प्रति एक भय पैदा हो गया है। सत्ता पाने के लिए नेताओं द्वारा जनता पर अलग-अलग प्रकार के चुनाव थोप दिए जाते हैं और सभी नेता और उनके चमचे उस चुनावी प्रचार में जुट जाते हैं, नतीजतन आम जनता की महत्वपूर्ण समस्याएँ एवं उनकी आवश्यकताओं को दर-किनार कर दिया जाता है और आम जनता फिर से अगले पाँच वर्षों के लिए शोषित होने को मजबूर हो जाता है।

समकालीन हिंदी नाटकों में इन्हीं राजनीतिक परिदृश्यों का चित्रण देखने को मिलता है। तत्कालीन परिस्थितियों को केंद्रित करते हुए नाटककारों ने अपने नाटकों में राजनीति और नेताओं के ऐसे ही चरित्रों को चित्रित किया गया है। देश की आम जनता जिस आशा-आकांक्षा के साथ अपने साथ न्याय की उम्मीद किए बैठी थी वह उसे नहीं मिली। इस राजनीतिक चरित्र का चित्रण समकालीन नाटककार सुशील कुमार सिंह ने अपने नाटकों में बखूबी किया है।

नाटककार सुशील कुमार सिंह का समकालीन हिंदी नाटकों में अपना एक महत्व है। इनके लगभग सभी नाटक देश की समसामयिक अथवा तत्कालीन समय में व्याप्त राजनीतिक विसंगतियों से समस्त पाठकों एवं दर्शकों को अवगत कराने में पूर्णतः सफल रहे हैं। मूलतः राजनीतिक-सन्दर्भों से जुड़े होने के कारण इनके नाट्य-साहित्य पर समसामयिकता का आक्षेप लगाया जाता रहा है। वस्तुतः समसामयिकता को आधार बनाकर लिखे गए नाट्य-साहित्य की यह सीमा होती है कि उनका तात्कालिक महत्व तो होता है, किन्तु वह चिरकालिक प्रभाव के गुण से वंचित रह जाता है। ऐसे नाटकों में निहित पैनी राजनीतिक धार कुछ समय के बाद लुंठित हो जाती है। इस तरह किसी भी अच्छे नाटक की यह सीमा हो जाती है और तभी वह कोरा राजनीतिक व्यंग्य बनकर रह जाता है। ऐसे में नाटक को इस सीमा से बचाने में नाटककार की सूझबूझ काम आती है। सुशील जी के कई नाटक 'सिंहासन खाली है', 'नागपाश' आदि भी तात्कालिकता के दोष से ऊपर हैं। राजनीति के वर्तमान को इनके नाटक खुली चुनौती देते हैं। वर्तमान राजनीति को उसकी सारी विसंगतियों-विद्रूपताओं के साथ चित्रित करने में आई तल्खी, इनके नाटकों की उपलब्धि है।

सुशील के नाटकों में निहित राजनीतिक परिदृश्य के संबंध में प्रसिद्ध आलोचक श्रीमती गिरीश रस्तोगी ने लिखा है कि "हिंदी नाटक को राजनीतिक व्यंग्य, समसामयिक प्रश्नों, जनता की पीड़ा और बड़े दर्शक समूह से जोड़ने में सुशीलजी का नाम लिया जाएगा।"<sup>3</sup> वास्तव में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति के क्षेत्र में जिस प्रकार की अव्यवस्था अपने क्रूर फौलादी पंजे फैलाती जा रही थी, और आज भी उस दिशा में गतिशील है, उसमें नाटककार के लिए राजनीतिक चेतना से युक्त नाट्य-साहित्य के सृजन की सारी संभावनाएँ विद्यमान थीं। यही कारण है कि इनके प्रत्येक नाटक चाहें वह 'नागपाश' हो या 'सिंहासन खाली है' हो, 'गुडबाई स्वामी' हो या 'आज नहीं तो कल' हो सभी में समसामयिक राजनीतिक जीवन के सन्दर्भों का ग्रहण अत्यन्त व्यापक रूप में मिलता है।

**चुनावी दाँवपेंच** - जनतांत्रिक शासन व्यवस्था की रीढ़ कही जाने वाली चुनाव प्रणाली हर प्रकार के हथकंडों का कंटक जाल बन चुका है। क्योंकि चुनाव जीतने के लिए नेतागण हर प्रकार का हथकंडा अपनाते हैं जिसमें चुनाव के लिए टिकट प्राप्त करने से सत्ता प्राप्त करने तक का सफ़र पैसों के बल पर करते हैं। इसके अतिरिक्त भीड़ जमा करना, नारेबाजी करना, बूथ कैम्पेयिंग करना विरोधी दलों के नेताओं को लालच देकर अपनी पार्टी में शामिल कर लेना बहुत आम सा हो चुका है। सिंहासन खाली है नाटक में इसका चित्रण कई स्थानों पर हुआ है। एक अंश में नेता जो सिंहासन के लिए योग्य है अथवा नहीं परंतु अपने भाषण से जनता को लुभाता है और एक लंबा भाषण भाषण देता और फिर कहता है “मैंने अपनी इलेक्शन स्पीच का एक छोटा सा टुकड़ा बतौर पेश किया था ताकि आपको सुपात्र समझने में सुविधा रहे”<sup>4</sup> सुशीलजी ने नागपाश नाटक में भी वर्णन किया है जिसमें स्पष्ट नज़र आता है कि नेताओं के लिए चुनाव जैसे बाएँ हाथ का खेल हो गया हो। आपातकाल के समय में नेताओं द्वारा कैसी चालें चली गई चुनाव को जीतने के लिए इसपर नाटक में करारा व्यंग्य दृष्टव्य है। “यह भी कोई कहने की बात है बुद्धू? पहले चुनाव... और फिर...”<sup>5</sup>

**सत्ता-लोलुपता** - भारतीय राजनीति में राजनेताओं का सत्ता लोलुपता एक बहुत ही महत्वपूर्ण बिंदू बन चुका है। सत्ता पाने के लिए नेता किस प्रकार का व्यवहार करते हैं एवं छीनाझपटी, ज़ोर ज़बरदस्ती, दोगलापन करते हैं उसका ज़बरदस्त उदाहरण सिंहासन खाली में देखने को मिलता है “मैं इसे लेकर ही रहूँगा। मैंने इसके लिए अपनी नैतिकता को कुर्बान किया है। सच्चाई का गला घोंटा है। मैं इसे लेकर ही रहूँगा। मेरे रास्ते से हट जाओ”<sup>6</sup> वास्तव में नेताओं को न तो देश और न ही जनता से कोई प्रेम नहीं उन्हें प्रेम बस सत्ता से है। ‘नागपाश’ नाटक में भी निजी स्वार्थ के लिए नेताओं ने संपूर्ण देश को नागपाश के ज़हरीले बंधन में पूरी ताकत से जकड़ दिया था, जो देश को पतन की ओर धकेलने में कामयाब हो रही थी। सत्ता बनाये रखने के लिए इस नाटक में गहरा व्यंग्य दृष्टव्य है “मैं जानता हूँ कि आपको मुझसे बड़ी-बड़ी आशाएं हैं...यह वादा भी करें कि आप मुझे शांतिपूर्वक अनंतकाल के लिए यहाँ बैठाए रखेंगे। ताकि मैं आपकी समस्याओं पर गंभीरता से मनन कर सकूँ”<sup>7</sup>

इसी प्रकार ‘आज नहीं तो कल’ नाटक में भी सड़ी-गली इस खोखली व्यवस्था पर तीक्ष्ण व्यंग्य चित्रित किया गया है। इस नाटक में आपातकाल के बाद जनता पार्टी के शासनकाल की विद्रूपताओं और विसंगतियों को चित्रित किया है। पार्टी के प्रत्येक नेता में सत्ता की लोलुपता स्पष्ट नज़र आती है। एक पात्र कहता है “है कोई माई का लाल जो मुझे कुर्सी से उठा सके”<sup>8</sup>

**नेताओं द्वारा झूठे वादे, खोखले भाषण तथा कोरी नारेबाजी** - वर्तमान समय में नेताओं द्वारा चुनाव जीतने के लिए झूठे वादे करना, खोखले आश्वासन देना बहुत सामान्य से हो गया है जिससे कि उन्हें अधिक से अधिक वोट मिले और वो जीत जाएँ। “मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आपकी उन्नति और तरक्की के लिए...टैक्स अथवा कर का नामो निशान मिटा दूंगा। विदेशों से भारी सहायता प्राप्त करूँगा...धरती पर स्वर्ग उतार दूंगा... देश की... तमाम समस्याएं पलक झपकते सुलझा दूंगा”<sup>9</sup> स्पष्ट है कि झूठे वादे खोखले भाषण तो देते ही हैं इसके साथ ही वे भाषण सुनने वालों को एकत्र करने और उनसे अपना मत लेने के लिए कोरी नारेबाजी करते और करवाते हैं जिसके लिए भाड़े पर लोगों को इकट्ठा किया जाता है। उदाहरणार्थ “जीतेगा, भाई जीतेगा, अपना नेता जीतेगा...”<sup>10</sup>

**नेताओं का छद्म चरित्र** - नेता मुखौटाधारी हो चुका है और इन बहुरूपियों को पहचानना मुश्किल हो गया है। स्वार्थ और भ्रष्टाचार उनमें कूट-कूटकर भरा हुआ है जिस कारण एक आम आदमी न तो चीख सकता है और न ही चिल्ला सकता है। क्योंकि सत्ता पाते ही नेता की कथनी करनी में अंतर आ जाता है। एक उदाहरण देखें जब स्त्री और पुरुष नेता के पास न्याय मांगने जाते हैं तब नेता उनसे उदारता का ऐसा ज़बरदस्त ढोंग करता है कि सामनेवाला उस नेता की प्रशंसा किए बिना नहीं रह पाता। लेकिन दूसरे ही पल नेता अपना मुखौटा उतार असलियत नियत पर आ जाता है “ईश्वर ने मुझे आदेश दिया है कि इस औरत को मैं अपने पास रखूँ”<sup>11</sup> शहर में दंगे करवाने आदि का काम भी नेता बड़े ही पैमाने पर करते हैं उदाहरणार्थ “देखो शहर में विद्यार्थियों को हमारे एजेंटों ने भड़का कर जिस दंगे का इंतज़ाम कराया है उससे...लाभ होने वाला है...यह तो तुम जानते ही हो”<sup>12</sup> अंधेरे के राही नाटक में भी ऐसा ही एक दृश्य है जिसमें एक पाखंडी छात्रनेता छात्रों को हड़ताल करने के लिए भड़काता है “सुनो दादा, तुम्हारा काम है शहर के सभी गुंडे-बदमाशों को इकट्ठा कर उनसे तोड़फोड़ और अव्यवस्था फैलाने का...समझे?”<sup>13</sup>

**एक दल से दूसरे दल में जाना** - नेता क्योंकि सत्ता के लोभी होते हैं इसलिए वे कभी एक पार्टी में नहीं रहते बल्कि हमेशा इधर से उधर पार्टी बदलते रहते हैं एक उदाहरण देखिये “आइए गाजर सिंह जी! देख लेंगे सालों को...हम अलग मंडी लगाएंगे”<sup>14</sup> पार्टी बदलने के साथ नई पार्टी बनाने की धमकी भी देते हैं। इसी प्रकार ‘सिंहासन खाली है’ में भी पात्र एक, दो, तीन पार्टी बदलकर नेता को समर्थन देते हैं क्योंकि नेता द्वारा उन्हें कई प्रकार के प्रलोभन दिए जाते हैं।

निष्कर्ष अतः कहा जा सकता है कि समकालीन राजनीतिक जो परिदृश्य रहा उसको केन्द्रित करके रचनाकारों ने अपनी रचनाएँ दीं इस दिशा में हिन्दी नाटकों का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण रहा और सुशील कुमार सिंह के नाटकों में इसका चित्रण अनेक स्तरों पर मिलता है।

#### संदर्भ :

1. वर्मा, रामचंद्र. (2013). *संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर*. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा. पृ. 494.
2. वर्मा, रामचंद्र. (1964). *मानक हिंदी कोश (खण्ड-4)*. प्रयाग: हिन्दी साहित्य सम्मेलन. पृ. 494.
3. ममता. *साठोत्तर हिंदी नाटक और राजनीति*. पृ. 231.
4. सिंह, सुशील कुमार. (2010). *सिंहासन खाली है*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ. 12.
5. सिंह, सुशील कुमार. (2009). *नागपाश*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ. 62.
6. सिंह, सुशील कुमार. (2010). *सिंहासन खाली है*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ. 66.
7. सिंह, सुशील कुमार. (2009). *नागपाश*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ. 22-23.
8. सिंह, सुशील कुमार. (2023). *आज नहीं तो कल*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ. 27.
9. सिंह, सुशील कुमार. (2010). *सिंहासन खाली है*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ. 11.
10. सिंह, सुशील कुमार. (2010). *सिंहासन खाली है*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ. 40-41.
11. सिंह, सुशील कुमार. (2010). *सिंहासन खाली है*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ. 29.
12. सिंह, सुशील कुमार. (1970). *बापू की हत्या हजारवीं बार*. [प्रकाशक: साहित्य निकेतन]. पृ. 52.
13. सिंह, सुशील कुमार. *अंधेरे के राही*. प्रकाशक: वाणी प्रकाशन. पृ. 44.
14. सिंह, सुशील कुमार. (2023). *आज नहीं तो कल*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृ. 24.

## वैदिक काल की विदुषी स्त्रियाँ

डॉ. निमिषा त्रिपाठी\*

tripathinimisha48@gmail.com

### भूमिका:-

वैदिक काल भारतीय संस्कृति में प्राचीन वैदिक काल से ही नारी का स्थान सम्माननीय रहा है और कहा गया है कि-

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

यत्रैतास्तु पूज्यन्ते सर्वास्तूत्रफलाः क्रियाः॥

अर्थात् जिस-जिस कुल स्त्रियों की पूजा होती है, उस कुल पर देवता प्रसन्न होते हैं और जिस कुल में स्त्रियों की पूजा, वस्त्र, भूषण तथा मधुर वचनादि द्वारा सत्कार नहीं होता है उस कुल में सब कर्म निष्फल होते हैं। उन दिनों परिवार मातृसत्तात्मक था। खेती की शुरुआत तथा एक जगह बस्ती बनाकर रहने की शुरुआत नारी ने ही की थी, इसलिए सभ्यता और संस्कृति के प्रारम्भ में नारी हैं किन्तु कालान्तर में धीरे-धीरे सभी समाजों में सामाजिक व्यवस्था मातृ-सत्तात्मक से पितृसत्तात्मक होती गई और नारी समाज के हाशिए पर चली गई। आर्यों की सभ्यता और संस्कृति के प्रारम्भिक काल में महिलाओं की स्थिति बहुत सुदृढ़ थी। ऋग्वेद में सरस्वती को वाणी की देवी कहा गया है जो उस समय की नारी की शास्त्र एवं कला के क्षेत्र में निपुणता का परिचायक हैं। अर्धनारीश्वर की कल्पना स्त्री और पुरुष के समान अधिकारों तथा उनके संतुलित संबंधों का परिचायक है। वैदिक काल में परिवार के सभी कार्यों और भूमिकाओं में पत्नी को पति के समान अधिकार प्राप्त थे। नारियाँ शिक्षा ग्रहण करने के अलावा पति के साथ यज्ञ का सम्पादन भी करती थीं। वेदों में अनेक स्थलों पर रामाला, घोषाल, सूर्या, अपाला, विलोम, सावित्री, धमी, श्रद्धा, कामायनी, विश्वम्भरा, देवयानी आदि, विदुषियों के नाम प्राप्त होते हैं।

वेदों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि वेदों के मंत्रद्रष्टा जिस प्रकार अनेक ऋषि हैं, वैसी ही अनेक ऋषिकाएँ भी हैं। जिन पर वेद प्रकट हुए उन मंत्र दृष्टियों को ऋषि कहते हैं। ऋषि केवल पुरुष ही नहीं हुए हैं, ऋषि अनेक नारियाँ भी हुई हैं।

ऋग्वेद 10/85 के संपूर्ण मंत्रों की ऋषिकाएँ “सूर्या सावित्री” हैं। ऋषि का अर्थ निरुक्त में इस प्रकार किया है- “ऋषिदर्शनात् स्तोमान् ददर्शति ऋषियो मन्त्र दृष्टारः।” अर्थात् मंत्रों का दृष्टा उनके रहस्यों को समझकर प्रचार करने वाला ऋषि होता है।

ऋग्वेद की ऋषिकाओं की सूची ब्रह्म देवता में इस प्रकार है-

घोषा गोधा विश्ववारा अपालोपनिषन्ति।

ब्रह्म जाया जहुर्नाम अगस्त्यस्य स्वसादिति॥84॥

\* असिस्टेंट प्रोफेसर-सह-अध्यक्ष, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, डोरण्डा महाविद्यालय, राँची

इन्द्राणी चेन्द्र माता चा सरमा रोमशोर्वशी।  
लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी नारी च शाश्वती॥1185॥  
श्रीलक्ष्मीः सार्पराज्ञी वाकश्रद्धा मेधाचदक्षिणा।  
रात्रि सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरितः॥186॥

अर्थात् घोषा, गोधा, विश्ववारा, अपाला, उपनिषद्, जुहू, अदिति, इन्द्राणी, सरमा, रोमशा, उर्वशी, लोपामुद्रा, यमी, शाश्वती, सूर्या, सावित्री आदि ब्रह्मवादिनी हैं।

दशम मण्डल के अनेक अव्ययम् और पंचम मंडल ऋग्वेद के (10-134, 10-39, 19-40, 8-91, 10-5, 10-107, 10-109, 10-154, 10-159, 10-189, 5-28, 8-91) 2 सूक्तों की मंत्र दृष्टा ऋषिकाएँ हैं।

ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह यज्ञ करती और कराती थीं। वे यज्ञ विद्या, ब्रह्म-विद्या में पारंगत थीं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण<sup>3</sup> में सोम द्वारा 'सीता सावित्री' ऋषिका को तीन वेद का वर्णन विस्तारपूर्वक आता है।  
..... तं तयो वेदा अन्य सृज्यन्त अथह सीतां सावित्री सोम राजान चक्रमे.....तस्या उहत्रीन वेदान्त प्रददौ। (तैत्तिरीय० 2/3/10)<sup>3</sup>

मनु की पुत्री 'इडा' का वर्णन करते हुए तैत्तिरीय ब्रा०<sup>4</sup> में उसे 'यज्ञान्काशिनी' बताया है यज्ञान्काशिनी का अर्थ ज्ञायणाचार्य ने 'यज्ञ तत्व प्रकाशन समर्था' किया है। इडा ने अपने पिता को यज्ञ संबंधी सलाह देते हुए कहा-

साडब्रवीदिडा मनुम्।  
तथावाऽएं तवाग्नि माधास्यामि यथा प्रजया पशुभिर्मिधुनैजनिष्यसे।  
प्रत्यस्मिंलोकेस्थास्यासि। असि सुवर्ग लोक जेष्यसोति।

(तैत्तिरीय ब्रा० 1/4)<sup>4</sup>

प्राचीन समय में स्त्रियाँ गृहस्थाश्रम चलाने वाली भी थीं और ब्रह्म परायण भी। वे दोनों ही अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में कार्य करती थीं। जो गृहस्थ संचालन करती थी उन्हें 'सद्योबणू' ब्रह्म-उपासना आदि के पारमार्थिक कार्यों में प्रवृत्त रहती थीं उन्हें 'ब्रह्मवादिनी' कहते थे।

द्विविधा स्त्रियों ब्रह्मवादिन्यः संद्योबध्वश्च।

शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य ऋषि की धर्मपत्नि मैत्रीयी को ब्रह्मवादिनी कहा है।

तयोर्हू मैत्रीय ब्रह्मवादिनी बभूवः।

अर्थात् मैत्रीय ब्रह्मवादिनी थी। ब्रह्मवादिना का अर्थ वृहदारण्यक उपनिषद् का भाष्य करते हुए श्री शंकराचार्य जी ने 'ब्रह्मवादन शीला' किया है। ब्रह्म का अर्थ है-वेद ब्रह्मवादन शील अर्थात् वेद का प्रवचन करने वाली।

जिस प्रकार पुरुष ब्रह्मचारी रहकर तप, स्वाध्याय, योग द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करते थे वैसे ही कितनी ही स्त्रियाँ ब्रह्मचारिणी रहकर आत्म-निर्माण एवं परमार्थ का करती थीं।

पूर्वकाल में अनेक सुप्रसिद्ध प्रचारिणी हुई है, जिनकी प्रतिभा और विद्वता की चारों ओर कीर्ति फैली हुई थी। महाभारत में ऐसी अनेक ब्रह्मचारिणियों का वर्णन आया है।

भरद्वाजस्य दुहिता रूपेण प्रतिमा शुवि।  
श्रुतावती नाम विभोकुमारी ब्रह्मचारिणी॥<sup>6</sup>

अर्थात् भारद्वाज की श्रुतावती नामक कन्या थी, जो ब्रह्मचारिणी थी। कुमारी के साथ-साथ ब्रह्मचारिणी शब्द लगाने का तात्पर्य यह है कि वह अविवाहित और वेदाध्ययन करने वाली थी।

अत्रैव ब्राह्मणी सिद्धा कौमार ब्रह्मचारिणी।  
योग युक्तादिव भाता, तपः सिद्धा तपस्विनी॥<sup>7</sup>

अर्थात् - योग सिद्धि को प्राप्त कुमार अवस्था से ही वेदाध्ययन करने वाली तपस्विनी, सिद्धा नाम की ब्राह्मणी मुक्ति को प्राप्त हुईं।

बभूव श्रीमती राजन् शाण्डिल्यस्य महात्मनः।

सुता धृतव्रता साध्वी, नियता ब्रह्मचारिणी साधु तपत्वा तपो घोरे दुश्चरं स्त्री जनेन त्वा शता स्वर्ग महाभागा देव ब्राह्मणं पूजिता॥<sup>8</sup>

महात्मा शाण्डिल्य की पुत्री 'श्रीमती' थी, जिसने व्रतों को धारण किया। वेदाध्ययन में निरंतर प्रवृत्त थी। अत्यन्त कठिन तप करके देवी ब्राह्मणों से पूजित हुई और स्वर्ग सिधारी। अज सिद्धा शिवा, नाम ब्राह्मणी वेद पाएगा।

अधीत्य सकलान् वेदान् लेभेऽ सन्देहमक्षयम्॥<sup>9</sup>

शिवा नामक ब्राह्मणी वेदों में पारंगत थी। उसने सब वेदों की पढ़कर मोक्ष प्राप्त किया। महाभारत शान्तिपर्व अध्याय 320 में 'सुलभा' नामक ब्रह्मवादिनी सन्यासिनी का वर्णन है जिसने राजा जनक के साथ शास्त्रार्थ किया था। इसी अध्ययन के श्लोक 62 में सुलभा ने अपना परिचय देते हुए कहा है -

प्रधानो नाम राजर्षि व्यक्तं ते श्रोतमागतः।  
कुले तस्य समुत्पन्ना सुलभां नाम विदि माम्॥  
सोऽहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसति मीदुध  
विनीता मोक्ष धमषु धराम्येका मुनिव्रतम्॥<sup>10</sup>

मैं सुप्रसिद्ध क्षत्रिय कुल में उत्पन्न सुलभा हूँ। अपने अनुरूप पति के न मिलने से मैंने गुरुओं से शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त करके संन्यास ग्रहण किया है।

पाण्डव पत्नी द्रौपदी की विद्वता का वर्णन करते हुए श्री आचार्य आनंदतीर्थ (माधवाचार्य जी) ने महाभारत निर्णय में लिखा है-

“वेदाश्चप्युत्तम स्त्रीभिः कृष्णात्ताभिरिहाखिलाः अर्थात् उत्तम स्त्रियों को कृष्णा (द्रौपदी) की तरह वेद पढ़ना चाहिए।

तेभ्यादधार कन्ये द्वे, वपुनां धारिणी स्वधा।  
उभे ते ब्रह्मवादिन्यौ ज्ञान विज्ञान पारगे॥<sup>11</sup>

‘स्वधा की दो पुत्रियाँ हुईं’ जिनके नाम वपुनां और धारिणी थे वे दोनों ही ज्ञान विज्ञान में पूर्ण पारंगत तथा ब्रह्मवादिनी थीं।”

विष्णुपुराण 1/10 और 78/19 में मार्कण्डेय पुराण अ. 22 में भी इस प्रकार ब्रह्मवादिनी (वेद और ब्रह्म का उपदेश करने वाली) महिलाओं का वर्णन है।

सततं मूर्तिमन्तश्य वेदश्चत्वार एव च।

सन्ति यम्याश्च जिह्वगै याच वेदवती स्मृता॥<sup>12</sup>

उसे चारों वेद कण्ठग्रथ थे, इसलिए उसे वेदवती कहा जाता था।

इस प्रकार की नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी ब्रह्मवादिनी नारियाँ अगणित थीं। इनके अतिरिक्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाली कन्यायें दीर्घकाल तक ब्रह्मचारिणी रहकर वेदशास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद विवाह करती थीं। तभी उनकी संतान संसार में उज्ज्वल नक्षत्रों की तरह यशस्वी, पुरुषार्थी और कीर्तिमान होती थीं।

दश स्मृति का स्पष्ट आदेश है कि कन्या ब्रह्मचारिणी रहने के बाद विवाह करे। ब्रह्मचर्य केवल अविवाहित रहने को नहीं कहते हैं, ब्रह्मचारी वह है जो संयमपूर्वक वेद की प्राप्ति में निरत है।

स्वीकरोति यदा वेदं चरेद् वेद व्रतानिवा

ब्रह्मचारी भवेद् तावद् ऊर्ध्वं स्नातो गृही भवेत्॥

अर्थात् जब वेद को अर्थ साहित पढ़ता है और उसके लिए व्रतों को ग्रहण करता है, तब ब्रह्मचारी कहलाता है, उसके पश्चात् विद्वान बनकर गृहस्थ में प्रवेश करता है।

याः कन्या यावच्चतुर्विंशति वर्षमायुस्तावद् ब्रह्मचर्येण जितेन्द्रिय तथा सांगोपांग वेद विद्या अधीयन्ते ता मनुष्य जाति मषिका भविन्ता।

अर्थात् जो कन्याएँ 23 वर्ष तक ब्रह्मचर्य पूर्वक सांगोपांग वेद विद्याओं को पढ़ता है वे मनुष्य जाति को शोभित करती हैं।

ऋग्वेद भाष्य में महर्षि ने लिखा है-

‘ब्रह्मचारिणी प्रसिद्ध कीर्ति सत्तुरुपं सुशीलं शभ गुण रूप समान्वितं प्रीतिमन्तं पतिग्रहीतुभिर्च्छेत् गृहस्थीयात्॥<sup>13</sup>

अर्थ - ब्रह्मचारिणी स्त्री कीर्तिवान्, सशील, सत्पुरुष, गुणवान्, प्रेमी स्वभाव के पति की ईच्छा करे वैसे ही ब्रह्मचारिणी भी अपने समान ब्रह्मचारिणी (वेद और ईश्वर की ज्ञाता) स्त्री को ग्रहण करें।

जब विद्याध्ययन करने के लिए कन्याओं को पुरुषों की ही भाँति सुविधा थी तभी इस देश की नारियाँ गार्गी और मैत्रेयी की तरह विदुषी होती थीं।

याज्ञवल्क्य जैसे ऋषि को एक नारी ने शास्त्रार्थ में विचलित कर दिया था और उसने हैरान होकर धमकी देते हुए कहा था-अधिक प्रश्न मत करो अन्यथा तुम्हारा अकल्याण होगा।

इसी प्रकार शंकराचार्य जी को भारती देवी के साथ शास्त्रार्थ करना पड़ा था। उस भारती देवी के साथ शास्त्रार्थ करना पड़ा था। उस भारती देवी महिला ने शंकराचार्य से ऐसा अद्भुत शास्त्रार्थ किया था कि बड़े-बड़े

विद्वान् भी अचंभित रह गए थे। उनके प्रश्नों का उत्तर देने के लिए शंकराचार्य को निरूतर होकर एक मास की मोहलत माँगनी पड़ी थी। शंकर-दिग्विजय में भारती देवी के संबंध में लिखा है-

सर्वाणि शास्त्राणि बडंग वेदान,  
काव्यादिकान् वेत्ति, परश्च सर्वम्।  
तन्नास्ति नो वेत्ति यदत्र वाला,  
तस्माद्ब्रूच्चित्र पदं जनानाम्॥

व्याकरण शास्त्र के कतिपय स्थूलों पर ऐसे उल्लेख हैं, जिनसे प्रतीत है कि वेद का अध्ययन अध्यापन भी स्त्रियों का कार्यक्षेत्र रहा है।

“उपेत्याधीयतेऽस्या उपाध्याया उपाध्याय”<sup>15</sup>

अर्थात् जिनके पास आकर कन्याएँ वेद के एक भाग तथा वेदांगा का अध्ययन करें, वह उपाध्यायी या उपाध्याया कहलाती हैं।

मनु ने भी उपाध्याय के लक्षण यही बताए हैं -

एक देश तु वेदस्यंगन्यपि वा पुनः।

योऽध्यापर्यति तृप्त्यर्थम् उपाध्यायः सा उच्यते॥ 2/141

जो वेद के एक देश या वेदांग को पढ़ता है, वह उपाध्याय कहा जाता है।

आचार्यादजन्वां<sup>16</sup>

इस सूत्र पर सिद्धांत कौमुदी में कहा गया है-

“आचार्य स्त्री आचार्यानी पुंयोग इत्येव आचार्या स्वयं व्याख्यात्री”

अर्थात्, जो स्त्री वेदों का प्रवचन करने वाली हो, उसे आचार्या कहते हैं। आचार्य के लक्षण मनु जी ने इस प्रकार बताए हैं-

उपनीय तु यः शिष्य वेदमूध्यापयेद् द्विजः।

संकल्पं सरहस्यं च तमाश्चार्यं प्रचक्षते ॥

जो शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके संकल्प सहित, रहस्य सहित पढ़ाता है, उसे आचार्य कहते हैं। जैसे कात्यायनी, मैत्रेयी, वाचकनवी, गार्गी आदि ब्रह्म (वेद और ईश्वर) को जानने वाली थीं, वैसे ही सब स्त्रियों को ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

वाल्मीकि रामायण में कौशल्या, कैकेयी, सीता, तारा आदि नारियों द्वारा वेद मंत्रों का उच्चारण, अग्निहोत्र, संध्योपासना का वर्णन आता है। वैदिक साहित्य में स्त्री शिक्षा – गार्गी, मैत्रेयी, घोषा, गोधा, विश्ववारा, अपाला, अदिति, लोपामुद्रा और भी बहुत नाम हैं। वैदिक साहित्य के तमाम उल्लेख बताते हैं कि उस युग में बालकों के समान बालिकाओं का भी उपनयन संस्कार होता था और वे भी गुरुओं के आश्रम में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन कर विद्या-अध्ययन करती थीं। क्षत्रिय स्त्रियाँ धनुर्वेद अर्थात् युद्धविद्या की भी शिक्षा ग्रहण करती थीं। “शतपथ ब्राह्मण” में उल्लेख मिलता है कि श्रीराम के गुरु वशिष्ठ के गुरुकुल में संगीत व पर्यावरण संरक्षण का शिक्षण भी दिया जाता था। हरित संहिता बताती है कि वैदिक काल में स्त्री-शिक्षा के दो रूप थे—

1. सद्योवधू (विवाह होने से पूर्व ज्ञान प्राप्त करने वाली) तथा
2. ब्रह्मवादिनी (ब्रह्मचर्य का पालन कर जीवनपर्यंत ज्ञानार्जन करने वाली)।

सद्योवधू वर्ग की कन्याएँ उन समग्र विधाओं का शिक्षण प्राप्त करती थीं जो उन्हें सहधर्मिणी बनाने में सहायक होती थीं। वेद-अध्ययन के अतिरिक्त इन्हें गीत-संगीत, नृत्य, चित्रकला, शिल्प व शस्त्रविधा आदि कुल चौंसठ कलाओं की शिक्षा दी जाती थी।

गौरतलब है कि ये उपनिषद् कालीन ब्रह्मवादिनियाँ आज भी हिन्दू समाज के विद्वत् वर्ग में प्रकाश-स्तंभ के रूप में गार्गी, मैत्रेयी, घोषा, गोधा, विश्ववारा, अपाला, अदिति, इन्द्राणी, लोपामुद्रा, सार्पराज्ञी, वाक्, श्रद्धा, मेधा, सूर्या व सावित्री जैसी अनेक मन्त्रद्रष्टा विदुषियों के रूप में स्मरणीय हैं, जिनके ब्रह्मज्ञान से समूचा ऋषि समाज आल्हादित था। इनकी गहन मेधा का परिचय इनके द्वारा रचित विभिन्न वैदिक सूक्त देते हैं—

ब्रह्मवादिनी विश्ववारा आत्रेयी ने ऋग्वेद के पंचम मण्डल के 28वें सूक्त, घोषा काक्षीवती ने दशम मण्डल के 39वें व 40वें सूक्त, अपाला आत्रेयी ने अष्टम मण्डल के 91वें सूक्त, शची पौलोमी ने दशम मण्डल के 149वें सूक्त तथा लोपामुद्रा ने प्रथम मण्डल के 179वें सूक्त की रचना की थी।

ज्ञातव्य है कि ब्रह्म के चिंतन-मनन के साथ ये ब्रह्मवादिनियाँ शिक्षिकाओं के दायित्व का निर्वहन भी पूरी कुशलता से करती थीं। आश्वलायन के गृहसूत्र में गार्गी, मैत्रेयी, वाचकनी, सुलभा, वडवा, प्रातिथेयी आदि शिक्षिकाओं के नाम मिलते हैं, जिन्हें 'उपाध्यायिनी' का सम्बोधन दिया गया है। वैदिक काल की महिलाएँ यदि दर्शन, तर्क, मीमांसा, साहित्य आदि विषयों की ज्ञाता न होतीं, तो क्या वे इतनी विपुल मात्रा में वैदिक साहित्य का सृजन कर पातीं?

महाभारत में काशककृत्स्नी नामक विदुषी का उल्लेख है, जिन्होंने मीमांसा दर्शन पर काशकृत्स्नी नामक ग्रंथ की रचना की थी। इसी तरह आठवीं सदी में 'लिमी रूसा' नामक एक लेखिका की कृति में धातुकर्म पर अनेक विवरण मिलते हैं। बारहवीं सदी में भास्कराचार्य ने अपनी पुत्री 'लीलावती' ग्रंथ की रचना की थी। वस्त्र-क्षेत्र में नाम-शासकों के एक अभिलेख में मासकदेवी नामक विदुषी राजकुमारी का उल्लेख है, जो किसानों के हित के लिए राज्य नियम परिवर्तित करवाती है।

इसी तरह पृथ्वीराज रासो महाकाव्य बताता है कि राजकुमारी संयोगिता ने 'मदना' नामक शिक्षिका द्वारा संचालित कन्या-गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त की थी, जिसमें विभिन्न राज्यों की लगभग 500 राजकुमारियाँ उनके साथ पढ़ती थीं।

दुःख का विषय है कि स्त्री-शिक्षा की इतनी गौरवपूर्ण व स्वर्णिम परिपाटी मध्यकाल में मुगल आक्रांताओं के शासनकाल और उसके बाद की गुलामी के दौरान छिन्न-भिन्न होती चली गई।

आज भारतीय समाज में तेजी से पनपती तथाकथित अत्याधुनिकता और पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण के नाम पर जिस तरह सिनेमा व इंटरनेट द्वारा स्त्री को भोग्या के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है, यौन अपराध उसी नजरिए की स्वाभाविक परिणति हैं।

इन अपराधों को रोकने के लिए स्त्री की गरिमा को कलंकित करने वाले विज्ञापनों, टीवी सीरियलों व फिल्मों पर तत्काल प्रभाव से रोक लगाने के साथ शिक्षा में बदलाव भी बेहद जरूरी है। बाल-मन में स्त्री के प्रति सम्मानजनक विचारों का रोपण हो—इसके लिए हमें वेदों की ओर रुख करना ही होगा।

**सन्दर्भ :**

1. ब्रह्मदेवता. (अध्याय 24, श्लोक 84-86).
2. ऋग्वेद. (मंडल 10, सूक्त 134; मंडल 10, सूक्त 39; मंडल 19, सूक्त 40; मंडल 8, सूक्त 91; मंडल 10, सूक्त 5; मंडल 10, सूक्त 107; मंडल 10, सूक्त 109; मंडल 10, सूक्त 154; मंडल 10, सूक्त 159; मंडल 10, सूक्त 189; मंडल 5, सूक्त 28; मंडल 8, सूक्त 91).
3. तैत्तिरीय उपनिषद्. (अध्याय 9, अनुवाक 10, भाग 2/3/10).
4. तैत्तिरीय ब्राह्मण. (खंड 1, अध्याय 1, खंडिका 4).
5. हारीत धर्मसूत्र. (अध्याय 21, श्लोक 20/24).
6. महाभारत, शल्य पर्व. (अध्याय 48, श्लोक 2).
7. महाभारत, शल्य पर्व. (अध्याय 54, श्लोक 6).
8. महाभारत, शल्य पर्व. (अध्याय 54, श्लोक 9).
9. महाभारत, उद्योग पर्व. (अध्याय 190, श्लोक 18).
10. महाभारत, शांति पर्व. (अध्याय 320).
11. भागवत पुराण. (स्कंध 4, अध्याय 1, श्लोक 164).
12. ब्रह्मवैवर्त पुराण. (प्रकृति खण्ड, अध्याय 14, श्लोक 65).
13. ऋग्वेद. (मंडल 5, सूक्त 62, मंत्र 11).
14. शंकर दिग्विजय. (अध्याय 3, श्लोक 16).
15. ईवउच भाष्य. (अध्याय 3, सूत्र 3/21).
16. अष्टाध्यायी (पाणिनि). (अध्याय 4, अध्याय 3, पाद 2, सूत्र 49).

## NOTES FOR AUTHORS

# **PADCHINHA: A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal**

### **1. Submissions**

Authors should send all submissions and resubmissions to [padchinha@muditeducation.com](mailto:padchinha@muditeducation.com) some articles are dealt with by the editor immediately, but most are read by outside referees. For submissions that are sent to referees, we try to complete the evaluation process within one month. As a general rule, Padchinha operates a double-blind peer review process in which the reviewer's name is withheld from the author and the author's name is withheld from the reviewer. Reviewers may at their own discretion opt to reveal their name to the author in their review, but our standard policy is for both identities to remain concealed.

Absolute technical requirements in the first round are: ample line spacing throughout (1.5), an abstract, adequate documentation using the author-date citation system and an alphabetical reference list and a word count on the front page (include all elements in the word count). Regular articles are restricted to an absolute maximum of 8,000 words, including all elements (title page, abstract, notes, references, tables, biographical statement, etc.).

### **2. Types of articles**

In addition to Regular Articles, Padchinha publishes the Viewpoint column with research-based policy articles, Review Essays, Book Review and Special Data Features.

### **3. The manuscript**

The final version of the manuscript should contain, in this order:

- (a) title page with name(s) of the author(s), affiliation and Email
- (b) Abstract
- (c) Main text
- (d) List of references
- (e) Biographical statement(s)
- (f) Tables and figures in separate documents
- (g) Notes (either footnotes or endnotes are acceptable)

Authors must check the final version of their manuscripts against these notes before sending it to us.

The text should be left justified, with an ample left margin. Avoid hyphenation. Throughout the manuscripts, set line spacing to 1.5.

The final manuscript should be submitted in MS Word for Windows.

### **4. Language**

Padchinha is a Bilingual Journal, i.e. English and हिंदी. The main objective of an academic journal is to communicate clearly with an international audience.

Elegance in style is a secondary aim: the basic criterion should be clarity of expression. We allow UK as well as US spelling, as long as there is consistency within the article. You are welcome to indicate on the front page whether you prefer UK or US spelling.

### **5. The abstract**

The abstract should be in the range of 200-300 words. For very short articles, a shorter abstract may suffice. The abstract is an important part of the article. It should summarize the actual content of the article, rather than merely relate what subject the article deals with. It is more important to state an interesting finding than to detail the kind of data used: instead of 'the hypothesis was tested', the outcome of the test should be stated. Abstracts should be written

in the present tense and in the third person (This article deals with...) or passive (... is discussed and rejected). Please consider carefully what terms to include in order increasing the visibility of the abstract in electronic searches.

#### **6. Title and headings**

The main title of the article should appear at the top of pg. 1, followed by the author's name and institutional affiliation. The title should be short, but informative. All sections of the article (including the introduction) should have principal subheads. The sections are not numbered. This makes it all the more important to distinguish between levels of subheads in the manuscripts – preferably by typographical means.

#### **7. Notes**

Notes should be used only where substantive information is conveyed to the reader. Mere literature references should normally not necessitate separate notes; see the section on references below. Notes are numbered with Arabic numerals. Authors should insert notes by using the footnote/endnote function in MS Word.

#### **8. Tables**

Each Table should be self-explanatory as far as possible. The heading should be fairly brief, but additional explanatory material may be added in notes which will appear immediately below the Table. Such notes should be clearly set off from the rest of the text. The table should be numbered with a Roman numeral, and printed on a separate page.

#### **9. Figures**

The same comments apply, except that Figures are numbered with Arabic numerals. Figure headings are also placed below the Figure. Example: Figure 1.

#### **10. References**

References should be in a separate alphabetical list; they should not be incorporated in the notes. Use the APA form of reference.

#### **11. Biographical statement**

The biosketch in Padchinha appears immediately after the references. It should be brief and include year of birth, highest academic degree, year achieved, where obtained, position and current institutional affiliation. In addition authors may indicate their present main research interest or recent (co-)authored or edited books as well as other institutional affiliations which have occupied a major portion of their professional lives. But we are not asking for a complete CV.

#### **12. Proofs and reprints**

Author's proofs will be e-mailed directly from the publishers, in pdf format. If the article is co-authored, the proofs will normally be sent to the author who submitted the manuscripts. (Corresponding author). If the e-mail address of the corresponding author is likely to change within the next 6–9 months, it is in the author's own interest (as well as ours) to inform us: editor's queries, proofs and pdf reprints will be sent to this e-mail address. All authors (corresponding authors and their co-authors) will receive one PDF copy of their article by email.

#### **13. Copyright**

The responsibility for not violating copyright in the quotations of a published article rests with the author(s). It is not necessary to obtain permission for a brief quote from an academic article or book. However, with a long quote or a Figure or a Table, written permission must be obtained. The author must consult the original source to find out whether the copyright is held by the author, the journal or the publisher, and contact the appropriate person or institution. In the event that reprinting requires a fee, we must have written confirmation that the author is prepared to cover the expense. With literary quotations, conditions are much stricter. Even a single verse from a poem may require permission.



[DOWNLOAD LOGO](#)

# International Impact Factor Services

[Home](#) [Evaluation Methodology](#) [Journals List](#) [Journal Submission](#) [Journal Search](#) [Contact Us](#)

## Padchinha

ISSN	2231-1351
Country	India
Impact Factor	8.0
Publication Year	2011
Indexed	✓
Website	<a href="https://www.muditeducation.com/Padchinha">https://www.muditeducation.com/Padchinha</a>

---

[Home](#) [Evaluation Methodology](#) [Journals List](#) [Journal Submission](#) [Journal Search](#) [Contact Us](#)

---



# IIFS IMPACT FACTOR

## CERTIFICATE OF ACKNOWLEDGEMENT

This is certified that our evaluator evaluated the Journal "Padchinha" E/P-ISSN 2231-1351 and the journal got the Impact Factor 8.0 and the process adopted for the evaluation of the journal is blind.

This Impact Factor/Evaluation is Valid up to 16/7/2026 .

A handwritten signature in blue ink, appearing to read "Rajendra".

Team IIFS  
INDIA

Visit Us: <http://impactfactorservice.com/>

